श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य
बाल गंगाधर तिलक

गीता
बाल

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

अथवा

कर्मयोगशास्त्र.

लेखक

बाळ गंगाधर टिळक

The Hindu Philosophy of Life, Ethics and Religion

ॐ तत्सत् ।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य
अथवा
कर्मयोगशास्त्र

गीता की बहिरंगपरीक्षा, मूल संस्कृत श्लोक, भाषा-अनुवाद, अर्थनिर्णायक टिप्पणी, पूर्वी और पश्चिमी मतों की तुलना, इत्यादि सहित।

लेखक

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

अनुवादक

श्रीमान् माधवरावजी सप्रे

दशम मुद्रण

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

— गीता ३. १९

शक १८७७ : सन १९५५

मूल्य १२ रुपये

अथ समर्पणम् ।

श्रीगीतार्थः क्व गंभीरः व्याख्यातः कविभिः पुरा ।
आचार्यैर्यश्च बहुधा क्व मेऽल्पविषया मतिः ॥

तथापि चापलादस्मि वक्तुं तं पुनरुद्यतः ।
शास्त्रार्थान् सम्मुखीकृत्य प्रत्नान् नव्यैः सहोचितैः ॥

तमार्याः श्रोतुमर्हन्ति कार्याकार्य-दिदृक्षवः ।
एवं विज्ञाप्य सुजनान् कालिदासाक्षरैः प्रियैः ॥

बालो गांगाधरिश्चाऽहं तिलकान्वयजो द्विजः ।
महाराष्ट्रे पुण्यपुरे वसन् शांडिल्यगोत्रभृत् ॥

शाके मुन्यग्निवसुभू – सम्मिते शालिवाहने ।
अनुसृत्य सतां मार्गं स्मरंश्चापि वचा* हरः ॥

समर्पये ग्रन्थमिमं श्रीशाय जनतात्मने ।
अनेन प्रीयतां देवो भगवान् पुरुषः परः ॥

---

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

गीता ९. २७

गीतारहस्य की भिन्न भिन्न आवृत्तियाँ

मराठी –	१ ली	आवृत्ति	जून १९१५
	२ री	,,	सप्टेंबर १९१५
	३ री	,,	१९१८
	४ थी	,,	१९२३
	५ वी	,, (दो भागों में पहली आवृत्ति)	१९२४–१९२६
	६ वी	,,	१९५०
गुजराती –	१ ली	आवृत्ति	१९१७
	२ री	,,	१९२४
हिन्दी –	१ ली	आवृत्ति	१९१७
	२ री	,,	१९१८
	३ री	,,	१९१९
	४ थी	,,	१९२४
	५ वी	,,	१९२५
	(दो भागों में पहिली आवृत्ति)		१९२६
	६ वी	,,	१९२८
	७ वी	,,	१९३३
	८ वी	,,	१९४८
	९ वी	,,	१९५०
	१० वी	,,	१९५५
कानडी –	१ ली	आवृत्ति	१९१९
तेलुगू –	१ ली	,,	१९१९
बंगला –	१ ली	,,	१९२४
तमील –	१ लीं	,, (दो भाग, अपूर्ण)	१९२४
अंग्रेजी –	१ ली	,, (दो भागों में)	१९३६

लो. तिलकजी के अन्य अंग्रेजी ग्रंथ

(१) The Orion वेदकाल का निर्णय, प्रथम संस्करण सन १८९३

द्वितीय ,, सन १९१६

तृतीय ,, सन १९२५

चतुर्थ ,, सन १९५५

(२) The Arctic Home in the Vedas

आर्यों का मूल निवासस्थान, प्रथम संस्करण सन १९०३

द्वितीय ,, सन १९२५

(३) Vedic Chronology & Vedanga Jyotish

वेदों का कालनिर्णय और वेदाङ्ग ज्योतिष, प्रथम संस्करण, सन १९२५.

भारतीय आध्यात्मिकता का सुमधुर फल

" प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि श्रीमद्भगवद्गीता वर्तमान युग में भी उतनी ही नावीन्यपूर्ण एवं स्फूर्तिदात्री है, जितनी की महाभारत में समाविष्ट होते समय थी। गीता के सन्देश का प्रभाव केवल दार्शनिक अथवा विद्वच्चर्चा का विषय नहीं हैं, अपितु आचार-विचारों के क्षेत्र में भी विद्यमान् होकर मार्ग बतलानेवाला है। एक राष्ट्र तथा संस्कृति का पुनरुज्जीवन गीता का उपदेश करता आया है। संसार के अत्युच्च शास्त्रविषयक ग्रन्थों में उसका अविरोध से समावेश हुआ है। गीताग्रन्थ पर स्वर्गीय लोकमान्य तिलकजी की व्याख्या निरी मल्लीनाथी व्याख्या नहीं है। वह एक स्वतन्त्र प्रबन्ध है। उसमें नैतिक सत्य का उचित निदर्शन भी है। अपनी सूक्ष्म और व्यापक विचारप्रणाली तथा प्रभावोत्पादक लेखनशैली के कारण मराठी भाषा का पहली श्रेणी का यह पहला प्रचण्ड गद्यग्रन्थ अभिजात वाङ्मय में समाविष्ट हुआ है। इस एक ही ग्रन्थ से यह स्पष्ट होता है, कि यदि तिलकजी सोचते, तो मराठी साहित्य और नीतिशास्त्र के इतिहास में एक अनोखा स्थान पा सकते। किन्तु विधाता ने उनकी महत्ता के लिये वाङ्मयक्षेत्र नहीं रखा था! इसलिये केवल मनोरंजनार्थ उन्होंने अनुसंधान का महान् कार्य किया। यह अर्थपूर्ण घटना है, कि उनकी कीर्ति अजरामर करनेवाले उनके अनुसंधान-ग्रन्थ उनके जीवितकार्यों से विवशतापूर्वक लिये हुए विश्रान्तिकाल में निर्मित हुए हैं। स्वर्गीय तिलकजी की प्रतिभा के ये गौण आविष्कार भी इस हेतु से सम्बद्ध हैं, कि इस राष्ट्र का महान् भवितव्य उसके उज्ज्वल गतेतिहास के योग्य हो। गीतारहस्य का विषय जो गीताग्रन्थ है, वह भारतीय आध्यात्मिकता का परिपक्व सुमधुर फल है। मानवी श्रम, जीवन और कर्म की महिमा का उपदेश अपनी अधिकारवाणी से देकर सच्चे अध्यात्म का सनातन सन्देश गीता दे रही है, जो कि आधुनिक काल के ध्येयवाद के लिये आवश्यक है। "

बाबू अरविन्द घोष

— बाबू अरविन्द घोष

दिव्य 'टीका'-मौक्तिक

" बाल्यावस्था में ही मुझे ऐसे शास्त्रीय ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जो कि जीवितावस्था के मोह तथा कसौटी के समय उचित मार्गदर्शक हो। मैंने कहीं पढ़ा था, कि केवल सात सौ श्लोकों में गीता ने सारे शास्त्रों का और उपनिषदों का सार – गागर में सागर – भर दिया है। मेरे मन का निश्चय हुआ। गीता-पठन सुविधाजनक होने की दृष्टि रखकर मैंने संस्कृत का अध्ययन किया। वर्तमान अवस्था में तो गीता मेरा बाइबल या कुराण ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष माता ही हुई है। अपनी लौकिक माता से तो कई दिनों से मैं बिछुड़ा हूँ! किन्तु तभीसे गीतामैया ने ही मेरे जीवन में उसका स्थान ग्रहण कर लिया है और उसकी त्रुटी नहीं के बराबर कर दी। आपत्काल में वही मेरा सहारा है।

महात्मा गान्धी

स्वर्गीय लोकमान्य तिलकजी अपने अभ्यास एवं विद्वत्ता के ज्ञानसागर से 'गीता-प्रसाद' के बलपर ही यह दिव्य टीका-मौक्तिक पा चुके। बुद्धि से आविष्कार करने के व्यापक सत्य का भण्डार ही उन्हें गीता में प्राप्त हुआ।

गीता पर तिलकजी की टीका ही उनका शाश्वत स्मारक है। स्वराज्य के युद्ध में विजयश्री प्राप्त होनेपर भी वह सदा के लिये बना रहेगा। तिलक जी का विशुद्ध चारित्र्य और गीता पर उनकी महान् टीका दोनों बातों से उनकी स्मृति चिरप्रेरक होगी। उनके जीवनकाल में अथवा साम्प्रत भी ऐसा कोई व्यक्ति मिलना असम्भव है, जिसका उनसे अधिक व्यापक और गहरा शास्त्रज्ञान हो। उनकी गीता पर जो अधिकारयुक्त टीका है, उससे अधिक मौलिक ग्रन्थ की निर्मिति न अभीतक हुई है और न निकट के भविष्यकाल में होने की संभावना है। गीता और वेद से निर्मित समस्याओंका तिलकजी ने जो सुचारु रूप से संशोधन किया है, उससे अधिक अभीतक और किसीने नहीं किया है। अथाह विद्वत्ता, असीम स्वार्थत्याग और आजन्म देशसेवा के कारण जनताजनार्दन के हृन्मन्दिर में तिलकजी ने अद्वितीय स्थान पा लिया है।"

– महात्मा गान्धी

(बनारस-कानपूर के अभिभाषण)

प्रकाशक का निवेदन

मेरे पितामह स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महोदय प्रणीत श्रीमत् भगवद्गीता अथवा कर्मयोगशास्त्र ग्रंथ का दशम मुद्रण प्रकाशित करने का सु-अववर आज प्राप्त हुआ है। इसके तीन संस्करण लोकमान्यजी के जीवनकाल में प्रसिद्ध हो चुके थे। चतुर्थ संस्करण में इस ग्रंथ का थोड़े में इतिहास दिया था। यहाँ भी उसको रखना मैं उचित मानता हूँ।

गीतारहस्य ग्रन्थ लो. तिलक महोदय ने बर्मा के मण्डाले नगर में कारागृहवास के समय में लिखा था यह प्रस्ताव सर्वत्र सुविदित है। इस ग्रंथ के मसविदे का आरम्भ मण्डाले में ता. २ नवम्बर सन १९१० में करके लगभग ९०० घृष्ठों का यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ता. ३० मार्च १९११ के रोज़ (अर्थात् केवल पाँच महीनों में) उन्हों ने अपने हाथ से अलग कर दिया, ऐसा हमारे पास की इस ग्रन्थ की मूल पेन्सिल से लिखी हुई हस्तलिखित चार प्रतियों से ज्ञात होता है। सोमवार, ता. ८ जून १९१४ इस रोज़ लोकमान्य महोदय की मण्डाले के कारागृह से मुक्तता हुई। वहाँ से पुणें को लौट आने पर कई सप्तकों तक राह देखके भी, मण्डाले के कारागृह के अधिकारी के स्वाधीन की हुई गीतारहस्य की हस्तलिखित पुस्तक जल्दी वापिस करने का सरकार का इरादा दीख नहीं पड़ा। जैसे जैसे अधिक दिन व्यतीत हो जाने लगे, वैसे वैसे सरकार के हेतुओं के लिये लोक अधिकाधिक साशंक होते चले। कोई कोई तो आखिर स्पष्ट कहने लगे, कि " सरकार का विचार कुछ ठीक नहीं मालूम होता। पुस्तकें वापिस नहीं करने का ढँग ही ज्ञात होता है। " ऐसे शब्द जब किसी के मुँह से निकल कर लोकमान्यजी के कानों पर आते थे, तब वे कहा करते थे, कि – ' डरने का कुछ कारण नहीं। ग्रन्थ यदि सरकार के स्वाधीन है, तो भी उसका मज़मून मेरे मस्तिष्क में है। निवृत्ति के समय में शांतता से सिंहगढ़ के किले पर मेरे बंगले में बैठ कर ग्रन्थ फिर से मैं यथास्थित लिख डालूँगा '। – यह आत्मविश्वास की तेजस्वी भाषा उतरती उम्रवाले – अर्थात् ६० वर्ष के – वयोवृद्ध गृहस्थ की है, और यह ग्रन्थ मामूली नहीं; बल्कि गहन तत्त्वज्ञान के विषय से भरा हुआ ९०० पृष्ठों का है। इन सब बातों को ध्यान में लेने से लोकमान्य महोदय के प्रवृत्तिपर प्रयत्नवाद की यथार्थ कल्पना त्वरित हो जाती है। सुभाग्य से तदनन्तर जल्दी से सरकार की ओर से सभी पुस्तकें सुरक्षित वापिस हुई; और लोकमान्य के जीवनकालमें ग्रन्थ की तीन हिन्दी आवृत्तियाँ प्रकाशित हुई।

गीतारहस्य का मूल मसविदा चार पुस्तकों में था, यह उल्लेख ऊपर किया गया है। उन पुस्तकों के सम्बन्ध में विशेष परिचय इस प्रकार है :–

पुस्तक	विषय	पृष्ठ	लिखने का काल
१	रहस्य. प्र. १ से ८.	१ से ४१३.	२ नवंबर १९१० से ८ दिसंबर १९१०
२	रहस्य. प्र. ९ से १३.	१ से ४०२.	१३ दिसंबर १९१० से १५ जनवरी १९११
३	रहस्य. प्र. १४ से १५.	१ से १४७.	१५ जनवरी १९११ से ३० जनवरी १९११
	बहिरंगपरीक्षण,	१५१–२४४ और ४०१–४१२.	
	मुखपृष्ठ, समर्पण और श्लोकों का अनुवाद	२४५–२४७.	
	अध्याय १–३.	२४९–३९९.	
४	श्लोकों का अनुवाद अध्याय ४ से १८.	१–३४०, ३४४–३७४, ३८५–४०७.	१० मार्च १९११ से ३० मार्च १९११
	प्रस्तावना.	३४१–३४३, ३७५–३८४.	

पुस्तक की अनुक्रमणिका, समर्पण और प्रस्तावना भी लोकमान्य महोदय ने कारागृह में लिखी थीं; और जगह जगह पर कौन कौन-सी बातें रखनी थीं, उनकी सूचना भी लिख कर ग्रन्थ परिपूर्ण कर रखा था। उसपर से, उनको कारागृह से अपने जीते जी मुक्तता होगी या नहीं, इस बात का भरोसा नहीं था; और मुक्तता न होने के कारण अपना परिश्रमपूर्वक संपादन किया हुआ ज्ञान और उस से सूचित विचार व्यर्थ न जायँ; बल्कि उनका लाभ अगली पीढ़ी को मिले यह उनकी अत्युत्कट इच्छा थी, यों ज्ञात होता है। पुस्तक की अनुक्रमणिका पहले दोनों पुस्तकों के आरम्भ में उन पुस्तकों के विषय की ही है; पुस्तक का मुखपृष्ठ और समर्पण तीसरे पुस्तक में २४५ से २४७ पृष्ठों में हैं और प्रस्तावना चौथे पुस्तक में ३४१ से ३४३ और ३७५ से ३८४ पृष्ठों में है। कारागृह से मुक्तता होने पर प्रस्तावना में कुछ सुधार किया गया है; और वह जिन्हों ने प्रकाशनकाल में सहायता दी थी उन व्यक्तिनिर्देशविषयक है। इस विषय प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना के अन्तिम पैरिग्राफ़ के आगे के पैरिग्राफ़ में लिखा है। अंतिम पैरिग्राफ़ तो कारागृह में ही लिखा हुआ था।

उनमें से पहली पुस्तक में पहले आठ प्रकरणों को 'पूर्वार्ध' संज्ञा दी गई है (वह पुस्तक के पृष्ठ के चित्र से ज्ञात होगा), दूसरी पुस्तक को उत्तरार्ध भाग पहला और तीसरी को उत्तरार्ध भाग दूसरा इस प्रकार संज्ञाएँ दी गई हैं। उस पर से ग्रंथ के प्रथम दो भाग करने का उनका विचार था, यों ज्ञात होता है।

उनमें से पहली पुस्तक के आठ प्रकरणों का मसविदा केवल एक महीने में ही लिखकर तैयार हुआ था; और ये ही प्रकरण अत्यन्त महत्त्व के हैं। उस पर से लोकमान्य महोदय इस विषय से कितने ओतप्रोत तैयार थे, इसका और उनके अस्खलित प्रवाह का यथार्थ ज्ञान पाठकों को सहज ही होगा। पुस्तकों से पृष्ठ फाड़ देने की अथवा नये जोड़ने की कारागृह के नियमानुसार उनको आज्ञा न थी; किन्तु विचार से सूचित होनेवाली बातों को नये पृष्ठों के भीतर जोड़ने की सुविधा उनको मिली थी। यह खबर दूसरे और तीसरे मुखपृष्ठ में अन्दर के बाजू में दी हुई बातों से ज्ञात होती है। पहली तीन पुस्तकें एक एक महीने की अवधि में लिखी हैं। अन्तिम पुस्तक सिर्फ़ एक पक्ष में लिखी है। मुख्य बाबत दाहिने हाथ के तरफ़ के पृष्ठों पर लिखके उन पृष्ठों के पीछे की कोरी बाजू पर अगले पृष्ठ पर की अधिक बढ़नेवाली बाबत जोड़ी है। आशा है, कि मूल हस्त-लिखित प्रति-सम्बन्धी जिज्ञासा इस विवेचन से पूर्ण होगी।

इस ग्रन्थ का जन्म होने के पहले प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में उनका व्यासंग जारी था, इसका उत्तम प्रमाण उनके और दो ग्रन्थों में है। 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं' (गीता १०–३५ गीतारहस्य पृष्ठ ८०४) इस श्लोक का अर्थ (भावार्थ) निश्चित करते समय उन्होंने वेद के महोदधि में डूबके 'ओरायन'-रूपी मुक्ता जनता के स्वाधीन की हैं; और वेदोदधि का पर्यटन करते करते ही आर्यों के मूल वसतिस्थान का पता लगाया है। कालानुक्रम से गीतारहस्य अन्तिम ठहरा; तो भी महत्त्वदृष्टि से उसको ही – ऊपर के दो पुस्तकों का पूर्ववृत्तान्त ध्यान में रखने से – आद्यस्थान देना पड़ता है। गीता के संबंध के व्यासंग से ही ये दो पुस्तकों निर्माण हुई हैं। 'ओरायन' पुस्तक की प्रस्तावना में लोकमान्य महाशय ने गीता के अभ्यास का उल्लेख किया है।

'ओरायन' और 'आर्यों का मूल वसतिस्थान' ये दोनों ग्रंथ यथावकाश प्रसिद्ध हुए और जगत् भर में विख्यात हो चुके। परन्तु गीतारहस्य लिखने का मुहूर्त लोकमान्य के तीसरे दीर्घ कारावास से प्राप्त हुआ। ऊपर लिखे हुए दोनों ग्रंथों का लेखन भी कारागृह में ही हुआ है। सार्वजनिक प्रवृत्तियों की उपाधि से मुक्त हो कर ग्रंथलेखन के लिये आवश्यक स्वस्थता कारागृह में मिल सकी। परन्तु प्रत्यक्ष ग्रंथलेखन का आरम्भ करने के पूर्व में उनको बड़ी भारी मुसीबतों से झगड़ना पड़ा। उन्हें उनके ही शब्दों में इस जगह कहना उचित है। – "ग्रंथ के सम्बन्ध में तीन वक्त तीन हुक्म आये ... सब पुस्तकें मेरे पास रखने का कुछ दिन बन्द होकर सिर्फ़ चार पुस्तकें एक ही समय रखने का हुक्म हुआ। उस पर बर्मा सरकार को अर्ज करने पर ग्रंथलेखन के लिये सब पुस्तकें मेरे पास रखने की परवानगी हुई। पुस्तकों की संख्या जब मैं वहाँ से लौटा, तब ३५० से

४०० तक हुई थी। ग्रंथलेखन के लिये जो काग़ज़ देने में आते थे, वे छूटे न दे कर, ज़िल्दबंद किताब बाँध के भीतर के सफ़े गिनके और ऊनपर दोनों ओर नम्बर लिख कर देने में आते थे; और लिखने को स्याही न देके सिर्फ़ पेन्सिलें छील देने में आती थीं।" (लोकमान्य तिलक महाशय के छूटने के बाद की पहली मुलाक़ात – 'केसरी', ता. ३० जून १९१४)

अपनी कल्पनाशक्ति को थोड़ा ही और तान देने से वाचकवृन्द तिलक महोदय को ग्रन्थलेखन में कैसी मुसीबतों का सामना करना पड़ा होगा, यह बराबर समझ लेंगे। तिस पर भी उनकी पर्वाह न करके सन १९१० के जाड़े में उन्हों ने हस्तलिखित नक़ल लिखकर तैयार कर दी। पुस्तक का कच्चा मसविदा तैयार होने की खबर उन्हों ने १९११ साल के आरम्भ में एक पत्र में देने पर वह पत्र सन १९११ के मार्च महीने में 'मराठा' पत्र की एक संख्या में सम प्रसिद्ध हुआ। गीतारहस्य में दिया हुआ विवेचन लोगों को अधिक सुगम हो, इस कारण से तिलक महोदय ने सन १९१४ के गणेशोत्सव में चार व्याख्यान दिये थे; और बाद में ग्रन्थ छापने के काम आरम्भ होने पर १९१५ के जून महीने में उसका पूर्णावतार हुआ। इसके आगे का पूर्ण इतिहास सर्वत्र सुविदित है।

नवम संस्करण समाप्त हुए कई दिन बीते, तथा गत कई दिनों से लगातार पाठकों से माँग भी होती रही। अब अगले वर्ष याने १९५६ में लोकमान्य तिलकजी की जन्मशताब्दि देशभर में बड़ी धूमधाम से मनाई जानेवाली है। उस अवसर पर, इस ग्रन्थ की ही नहीं अपितु लोकमान्यजी के समूचे ग्रन्थों की माँग बढती ही रहेगी। उसी उद्देश्य से लोकमान्यजी का समूचा साहित्य विपुल संख्या में प्रकाशित कर पाठकों के सम्मुख रखने के हेतु अब हम इस ग्रन्थ का दशम संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

केसरी-मराठा संस्था के विश्वस्तने यह ग्रंथ केसरी कार्यालय में छाप दिया तथा छपाओी की समुची जिम्मेदारी उठाकर केसरी के प्रबंधक श्री. **व. का. साठेजीने** उसे तुरन्त पूरा कर दिया इसलिये आपको धन्यवाद प्रदान करना हम अपना कर्तव्य मानते हैं। साथ २ श्रीमान् **रा. चिं. ढेरेजीने** इस ग्रन्थ को जाँच कर हमें उपकृत किया है। तथा सह्याद्रि के कंपोज विभाग के प्रमुख श्री. **भास्कररावजी कुलकर्णीजीने** कंपोज का काम त्वरित पूर्ण करने में जो कष्ट उठाए इसके लिये हम आपके भी आभारी हैं।

हम मानते हैं, कि इस दशम आवृत्ति को देखकर पाठक अवश्य ही सन्तोष पाएँगे। जहाँतक हो सके, इस दशम आवृत्ति को अद्ययावत्, टिकाऊ एवं सुशोभित करने के लिये भारी परिश्रम उठाये गये हैं। इसकी विशेषता यह है, कि इसकी जिल्द पूर्णतया कपड़े की है; और ग्रन्थ में सफ़ेद कागज़ का उपयोग किया है।

कालानुसार आधुनिकता लाने की दृष्टि से ग्रन्थ के ऊपर वेष्टन चढ़ाने की कल्पना निकल पड़ी। ऐसी चाह थी, कि वेष्टनपर स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महोदय का – तथा उनकी कल्पना के अनुसार कुरुक्षेत्र की रणभूमि का – चित्र खिंचवा दिया जाय। मेरे चित्रकार-मित्र श्रीमान् दलालजी ने मूल कल्पना की अपेक्षा भी वे दोनों चित्र इतनी सफलतापूर्वक चित्रित किये, कि उनकी अलग प्रशंसा करने की कोई आवश्यकता नहीं रही। चित्रकार से मोहक एवं अत्युत्तम चित्र खिंचवाये जानेपर भी छपाई का कार्य उतनी ही लगन से करना पड़ता है। बॉम्बे आर्ट ऑफ़सेट एण्ड लिथो वर्क्स ने वेष्टन-छपाई का वह कार्य अत्यन्त अल्पावधि में सुचारु रूपसे पूर्ण कर दिया।

इस प्रकार इस ग्रन्थ की सजावट में अनेकों ने परिश्रम उठाये हैं। स्वतन्त्र भारत के भाग्यशाली पाठकों के हाथ में आज यह ग्रन्थ हम दे रहे हैं। आशा है, कि पाठक इसका सहर्ष और सानन्द स्वीकार करेंगे।

पूना,
गणेशचतुर्थी, शक १८७७
दि. १९ सतंबर १९५५

– ज. श्री. तिलक

अनुवादक की भूमिका

भूमिका लिख कर महात्मा तिलक के ग्रन्थ का परिचय कराना मानों सूर्य को दीपक से दिखलाने का प्रयत्न करना है। यह ग्रन्थ स्वयं प्रकाशमान् होने के कारण अपना परिचय आप ही दे देता है। परन्तु भूमिका लिखने की प्रणाली-सी पड़ गई है। ग्रन्थ को पाते ही पत्र उलट-पलट कर पाठक भूमिका खोजने लगते हैं। इसलिये उक्त प्रणाली की रक्षा करने और पाठकों की मनस्तुष्टि करने के लिये इस शीर्षक के नीचे दो शब्द लिखना आवश्यक हो गया है।

सन्तोष की बात है, कि श्रीसमर्थ रामदासस्वामी की अशेष कृपा से तथा सद्गुरु श्रीरामदासानुदास महाराज (हनुमानगढ़, वर्धा निवासी श्रीधर विष्णु परांजपे) के प्रत्यक्ष अनुग्रह से जब से मेरे हृदय में अध्यात्म विषय की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, तभी से इस विषय के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण अवसर मिलते जाते हैं। यह उसी कृपा और अनुग्रह का फल था, कि मैं संवत् १९७० में श्रीसमर्थ के दासबोध का हिन्दी अनुवाद कर सका। अब उसी कृपा और अनुग्रह के प्रभाव से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलककृत **श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य** के अनुवाद करने का अनुपम अवसर हाथ लग गया है।

जब मुझे यह काम सौंपा गया, तब ग्रन्थकार ने अपनी यह इच्छा प्रकट की, कि मूलग्रन्थ में प्रतिपादित सब भाव ज्यों-के-त्यों हिन्दी में पूर्णतया व्यक्त किये जायँ। क्योंकि ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर जो आक्षेप होंगे, उनके उत्तरदाता मूल लेखक ही हैं। इसलिये मैंने अपने लिये दो कर्तव्य निश्चित किये। (१) यथामति मूलभावों की पूरी पूरी रक्षा की जावे; और (२) अनुवाद की भाषा यथाशक्ति शुद्ध, सरल, सरस और सुबोध हो। अपनी अल्पबुद्धि और सामर्थ्य के अनुसार इन दोनों कर्तव्यों के पालन करने में मैंने कोई बात उठा नहीं रखी है। और मेरा आन्तरिक विश्वास है, कि मूलग्रंथ के भाव यत्किञ्चित् भी अन्यथा नहीं हो पाये हैं। परन्तु सम्भव है, कि विषय की कठिनता और भावों की गम्भीरता के कारण मेरी भाषाशैली कहीं कहीं क्लिष्ट अथवा दुर्बोध सी हो गई हो। और यह सम्भव है, कि ढूँढ़नेवालों को इसमें 'मराठीपन की बू' भी मिल जाय। परन्तु इसके लिये किया क्या जाय? लाचारी है। मूलग्रन्थ मराठी में है। मैं स्वयं महाराष्ट्र का हूँ। मराठी ही मेरी मातृभाषा है। महाराष्ट्र देश के केन्द्रस्थल पुणें में ही यह अनुवाद छापा गया है! और मैं हिन्दी का कोई 'धुरंधर' लेखक भी नहीं हूँ। ऐसी अवस्था में यदि इस ग्रन्थ में उक्त दोष न मिले, तो बहुत आश्चर्य होगा।

यद्यपि मराठी 'रहस्य' को हिन्दी पोशाक पहना कर सर्वांगसुंदर रूप से

हिन्दी पाठकों के उत्सुक हृदयों में प्रवेश कराने का यत्न किया गया है; और ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय को समझाने के लिये उन सब साधनों की सहायता ली गई है, कि जो हिन्दी साहित्य-संसार में प्रचलित हैं; फिर भी स्मरण रहे, कि यह केवल अनुवाद ही है – इसमें वह तेज नहीं आ सकता, कि जो मूलग्रंथ में है। गीता के संस्कृत श्लोकों के मराठी अनुवाद के विषय में स्वयं महात्मा तिलक ने उपोद्घात (पृष्ठ ६२६) में यह लिखा है :– " स्मरण रहे, कि अनुवाद आखिर अनुवाद ही है। हमने अनुवाद में गीता के सरल, खुले और प्रधान अर्थ को ले आने का प्रयत्न किया है सही; परन्तु संस्कृत शब्दों में और विशेषतः भगवान् की प्रेमयुक्त, रसीली, व्यापक और क्षण क्षण में नई रुचि उत्पन्न करनेवाली वाणी में लक्षणा से अनेक व्यंग्यार्थ उत्पन्न करने का जो सामर्थ्य है, उसे जरा भी न घटाबढ़ा कर दूसरे शब्दों में ज्यों-का-त्यों झलका देना असम्भव है ... । " ठीक यही बात महात्मा तिलक के ग्रंथ के इस हिन्दी अनुवाद के विषय में कही जा सकती है।

एक तो विषय तात्त्विक, दूसरे गम्भीर और फिर महात्मा तिलक की वह ओजस्विनी, व्यापक एवं बिकट भाषा, कि जिसके मर्म को ठीक ठीक समझ लेना कोई साधारण बात नहीं है। इन दुहरी-तिहरी कठिनाइयों के कारण यदि वाक्य-रचना कहीं कठिन हो गई हो, दुरूह हो गई हो या अशुद्ध भी हो, तो उसके लिये सहृदय पाठक मुझे क्षमा करें। ग्रंथ के अनुवाद में किन किन कठिनाइयों से सामना करना पड़ता है और अपनी स्वतन्त्रता का त्याग कर पराधीनता के किन किन नियमों से बन्ध जाना होता है, इसका अनुभव वे सहानुभूतिशील पाठक और लेखक ही कर सकते हैं, कि जिन्होंने इस ओर कभी ध्यान दिया है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी को इस बात का अभिमान है, कि वह महात्मा तिलक के गीतारहस्यसम्बन्धी विचारों को अनुवादरूप में उस समय पाठकों को भेट कर सकी है, जब कि और किसी भी भाषा का अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ, – यद्यपि दो एक अनुवाद तैयार थे। इससे आशा है, कि हिन्दीप्रेमी अवश्य प्रसन्न होंगे।

अनुवाद का श्रीगणेशा जुलाई सन १९१५ में हुआ था और दिसंबर में उसकी पूर्ति हुई। जनवरी १९१६ से छपाई का आरम्भ हुआ, जो जून सन १९१६ में समाप्त हो गया। इस प्रकार एक वर्ष में यह ग्रन्थ तैयार हो पाया। यदि मित्रमंडली ने मेरी पूर्ण सहायता न की होती, तो मैं इतने समय में इस काम को कभी पूरा न कर सकता। इनमें वैद्य विश्वनाथराव लुखे और श्रीयुत मौलिप्रसादजी का नाम उल्लेख करने योग्य है। कविवर बा. मैथिलीशरण गुप्त ने कुछ मराठी पद्यों का हिन्दी रूपान्तर करने में अच्छी सहायता दी है। इसलिये ये धन्यवाद के भागी हैं। श्रीयुत पं. लल्लीप्रसाद पाण्डेय ने जो सहायता की है, वह

अवर्णनीय एवं अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है। लेख लिखने में, हस्तलिखित प्रति को दुहराने में और प्रूफ का संशोधन करने में आपने दिनरात कठिन परिश्रम किया है। अधिक क्या कहा जाय! घर छोड़ कर महीनों तक आपको इस काम के लिये पूने में रहना पड़ा है। इस सहायता और उपकार का बदला केवल धन्यवाद दे देने से ही नहीं हो जाता। हृदय जानता है, कि मैं आपका कैसा ऋणी हूँ! हि० चि० ज० के संपादक श्रीयुत भास्कर रामचंद्र भालेराव ने तथा और भी अनेक मित्रों ने समय समय पर यथाशक्ति सहायता की है। अतः इन सब महाशयों को मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ।

एक वर्ष से अधिक समय तक इस ग्रन्थ के साथ मेरा अहोरात्र सहवास रहा है। सोते-जागते इसी ग्रन्थ के विचारों की मधुर कल्पनाएँ नज़रों में झूलती रही हैं। इन विचारों से मुझे मानसिक तथा आत्मिक अपार लाभ हुआ है। अतः जगदीश्वर से यही विनय है, कि इस ग्रन्थ के पढ़नेवालों को इससे लाभान्वित होने का मंगलमय आशीर्वाद दीजिये।

श्रीरामदासी मठ, रायपुर (सी. पी.)
देवशयनी ११, मंगलवार, संवत् १९७३ वि०

—माधवराव सप्रे

जन्म : २३ जुलाई १८५६ मृत्यु : १ अगस्त १९२०

बाळ गंगाधर टिळक

प्रस्तावना

संतों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।
जानूँ उसका भेद भला क्या, मैं अज्ञानी॥ *

श्रीमद्भगवद्गीता पर अनेक संस्कृत भाष्य, टीकाएँ तथा देशी भाषाओं में सर्वमान्य निरूपण हैं। ऐसी अवस्था में यह ग्रन्थ क्यों प्रकाशित किया गया? यद्यपि इसका कारण ग्रन्थ के आरम्भ में ही बतलाया दिया गया है, तथापि कुछ बातें ऐसी रह गई हैं, कि जिनका ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के विवेचन में उल्लेख न हो सकता था। उन बातों को प्रकट करने के लिये प्रस्तावना को छोड़ और दूसरा स्थान नहीं है। इनमें सब से पहली बात स्वयं ग्रन्थकार के विषय में है। कोई तेतालीस वर्ष हुए, जब हमारा भगवद्गीता से प्रथम परिचय हुआ था। सन १८७२ ईसवी में हमारे पूज्य पिताजी अन्तिम रोग से आक्रान्त हो शय्या पर पड़े हुए थे। उस समय उन्हें भगवद्गीता की 'भाषाविवृति' नामक मराठी ठीका सुनाने का काम हमें मिला था। तब, अर्थात् अपनी आयु के सोलहवें वर्ष में गीता का भावार्थ पूर्णतया समझ में न आ सकता था। फिर भी छोटी अवस्था में मन पर जो संस्कार होते हैं, वे दृढ हो जाते हैं। इस कारण उस समय भगवद्गीता के सम्बन्ध में जो चाह उत्पन्न हो गई थी, वह स्थिर बनी रही। जब संस्कृत और अंग्रेजी का अभ्यास अधिक हो गया, तब हमने गीता के संस्कृत भाष्य, अन्यान्य टीकाएँ और मराठी तथा अंग्रेजी में लिखे हुए अनेक पण्डितों के विवेचन समय समय पर पढ़े। परन्तु, अब मन में एक शङ्का उत्पन्न हुई; और वह दिनोंदिन बढ़ती ही गई। वह शङ्का यह है, कि जो गीता उस अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये बतलाई गई है, कि जो अपने स्वजनों के साथ युद्ध करने को बड़ा भारी कुकर्म समझ कर खिन्न हो गया था, उस गीता में ब्रह्मज्ञान से या भक्ति से मोक्षप्राप्ति की विधि का – निरे मोक्षमार्ग का – विवेचन क्यों किया गया है? यह शङ्का इसलिये और भी दृढ होती गई, कि किसी भी टीका में इस विषय का योग्य उत्तर ढूँढ़े न मिला। कौन जानता है, कि हमारे ही समान और लोगों को भी यही शंका हुई न होगी! परन्तु टीकाओं पर ही निर्भर रहने से टीकाकारों का दिया हुआ उत्तर समाधानकारक न भी जँचे, तो भी उसको छोड़ और दूसरा उत्तर सूझता ही नहीं है। इसीलिये हमने गीता की समस्त टीकाओं और भाष्यों को लपेट कर धर दिया; और केवल गीता के ही विचारपूर्वक अनेक पारायण किये। ऐसा करने पर टीकाकारों के

---

* साधु तुकाराम के एक 'अभङ्ग' का भाव।

चंगुल से छूटे; और यह बोध हुआ, कि गीता निवृत्तिप्रधान नहीं हैं; वह तो कर्म-प्रधान है। और अधिक क्या कहें! गीता में अकेला 'योग' शब्द ही 'कर्मयोग' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत, वेदान्तसूत्र, उपनिषद् और वेदान्तशास्त्र-विषयक अन्यान्य संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थों के अध्ययन से भी यही मत दृढ होता गया; और चार-पाँच स्थान में इसी विषयों पर व्याख्यान इस इच्छा से दिये, कि सर्वसाधारण में इस विषय को छेड़ देने से अधिक चर्चा होगी; एवं सत्य तत्त्व का निर्णय करने में और भी सुविधा हो जायगी। इनमें से पहला व्याख्यान नागपुर में जनवरी सन् १९०२ में हुआ; और दूसरा सन् १९०४ ईसवी के अगस्त महीने में करवीर एवं संकेश्वर मठ के जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य की आज्ञा से उन्हीं की उपस्थिति में संकेश्वर मठ में हुआ था। उस समय नागपुरवाले व्याख्यान का विवरण भी समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त इसी विचार से, जब जब समय मिलता गया, तब तब कुछ विद्वान् मित्रों के साथ समम समय पर वाद-विवाद भी किया। इन्हीं मित्रों में स्वर्गीय श्रीपति बाबा भिंगारकर थे। इनके सहवास से भागवत सम्प्रदाय के कुछ प्राकृत ग्रन्थ देखने में आये; और गीतारहस्य में वर्णित कुछ बातें तो आप के और हमारे वाद-विवाद में ही पहले निश्चित हो चुकी थीं। यह बड़े दुःख की बात है, कि आप इस ग्रन्थ को न देख पाये। अस्तु; इस प्रकार यह मत निश्चित हो गया, कि गीता का प्रतिपाद्य विषय प्रवृत्तिप्रधान है; और इसको लिख कर ग्रन्थरूप में प्रकाशित करने का विचार किये भी अनेक वर्ष बीत गये। वर्तमान समय में पाये जानेवाले भाष्यों, टीकाओं और अनुवादों में जो गीतातात्पर्य स्वीकृत नहीं हुआ है, केवल उसे ही यदि पुस्तकरूप से प्रकाशित कर देते – और इसका कारण न बतलाते, कि प्राचीन टीकाकारों का निश्चित किया हुआ तात्पर्य हमें ग्राह्य क्यों नहीं है – तो बहुत सम्भव था, कि लोग कुछ-न-कुछ समझने लग जाते – उनको भ्रम हो जाता। और समस्त टीकाकारों के मतों का संग्रह करके उनकी सकारण अपूर्णता दिखला देना, एवं अन्य धर्मों तथा तत्त्वज्ञान के साथ गीताधर्म की तुलना करना कोई ऐसा साधारण काम न था, जो शीघ्रतापूर्वक चटपट हो जाय। अतएव यद्यपि हमारे मित्र श्रीयुत दाजीसाहब खरे और दादासाहब खापर्डे ने कुछ पहले ही यह प्रकाशित कर दिया था, कि हम गीता पर एक नवीन ग्रन्थ शीघ्र ही प्रसिद्ध करनेवाले हैं; तथापि ग्रन्थ लिखने का काम इस समझ से टलता गया, कि हमारे समीप जो सामग्री है वह अभी अपूर्ण है। जब सन १९०८ ईसवी में सज़ा दे कर हम मण्डाले में भेज दिये, तब इस ग्रन्थ के लिखे जाने की आशा बहुत कुछ घट गई थी। किन्तु कुछ समय में ग्रन्थ लिखने के लिये आवश्यक पुस्तक आदि सामग्री पूने से मँगा लेने की अनुमति जब सरकार की मेहरबानी से मिल गई, तब सन १९१०–११ के जाड़े के काल में (संवत् १९६७ कार्तिक शुक्ल

१ से चैत्र कृष्ण ३० के भीतर) इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि (मसविदा) मण्डाले के जेलखाने में पहले पहल लिखी गई। और फिर समयानुसार जैसे जैसे विचार सूझते गये, वैसे वैसे उनमें काटछाँट होती गई। उस समय समग्र पुस्तकें वहाँ न होने के कारण, कई स्थानों में अपूर्णता रह गई थी। यह अपूर्णता वहाँ से छुटकारा हो जाने पर पूर्ण तो कर ली गई है; परन्तु अभी यह नहीं कहा जा सकता, कि यह ग्रंथ सर्वांश में पूर्ण हो गया। क्योंकि मोक्ष और नीतिधर्म के तत्त्व गहन तो हैं ही; साथ ही इस सम्बन्ध में अनेक प्राचीन और अर्वाचीन पण्डितों ने इतना विस्तृत विवेचन किया है, कि व्यर्थ फैलाव से बच कर यह निर्णय करना कई बार कठिन हो जाता है, कि इस छोटे-से ग्रन्थ में किन किन बातों का समावेश किया जावे? परन्तु अब हमारी स्थिति कवि की इस उक्ति के अनुसार हो गई है:—

यम-सेना की विमल ध्वजा अब 'जरा' दृष्टि में आती है।
करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती जाती है॥*

और हमारे सांसारिक साथी भी पहले ही चल बसे हैं। अतएव अब इस ग्रन्थ को यह समझ कर प्रसिद्ध कर दिया है, कि हमें जो बातें मालूम हो गई हैं और जिन विचारों को हमने सोचा है, वे सब लोगों को भी ज्ञात हो जायँ। फिर कोई-न-कोई 'समानधर्मा' अभी या फिर उत्पन्न हो कर उन्हें पूर्ण कर ही लेगा।

आरम्भ में ही यह कह देना आवश्यक है, कि यद्यपि हमें यह मत मान्य नहीं है, कि सांसारिक कर्मों को गौण अथवा त्याज्य मान कर ब्रह्मज्ञान और भक्ति प्रभृति निरे निवृत्तिप्रधान मोक्षमार्ग का ही निरूपण गीता में है; तथापि हम यह नहीं कहते, कि मोक्षप्राप्तिमार्ग का विवेचन भगवद्गीता में बिलकुल है ही नहीं। हमने भी ग्रन्थ में स्पष्ट दिखला दिया है, कि गीताशास्त्र के अनुसार इस जगत् में प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्तव्य यही है, कि वह परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उसके द्वारा अपनी बुद्धि को, जितनी हो सके उतनी, निर्मल और पवित्र कर ले। परन्तु यह कुछ गीता का मुख्य विषय नहीं है। युद्ध के आरम्भ में अर्जुन इस कर्तव्यमोह में फँसा था, कि युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भले ही हो; परन्तु कुलक्षय आदि घोर पातक होने से जो युद्ध मोक्षप्राप्तिरूप आत्म-कल्याण का नाश कर डालेगा, उस युद्ध को करना चाहिये अथवा नहीं? अतएव हमारा यह अभिप्राय है, कि उस मोह को दूर करने के लिये शुद्ध वेदान्त के आधार पर कर्म-अकर्म का और साथ ही साथ मोक्ष के उपायों का भी पूर्ण विवेचन कर इस प्रकार निश्चय किया गया है, कि एक तो कर्म कभी छूटते ही नहीं हैं, और दूसरे उनको छोड़ना भी नहीं चाहिये। एवं गीता में उस युक्ति का—

* महाराष्ट्र-कविवर्य मोरोपन्त की 'केका' का भाव।

ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग का – ही प्रतिपादन किया गया है, कि जिससे कर्म करने पर भी कोई पाप नहीं लगता; तथा अन्त में उसी से मोक्ष भी मिल जाता है। कर्म-अकर्म के या धर्म-अधर्म के इस विवेचन को ही वर्तमानकालीन निरे आधिभौतिक पण्डित नीतिशास्त्र कहते हैं। सामान्य पद्धति के अनुसार गीता के श्लोकों के क्रम से टीका लिख कर भी यह दिखलाया जा सकता था, कि यह विवेचन गीता में किस प्रकार किया गया है? परंतु वेदान्त, मीमांसा, सांख्य, कर्मविपाक अथवा भक्ति प्रभृति शास्त्रों के जिन अनेक वादों अथवा प्रमेयों के आधार पर गीता में कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है; और जिनका उल्लेख कभी कभी बहुत ही संक्षिप्त रीति से पाया जाता है, उन शास्त्रीय सिद्धान्तों का पहले से ही ज्ञान हुए बिना गीता के विवेचन का पूर्ण रहस्य सहसा ध्यान में नहीं जमता। इसीलिये गीता में जो जो विषय अथवा सिद्धान्त आये हैं, उनके शास्त्रीय रीति से प्रकरणों में विभाग करके प्रमुख प्रमुख युक्तियोंसहित गीतारहस्य में उनका पहले संक्षेप में निरूपण किया गया है; और फिर वर्तमान युग की आलोचनात्मक पद्धति के अनुसार गीता के प्रमुख सिद्धान्तों की तुलना अन्यान्य धर्मों के और तत्त्वज्ञानों के सिद्धान्तों के साथ प्रसङ्गानुसार संक्षेप में कर दिखलाई गई है। इस पुस्तक के पूर्वार्ध में जो गीतारहस्य नामक निबन्ध है, वह इसी रीति से कर्मयोगविषयक एक छोटा-सा किन्तु स्वतंत्र ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। जो हो; इस प्रकार के सामान्य विरूपण में गीता के प्रत्येक श्लोक का पूर्ण विचार हो नहीं सकता था। अतएव अन्त में गीता के प्रत्येक श्लोक का अनुवाद दे दिया है; और इसी के साथ स्थान-स्थान पर यथेष्ट टिप्पणियाँ भी इसलिये जोड़ दी गई हैं, कि जिसमें पूर्वापर सन्दर्भ पाठकों की समझ में भली भाँति आ जाय; अथवा पुराने टीकाकारों ने अपने सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये गीता के श्लोकों की जो खींचातानी की है, उसे पाठक समझ जायँ (देखो गी. ३. १७–१९; ६, ३; और १८. २); या वे सिद्धान्त सहज ही ज्ञात हो जायँ, कि जो गीतारहस्य में बतलाये गये हैं। और यह भी ज्ञात हो जाय, कि इनमें से कौन कौन-से सिद्धान्त गीता की संवादात्मक प्रणाली के अनुसार कहाँ कहाँ किस प्रकार आये हैं? इसमें सन्देह नहीं, कि ऐसा करने से कुछ विचारों की द्विरुक्ति अवश्य हो गई है। परन्तु गीतारहस्य का विवेचन गीता के अनुवाद से पृथक् इसलिये रखना पड़ा है, कि गीताग्रंथ के तात्पर्य के विषय में साधारण पाठकों में जो भ्रम फैल गया है, वह भ्रम अन्य रीति से पूर्णतया दूर नहीं हो सकता था। इस पद्धति से पूर्व इतिहास और आधारसहित यह दिखलाने में सुविधा हो गई है, कि वेदान्त, मीमांसा और भक्ति प्रभृति विषयक गीता के सिद्धान्त भारत, सांख्यशास्त्र, वेदान्तसूत्र, उपनिषद् और मीमांसा आदि मूल ग्रन्थों में कैसे और कहाँ आये हैं? इसमें स्पष्टतया यह बतलाना सुगम हो गया है, कि संन्यासमार्ग और कर्मयोगमार्ग में क्या

भेद हैं? तथा अन्यान्य धर्ममतों और तत्त्वज्ञानों के साथ गीता की तुलना करके व्यावहारिक कर्मदृष्टि से गीता के महत्त्व का योग्य निरूपण करना सरल हो गया है। यदि गीता पर अनेक प्रकार की टीकाएँ न लिखी गई होतीं और अनेकों ने अनेक प्रकार से गीता के तात्पर्यार्थों का प्रतिपादन न किया होता, तो हमें अपने ग्रंथ के सिद्धान्त के लिये पोषक और आधारभूत मूल संस्कृत वचनों के अवतरण स्थान स्थान पर देने की कोई आवश्यकता ही न थी। किन्तु यह समय दूसरा है; लोगों के मन में यह शंका हो जा सकती थी, कि हमने जो गीतार्थ अथवा सिद्धान्त बतलाया है, वह ठीक है या नहीं? इसीलिये हमने सर्वत्र स्थलनिर्देश कर बतला दिया है, कि हमारे कथन के लिये प्रमाण क्या है? और मुख्य स्थानों पर तो मूल संस्कृत वचनों को ही अनुवादसहित उद्धृत कर दिया है। इसके व्यतिरिक्त संस्कृत वचनों को उद्धृत करने का और भी प्रजोजन है। वह यह, कि इनमें से अनेक वचन वेदान्तग्रन्थों में साधारणतया प्रमाणार्थ लिये जाते हैं। अतः पाठकों को यहाँ उनका सहज ही ज्ञान हो जायगा और इससे पाठक उन सिद्धान्तों को भी भली भाँति समझ सकेंगे। किन्तु यह कब संभव है, कि सभी पाठक संस्कृतज्ञ हों? इसलिये समस्त ग्रन्थ की रचना इस ढंग से की गई है, कि यदि संस्कृत न जाननेवाले पाठक – संस्कृत श्लोकों को छोड़ कर – केवल भाषा ही पढ़ते चले जायँ, तो अर्थ में कहीं भी गड़बड़ न हो। इस कारण संस्कृत श्लोकों का शब्दशः अनुवाद न लिख कर अनेक स्थलों पर उनका केवल सारांश दे कर ही निर्वाह कर लेना पड़ा है। परन्तु मूल श्लोक सदैव ऊपर रखा गया है। इस कारण इस प्रणाली से भ्रम होने की कुछ भी आशंका नहीं है।

कहा जाता है, कि कोहनूर हीरा जब भारतवर्ष से विलायत को पहुँचाया गया, तब उसके नये पहलू बनाने के लिये वह फिर खरादा गया; और खरादे जाने पर वह और भी तेजस्वी हो गया। हीरे के लिये उपयुक्त होनेवाला यह न्याय सत्यरूपी रत्नों के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है। गीता का धर्म सत्य और अभय है सही; परन्तु वह जिस समय और जिस स्वरूप में बतलाया गया था, उस देश-काल आदि परिस्थिति में अब बहुत अन्तर हो गया है। इस कारण अब उसका तेज पहले की भाँति कितनों ही की दृष्टि में नहीं समाता है। किसी कर्म को भला-बुरा मानने के पहले, जिस समय यह सामान्य प्रश्न ही महत्त्व का समझा जाता था, कि 'कर्म करना चाहिये अथवा न करना चाहिये' उस समय गीता बतलाई गई है। इस कारण उसका बहुत-सा अंश अब कुछ लोगों को अनावश्यक प्रतीत होता है। और, उस पर भी निवृत्तिमार्गीय टीकाकारों की लीपा-पोती ने तो गीता के कर्मयोग के विवेचन को आजकल बहुतेरों के लिये दुर्बोध कर डाला है। इसके अतिरिक्त कुछ नये विद्वानों की यह समझ हो गई, कि अर्वाचीन काल में आधिभौतिक ज्ञान की पश्चिमी देशों में जैसी कुछ

बाढ़ हुई है, उस बाढ़ के कारण अध्यात्मशास्त्र के आधार पर किये गये प्राचीन कर्मयोग के विवेचन वर्तमान काल के लिये पूर्णतया उपयुक्त नहीं हो सकते; किन्तु यह समझ ठीक नहीं। इस समझ की पोल दिखलाने के लिये गीतारहस्य के विवेचन में गीता के सिद्धान्तों की जोड़ के ही पश्चिमी पंडितों के सिद्धान्त भी हमने स्थान स्थान पर संक्षेप में दे दिये हैं। वस्तुतः गीता का धर्म-अधर्म-विवेचन इस तुलना से कुछ अधिक सुदृढ नहीं हो जाता; तथापि अर्वाचीन काल में आधिभौतिक शास्त्रों की अश्रुतपूर्व वृद्धि से जिनकी दृष्टि में चकाचौंध लग गई है; अथवा जिन्हें आजकल की एकदेशीय शिक्षापद्धति के कारण आधि-भौतिक अर्थात् बाह्यदृष्टि से ही नीतिशास्त्र का विचार करने की आदत पड़ गई है, उन्हें इस तुलना से इतना तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा, कि मोक्षधर्म और नीति दोनों विषय आधिभौतिक ज्ञान के परे के हैं; और वे यह भी जान जायँगे, कि इसी से प्राचीन काल में हमारे शास्त्रकारों ने इस विषय में जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं, उनके आगे मानवी ज्ञान की गति अब तक नहीं पहुँच पाई है। यही नहीं; किन्तु पश्चिमी देशों में भी अध्यात्मदृष्टि से इन प्रश्नों का विचार अब तक हो रहा है, इन आध्यात्मिक ग्रन्थकारों के विचार गीताशास्त्र के सिद्धान्तों से कुछ अधिक भिन्न नहीं हैं। गीतारहस्य के भिन्न भिन्न प्रकरणों में जो तुलनात्मक विवेचन है, उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी। परन्तु यह विषय अत्यन्त व्यापक है, इस कारण पश्चिमी पंडितों के मतों का जो सारांश विभिन्न स्थलों पर हमने दे दिया है, उसके सम्बन्ध में यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है, कि गीतार्थ को प्रतिपादन करना ही हमारा मुख्य काम है। अतएव गीता के सिद्धान्तों को प्रमाण मान कर पश्चिमी मतों का उल्लेख हमने केवल यही दिखलाने के लिये किया है, कि इन सिद्धान्तों से पश्चिमी नीतिशास्त्रज्ञों अथवा पंडितों के सिद्धातों का कहाँ तक मेल है? और यह काम हमने इस ढँग से किया है, कि जिसमें सामान्य मराठी पाठकों को उनका अर्थ समझने में कोई कठिनाई न हो। अब यह निर्विवाद है, कि इन दोनों के बीच जो सूक्ष्म भेद हैं – और वे हैं भी बहुत – अथवा इन सिद्धान्तों के जो पूर्ण उपपादन या विस्तार हैं, उन्हें जानने के लिये मूल पाश्चिमी ग्रन्थ ही देखना चाहिये। पश्चिमी विद्वान् कहते हैं, कि कर्म-अकर्मविवेक अथवा नीतिशास्त्र पर नियमबद्ध ग्रन्थ सब से पहले यूनानी तत्त्ववेत्ता अरिस्टाटल ने लिखा है। परन्तु हमारा मत है, कि अरिस्टाटल से भी पहले उसके ग्रंथ की अपेक्षा अधिक व्यापक और तात्त्विक दृष्टि से इन प्रश्नों का विचार महाभारत एवं गीता में हो चुका था; तथा अध्यात्मदृष्टि से गीता में जिस नीतितत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, उससे भिन्न कोई नीतितत्त्व अब तक नहीं निकलता है। 'संन्यासियों के समान रह कर तत्त्वज्ञान के विचार में शान्ति से आयु बिताना अच्छा है अथवा अनेक प्रकार की राजकीय उथल-पुथल करना भला है' – इस विषय का जो

खुलासा अरिस्टाटल ने किया है, वह गीता में है; और साक्रेटीज के इस मत का भी गीता में एक प्रकार से समावेश हो गया है, कि 'मनुष्य कुछ पाप करता है, वह अज्ञान से ही करता है।' क्योंकि गीता का तो यही सिद्धान्त है, कि ब्रह्मज्ञान से बुद्धि सम हो जाने पर फिर मनुष्य से कोई भी पाप हो नहीं सकता। एपिक्युरियन और स्टोइक पंथों के यूनानी पण्डितों का यह कथन भी गीता को ग्राह्य है, कि पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए ज्ञानी पुरुष का व्यवहार ही नीतिदृष्ट्या सब के लिये आदर्श के समान प्रमाण है; और इन पन्थवालों ने परम ज्ञानी पुरुष का जो वर्णन किया है, वह गीता के स्थितप्रज्ञ अवस्थावाले वर्णन के समान है। मिल, स्पेन्सर और कांट प्रभृति आधिभौतिकवादियों का कथन है, कि नीति की पराकाष्ठा अथवा कसौटी यही है, कि प्रत्येक मनुष्य को सारी मानवजाति के हितार्थ उद्योग करना चाहिये। गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ के 'सर्वभूतहिते रताः' इस ग्राह्य लक्षण में उक्त कसौटी का भी समावेश हो गया है। कांट और ग्रीन का नीतिशास्त्र की उपपत्तिविषयक तथा इच्छास्वातंत्र्यसम्बन्धी सिद्धान्त भी उपनिषदों के ज्ञान के आधार पर गीता में आ गया है। इसकी अपेक्षा यदि गीता में और कुछ अधिकता न होती, तो भी वह सर्वमान्य हो गयी होती। परन्तु गीता इतने ही से संतुष्ट नहीं हुई; प्रत्युत उसने यह दिखलाया है, कि मोक्ष, भक्ति और नीतिधर्म के बीच आधिभौतिक ग्रंथकारों को जिस विरोध का आभास होता है, वह विरोध सच्चा नहीं है। एवं यह भी दिखलाया है, कि ज्ञान और कर्म में संन्यासमार्गियों की समझ में जो विरोध आड़े आता है, वह भी ठीक नहीं है। उसने यह दिखलाया है, कि ब्रह्मविद्या का और भक्ति का जो मूलतत्त्व है, वही नीति का और सत्कर्म का भी आधार है। एवं इस बात का भी निर्णय कर दिया है, कि ज्ञान, संन्यास, कर्म और भक्ति के समुचित मेल से इस लोक में आयु बिताने के किस मार्ग को मनुष्य स्वीकार करे? इस प्रकार गीताग्रन्थ प्रधानता से कर्मयोग का है; और इसीलिये 'ब्रह्मविद्यान्तर्गत (कर्म-) योगशास्त्र' इस नाम से समस्त वैदिक ग्रंथों में उसे अग्रस्थान प्राप्त हो गया है। गीता के विषय में कहा जाता है, कि "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।" – एक गीता का ही पूरा पूरा अध्ययन कर लेना बस है; शेष शास्त्रों के कोरे फैलाव से क्या करना है? यह बात कुछ झूठ नहीं है। अतएव जिन लोगों को हिन्दुधर्म और नीतिशास्त्र के मूलतत्त्वों से परिचय कर लेना हो, उन लोगों से हम सविनय किन्तु आग्रहपूर्वक कहते हैं, कि सब से पहले आप इस अपूर्व ग्रंथ का अध्ययन कीजिये। इसका कारण यह है, कि क्षर-अक्षर-सृष्टि का और क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का विचार करनेवाले न्याय, मीमांसा, उपनिषद् और वेदान्त आदि प्राचीन शास्त्र उस समय जितने हो सकते थे उतने, पूर्ण अवस्था में आ चुके थे; और इसके बाद गीता में ही वैदिक धर्म को ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान एवं कर्मयोगविषयक

अन्तिम स्वरूप प्राप्त हुआ; तथा वर्तमान काल में प्रचलित वैदिक धर्म का मूल ही गीता में प्रतिपादित होने के कारण हम कह सकते हैं, कि संक्षेप में किन्तु निस्सन्दिग्ध रीति से वर्तमानकालीन हिन्दुधर्म के तत्त्वों को समझ देनेवाला गीता की जोड़ का दूसरा ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में है ही नहीं।

उल्लिखित वक्तव्य से पाठक सामान्यतः समझ सकेंगे, कि गीतारहस्य के विवेचन का कैसा क्या ढँग है? गीता पर जो शांकरभाष्य है, उसके तीसरे अध्याय के आरम्भ में पुरातन टीकाकारों के अभिप्रायों का उल्लेख है। इस उल्लेख से ज्ञात होता है, कि गीता पर पहले कर्मयोगप्रधान टीकाएँ रही होंगी। किन्तु इस समय ये टीकाएँ उपलब्ध नहीं है। अतएव यह कहने में कोई क्षति नहीं, कि गीता का कर्मयोगप्रधान और तुलनात्मक यह पहला ही विवेचन है। इसमें कुछ श्लोकों के अर्थ उन अर्थों से भिन्न हैं, कि जो आजकल की टीकाओं में पाये जाते हैं। एवं ऐसे अनेक विषय भी बतलाये गये हैं, कि जो अबतक की प्राकृत टीकाओं में विस्तारसहित कहीं भी नहीं थे। इन विषयों को और उनकी उपपत्तियों को यद्यपि हमने संक्षेप में ही बतलाया है, तथापि यथाशक्य सुस्पष्ट और सुबोध रीति से बतलाने के उद्योग में हमने कोई बात उठा नहीं रखी है। ऐसा करने में यद्यपि कहीं कहीं द्विरुक्ति हो गई है, तो भी हमने उसकी कोई परवाह नहीं की। और जिन शब्दों के अर्थ अब तक भाषा में प्रचलित नहीं हो पाये हैं, उनके पर्याय शब्द उनके साथ-ही-साथ अनेक स्थलों पर दे दिये हैं। इसके अतिरिक्त इस विषय के प्रमुख प्रमुख सिद्धान्त सारांशरूप से स्थान स्थान पर, उपपादन से पृथक् कर दिखला दिये गये हैं। फिर भी शास्त्रीय और गहन विषयों का विचार थोड़े शब्दों में करना सदैव कठिन है; और इस विषय की भाषा भी अभी स्थिर नहीं हो पाई है। अतः हम जानते हैं, कि भ्रम से, दृष्टिदोष से, अथवा अन्यान्य कारणों से हमारे इस नये ढँग के विवेचन में कठिनाई, दुर्बोधता, अपूर्णता और अन्य कोई दोष रह गये होंगे। परंतु भगवद्गीता पाठकों से अपरिचित नहीं है – वह हिन्दुओं के लिये एकदम नई वस्तु नहीं है, कि जिसे उन्होंने कभी देखी सुनी न हो। ऐसे बहुतेरे लोग हैं, जो नित्य नियम से भगवद्गीता का पाठ किया करते हैं; और ऐसे पुरुष भी थोड़े नहीं हैं, कि जिन्होंने इसका शास्त्रीय दृष्ट्या अध्ययन किया है अथवा करेंगे। ऐसे अधिकारी पुरुषों से हमारी एक प्रार्थना है, कि जब उनके हाथ में यह ग्रन्थ पहुँचे; और यदि उन्हें इस प्रकार के कुछ दोष मिल जाएँ, तो वे कृपा कर हमें उनकी सूचना दे दें। ऐसा होने से हम उनका विचार करेंगे; और यदि द्वितीय संस्करण के प्रकाशित करने का अवसर आयेगा, तो उसमें यथा-योग्य संशोधन कर दिया जावेगा। सम्भव है, कुछ लोग समझें, कि हमारा कोई विशेष सम्प्रदाय है; और उसी सम्प्रदाय की सिद्धि के लिये हम गीता का एक प्रकार का विशेष अर्थ कर रहे हैं। इसलिये यहाँ इतना कह देना आवश्यक है, कि

यह गीतारहस्य ग्रन्थ किसी भी व्यक्तिविशेष अथवा सम्प्रदाय के उद्देश से लिखा नहीं गया है। हमारी बुद्धि के अनुसार गीता के मूल संस्कृत श्लोक का जो सरल अर्थ होता है, वही हमने लिखा है। ऐसा सरल अर्थ कर देने से – और आजकल संस्कृत का बहुतकुछ प्रचार हो जाने के कारण बहुतेरे लोग समझ सकेंगे, कि अर्थ सरल है या नहीं–यदि इसमें कुछ सम्प्रदाय की गन्ध आ जावे, तो वह गीता की है, हमारी नहीं। अर्जुन ने भगवान् से कहा था, कि "मुझे दो-चार मार्ग बतला कर उलझन में न डालिये। निश्चयपूर्वक ऐसा एक ही मार्ग बतलाइये, कि जो श्रेयस्कर हो (गी. ३. २; ५. १)।" इससे प्रकट ही है, कि गीता में किसी-न-किसी एक ही विशेष मत का प्रतिपादन होना चाहिये। मूलगीता का ही अर्थ करके निराग्रहबुद्धि से हमें देखना है, कि वह एक ही विशेष मत कौन-सा है? हमें पहले ही से कोई मत स्थिर करके गीता के अर्थ की इसलिये खींचातानी नहीं करनी है, कि इस पहले से ही निश्चित किये हुए मत से गीता का मेल नहीं मिलता। सारांश, गीता के वास्तविक रहस्य का – फिर चाहे वह रहस्य किसी भी सम्प्रदाय का हो – गीताभक्तों में प्रसार करके भगवान् के ही कथनानुसार यह ज्ञानयज्ञ करने के लिये हम प्रवृत्त हुए हैं। हमें आशा है, कि इस ज्ञानयज्ञ की अव्यंगता की सिद्धि के लिये, ऊपर जो ज्ञानभिक्षा माँगी गई है, उसे हमारे देशबन्धु और धर्मबन्धु बड़े आनन्द से देंगे।

प्राचीन टीकाकारों ने गीता का जो तात्पर्य निकाला है, उसमें – और हमारे मतानुसार गीता का जो रहस्य है उसमें – भेद क्यों पड़ता है? इस भेद के कारण गीतारहस्य में विस्तारपूर्वक बतलाये गए हैं। परन्तु गीता के तात्पर्यसम्बध में यद्यपि इस प्रकार मतभेद हुआ करे, तो भी गीता के जो भाषानुवाद हुए हैं, उनसे हमें इस ग्रंथ को लिखते समय अन्यान्य बातों में सदैव ही प्रसंगानुसार थोड़ी-बहुत सहायता मिली है। एतदर्थ हम उन सब के अत्यन्त ऋणी हैं। इसी प्रकार उन पश्चिमी पण्डितों का भी उपकार मानना चाहिये, कि जिनके ग्रन्थों के सिद्धान्तों का हमने स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। और तो क्या! यदि इन सब ग्रन्थों की सहायता न मिली होती, तो यह ग्रंथ लिखा जाता या नहीं – इसमें सन्देह ही है। इसी से हमने प्रस्तावना के आरम्भ में ही साधु तुकाराम का यह वाक्य लिख दिया है – "सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।" सदा सर्वदा एक-सा उपयोगी होनेवाला अर्थात् त्रिकाल-अबाधित जो ज्ञान है, उसका निरूपण करनेवाले गीता जैसे ग्रन्थ से कालभेद के अनुसार मनुष्य को नवीन नवीन स्फूर्ति प्राप्त हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि ऐसे व्यापक ग्रन्थ का तो यह धर्म ही रहता है। परन्तु इतने ही से प्राचीन पण्डितों के वे परिश्रम कुछ व्यर्थ नहीं हो जाते, कि जो उन्होंने उस ग्रन्थ पर किये हैं। पश्चिमी पण्डितों ने गीता के जो अनुवाद अंग्रेजी और जर्मन प्रभृति यूरोप की भाषाओं में किये हैं, उनके

लिये भी यही न्याय उपयुक्त होता है। ये अनुवाद गीता की प्रायः प्राचीन टीकाओं के आधार से किये जाते हैं। फिर कुछ पश्चिमी पण्डितों ने स्वतंत्र रीति से गीता के अर्थ करने का उद्योग आरम्भ कर दिया है। परन्तु सच्चे (कर्म-) योग का तत्त्व अथवा वैदिक धार्मिक सम्प्रदायों का इतिहास भली भाँति समझ न सकने के कारण या बहिरंगपरीक्षा पर ही इनकी विशेष रुचि रहने के कारण अथवा ऐसे ही और कुछ कारणों से इन पश्चिमी पण्डितों के ये विवेचन अधिकतर अपूर्ण और कुछ कुछ स्थानों में तो सर्वथा भ्रामक और भूलों से भरे पड़े हैं। यहाँ पर पश्चिमी पण्डितों के गीताविषयक ग्रंथों का विस्तृत विचार करने अथवा उनकी जाँच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने जो प्रमुख प्रश्न उपस्थित किये हैं, उनके सम्बन्ध में हमारा जो वक्तव्य है, वह इस ग्रन्थ के परिशिष्ट प्रकरण में है। किन्तु यहाँ गीताविषयक उन अंग्रेजी लेखों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है, कि जो इन दिनों हमारे देखने में आये हैं। पहला लेख मि. ब्रुक्स का है। मि. ब्रुक्स थिऑसफिस्ट पंथ के हैं। उन्होंने अपने गीताविषयक ग्रंथ में सिद्ध किया है, कि भगवद्गीता कर्मयोगप्रधान है; और वे अपने व्याख्यानों में भी इसी मत को प्रतिपादन किया करते हैं। दूसरा लेख मद्रास के मि. एस्. राधाकृष्णन् का है। यह छोटे निबन्ध के रूप में अमेरिका के 'सार्वराष्ट्रीय नीतिशास्त्रसम्बन्धी त्रैमासिक' में प्रकाशित हुआ है (जुलाई १९११)। इसमें आत्मस्वातन्त्र्य और नीतिधर्म इन दो विषयों के सम्बन्ध से गीता और कान्ट की समता दिखलाई गई है। हमारे मत से यह साम्य इससे भी कहीं अधिक व्यापक है; और कान्ट की अपेक्षा ग्रीन की नैतिक उपपत्ति गीता से कहीं अधिक मिलती-जुलती है। परन्तु इन दोनों प्रश्नों का खुलासा जब इस ग्रन्थ में किया ही गया है, तब यहाँ उन्हीं को दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार पण्डित सीतानाथ तत्त्वभूषण-कर्तृक 'कृष्ण और गीता' नामक एक अंग्रेजी ग्रन्थ भी इन दिनों प्रकाशित हुआ है। इसमें उक्त पण्डितजी के गीता पर दिये हुए बारह व्याख्यान हैं। किन्तु उक्त ग्रन्थों के पाठ करने से कोई भी जान लेगा, कि तत्त्वभूषणजी के अथवा मि. ब्रुक्स के प्रतिपादन में और हमारे प्रतिपादन में बहुत अंतर है। फिर भी इन लेखों से ज्ञात होता है, कि गीताविषयक हमारे विचार कुछ अपूर्व नहीं हैं। और इस सुचिन्ह का भी ज्ञान होता है, कि गीता के कर्मयोग की ओर लोगों का ध्यान अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है। अतएव यहाँ पर हम इन सब आधुनिक लेखकों का अभिनंदन करते हैं।

यह ग्रन्थ मण्डाले में लिखा गया था, पर लिखा गया था पेन्सिल से; और काटछाँट के अतिरिक्त इसमें और भी कितने ही नये सुधार किये गये थे। इसलिये सरकार के यहाँ से इसके लौट आने पर प्रेस में देने के लिये शुद्ध कॉपी करने की

आवश्यकता हुई। और यदि यह काम हमारे ही भरोसे पर छोड़ दिया जाता तो इसके प्रकाशित होने में न जाने और कितना समय लग गया होता ! परन्तु श्रीयुत वामन गोपाल जोशी, नारायण कृष्ण गोगटे, रामकृष्ण दत्तात्रेय पराडकर, रामकृष्ण सदाशिव पिंपुटकर, अप्पाजी विष्णु कुलकर्णी प्रभृति सज्जनों ने इस काम में बड़े उत्साह से सहायता दी। एतदर्थ इनका उपकार मानना चाहिये। इसी प्रकार श्रीयुत कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर ने और विशेषतया वेदशास्त्र-सम्पन्न दीक्षित काशीनाथशास्त्री लेले ने बम्बई से यहाँ आकर ग्रन्थ की हस्त-लिखित प्रति को पढ़ने का कष्ट उठाया। एवं अनेक उपयुक्त तथा मार्मिक सूचनाएँ दीं, जिनके लिये हम उनके ऋणी हैं। फिर भी स्मरण रहे, कि इस ग्रंथ में प्रतिपादित मतों की जिम्मेदारी हमारी ही है। इस प्रकार ग्रंथ छापने योग्य तो हो गया, परन्तु युद्ध के कारण कागज़ की कमी होनेवाली थी। इस कमी को बम्बई के स्वदेशी कागज़ के पुतलीघर के मालिक मेसर्स 'डी. पदमजी और सन' ने हमारी इच्छा के अनुसार अच्छा कागज़ समय पर तैयार करके दूर कर दिया। इससे गीताग्रन्थ को छापने के लिये अच्छा कागज़ मिल सका। किन्तु ग्रन्थ अनुमान से अधिक बढ़ गया, इससे कागज़ की कमी फिर पड़ी। इस कमी को पूने के पेपर मिल के मालिकों ने यदि दूर न कर दिया होता, तो और कुछ महीनों तक पाठकों को ग्रन्थ के प्रकाशित होने की प्रतीक्षा करनी पड़ती। अतः उक्त दोनों पुतलीघरों के मालिकों को, न केवल हम ही, प्रत्युत पाठक भी धन्यवाद दें। अब अन्त में प्रूफ़-संशोधन का काम रह गया; जिसे श्रीयुत रामकृष्ण दत्तात्रेय पराडकर, रामकृष्ण सदाशिव पिंपुटकर और श्रीयुत हरि रघुनाथ भागवत ने स्वीकार किया। इसमें भी स्थान स्थान पर अन्यान्य ग्रन्थों का जो उल्लेख किया गया है, उनको मूल ग्रन्थों से ठीक ठीक जाँचने एवं यदि कोई व्यंग रह गया हो, तो उसे दिखलाने का काम श्रीयुत हरि रघुनाथ भागवत ने अकेले ही किया है। बिना इनकी सहायता के इस ग्रन्थ को इतनी शीघ्रता से प्रकाशित न कर पाते। अतएव हम इन सब को हृदय से धन्य-वाद देते हैं। अब रही छपाई; जिसे चित्रशाला छापखाने के स्वत्वाधिकारी ने सावधानीपूर्वक शीघ्रता से छाप देना स्वीकार कर तदनुसार इस कार्य को पूर्ण कर दिया। इस निमित्त अन्त में इनका भी उपकार मानना आवश्यक है। खेत में फ़सल हो जाने पर भी फ़सल से अनाज तैयार करने और भोजन करनेवालों के मुँह में पहुँचने तक जिस प्रकार अनेक लोगों की सहायता अपेक्षित रहती है, वैसी ही कुछ अंशों में ग्रन्थकार की – कम से कम हमारी तो अवश्य – स्थिति है। अतएव उक्त रीति से जिन लोगों ने हमारी सहायता की – फिर चाहे उनके नाम यहाँ आये हों अथवा न भी आये हों – उनको फिर एक बार धन्यवाद दे कर इस प्रस्तावना को समाप्त करते हैं।

प्रस्तावना समाप्त हो गई। अब जिस विषय के विचार में बहुतेरे वर्ष बीत गये हैं और जिसके नित्य सहवास एवं चिन्तन से मन को समाधान हो कर आनन्द होता गया, वह विषय आज ग्रन्थ के रूप में हाथ से पृथक् होनेवाला है। यह सोच कर यद्यपि बुरा लगता है, तथापि सन्तोष इतना ही है, कि ये विचार – सध गये तो व्याजसहित, अन्यथा ज्यों-के-त्यों – अगली पीढ़ी के लोगों को देने के लिये ही हमें प्राप्त हुए थे। अतएव वैदिक धर्म के राजगुह्य के इस पारस को कठोपनिषद् के "उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत!" (क. ३. १४) – उठो! जागो! और (भगवान् के दिये हुए) इस वरदान को समझ लो – इस मन्त्र से होनहार पाठकों को प्रेमोदकपूर्वक सौंपते हैं। प्रत्यक्ष भगवान् का ही निश्चयपूर्वक यह आश्वासन है, कि इसी में कर्म-अकर्म का सारा बीज है; और इस धर्म का स्वल्प आचरण भी बड़े बड़े संकटों से बचाता है। इससे अधिक और क्या चाहिये? सृष्टि के इस नियम पर ध्यान दे कर कि, "बिना किये कुछ होता नहीं है" तुमको निष्कामबुद्धि से कार्यकर्ता होना चाहिये; तब फिर सब कुछ हो गया। निरी स्वार्थपरायणबुद्धि से गृहस्थी चलाते चलाते जो लोग हार कर थके गये हों, उनका समय बिताने के लिये, अथवा संसार को छुड़ा देने की तैयारी के लिये गीता नहीं कही गई है। गीताशास्त्र की प्रवृत्ति तो इसलिये हुई है, कि वह इसकी विधि बतलावे, कि मोक्षदृष्टि से संसार के कर्म ही किस प्रकार किये जावें? और तात्त्विक दृष्टि से इस बात का उपदेश करे, कि संसार में मनुष्यमात्र का सच्चा कर्तव्य क्या है? अतः हमारी इतनी ही बिनती है, कि पूर्व अवस्था में ही – चढ़ती हुई उम्र में ही – प्रत्येक मनुष्य गृहस्थाश्रम के अथवा संसार के इस प्राचीन शास्त्र को जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी समझे बिना न रहे।

पूना, अधिक वैशाख,
संवत् १९७२ वि०

बाळ गंगाधर टिळक

गीतारहस्य की साधारण अनुक्रमणिका

गीतारहस्य के प्रत्येक प्रकरण के विषयों की अनुक्रमणिका

पहला प्रकरण – विषयप्रवेश

दूसरा प्रकरण – कर्मजिज्ञासा

तीसरा प्रकरण – कर्मयोगशास्त्र

चौथा प्रकरण – आधिभौतिक सुखवाद

पाँचवा प्रकरण – सुखदुःखविवेक

छठवाँ प्रकरण – आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सातवाँ प्रकरण – कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार

आठवाँ प्रकरण – विश्व की रचना और संहार

नौवाँ प्रकरण – अध्यात्म

दसवाँ प्रकरण – कर्मविपाक और आत्मस्वातन्त्र्य

ग्यारहवाँ प्रकरण – संन्यास और कर्मयोग

बारहवाँ प्रकरण – सिद्धावस्था और व्यवहार

तेरहवाँ प्रकरण – भक्तिमार्ग

चौदहवाँ प्रकरण – गीताध्यायसंगति

पन्द्रहवाँ प्रकरण – उपसंहार

परिशिष्ट प्रकरण – गीता की बहिरंगपरीक्षा

गीतारहस्य के संक्षिप्त चिन्हों का ब्योरा और संक्षिप्त चिन्हों से जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनका परिचय

अथर्व. अथर्व वेद। काण्ड, सूक्त और ऋचा के क्रम से नम्बर हैं।

अष्टा. अष्टावक्रगीता। अध्याय और श्लोक। अष्टेकर और मण्डली का गीतासंग्रह का संस्करण।

ईश. ईशावास्योपनिषद्। आनन्दाश्रम का संस्करण।

ऋ. ऋग्वेद। मण्डल, सूक्त और ऋचा।

ऐ. अथवा ऐ. उ. ऐतरेयोपनिषद्। अध्याय, खण्ड और श्लोक। पूने के आनन्दाश्रम का संस्करण।

ऐ. ब्रा. ऐतरेय ब्राह्मण। पंचिका और खण्ड। डॉ. हौग का संस्करण।

क., कठ. अथवा कठोपनिषद्। वल्ली और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

केन. केनोपनिषद्। (=तलवकारोपनिषद्)। खण्ड और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

कै. कैवल्योपनिषद्। खण्ड और मन्त्र। २८ उपनिषद्, निर्णयसागर का संस्करण।

कौषी. कौषीतक्युपनिषद्। अथवा कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्। अध्याय और खण्ड। कहीं कहीं इस उपनिषद् के पहले अध्याय को ही ब्राह्मणानुक्रम से तृतीय अध्याय कहते हैं। आनन्दाश्रम का संस्करण।

गी. भगवद्गीता। अध्याय और श्लोक। **गी. शां. भा.** गीता शांकरभाष्य।

गी. रा. भा. गीता रामानुजभाष्य। आनन्दाश्रमवाली गीता और शांकरभाष्य की प्रति के अन्त में शब्दों की सूची है। हमने निम्न लिखित टीकाओं का उपयोग किया है।– श्रीव्यंकटेश्वर प्रेस का रामानुजभाष्य। कुम्भकोण के कृष्णाचार्य द्वारा प्रकाशित माध्वभाष्य; आनन्दगिरि की टीका और जगद्धितेच्छु छापखाने (पूना) में छपी हुई परमार्थप्रपा टीका; नेटिव ओपिनियन छापखाने (बम्बई) में छपी हुई मधुसूदनी टीका; निर्णयसागर में छपी हुई श्रीधरी और वामनी (मराठी) टीका; आनन्दाश्रम में छपा हुआ पैशाचभाष्य; गुजराती प्रिंटिंग प्रेस की वल्लभ सम्प्रदायी तत्त्वदीपिका; बम्बई में छपे हुए महाभारत की नीलकण्ठी; और मद्रास में छपी हुई ब्रह्मानन्दी। परन्तु इनमें से पैशाचभाष्य और ब्रह्मानन्दी को छोड़कर शेष टीकाएँ और निम्बार्क सम्प्रदाय की एवं दूसरी कुछ और टीकाएँ – कुल

पन्द्रह संस्कृत टीकाएँ – गुजराती प्रिंटिंग प्रेस ने अभी छाप कर प्रकाशित की हैं। अब इस एक ही ग्रन्थ से सारा काम हो जाता है।

गी. र. अथवा **गीतार.** गीतारहस्य। हमारी पुस्तक का पहला निबन्ध।

छां. छांदोग्योपनिषद्। अध्याय, खण्ड और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

जै. सू. जैमिनी के मीमांसासूत्र। अध्याय, पाद और सूत्र। कलकत्ते का संस्करण।

तै. अथवा तै. उ. तैत्तिरीय उपनिषद्। वल्ली, अनुवाक और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

तै. ब्रा. तैत्तिरीय ब्राह्मण। काण्ड, प्रपाठक, अनुवाक और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

तै. सं. तैत्तिरीय संहिता। काण्ड, प्रपाठक और मन्त्र।

दा. अथवा दास. श्रीसमर्थ रामदासस्वामीकृत दासबोध। धुलिया सत्कार्योत्तेजक सभा की प्रति का, चित्रशाला प्रेस में छपा हुआ, हिन्दी अनुवाद।

ना. पं. नारदपंचरात्र। कलकत्ते का संस्करण।

ना. सू. नारदसूत्र। बम्बई का संस्करण।

नृसिंह. उ. नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्।

पातञ्जलसू. पातञ्जलयोगसूत्र। तुकाराम तात्या का संस्करण।

पंच. पंचदशी। निर्णयसागर का सटीक संस्करण।

प्रश्न. प्रश्नोपनिषद्। प्रश्न और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

बृ. अथवा बृह. बृहदारण्यकोपनिषद्। अध्याय, ब्राह्मण और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण। साधारण पाठ काण्व; केवल एक स्थान पर माध्यन्दिन शाखा के पाठ का उल्लेख है।

ब्र. सू. आगे वे. सू. देखो।

भाग. श्रीमद्भागवतपुराण। निर्णयसागर का संस्करण।

भा. ज्यो. भारतीय ज्योतिःशास्त्र। स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षितकृत।

मत्स्य. मत्स्यपुराण। आनन्दाश्रम का संस्करण।

मनु. मनुस्मृति। अध्याय और श्लोक। डॉ. जाली का संस्करण। मण्डलीक के अथवा और किसी भी संस्करण में ये ही श्लोक प्रायः एक ही स्थान पर मिलेंगे। मनु पर जो टीका है, वह मण्डलीक के संस्करण की है।

म. भा. श्रीमन्महाभारत। इसके आगे के अक्षर विभिन्न पर्वों के दर्शक हैं; नम्बर अध्याय के और श्लोकों के हैं। कलकत्ते में बाबू प्रतापचन्द्र राय के द्वारा

मुद्रित संस्कृत प्रति का ही हमने सर्वत्र उपयोग किया है। बम्बई के संस्करण में ये श्लोक कुछ आगे-पीछे मिलेंगे।

मि. प्र. मिलिन्दप्रश्न। पाली ग्रन्थ। अंग्रेजी अनुवाद।

मुं. अथवा **मुंड.** मुण्डकोपनिषद्। मुण्ड, खण्ड और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

मैत्र्यु. मैत्र्युपनिषद् अथवा मैत्रायण्युपनिषद्। प्रपाठक और मन्त्र। आनंदाश्रम का संस्करण।

याज्ञ. याज्ञवल्क्यस्मृति। अध्याय और श्लोक। बम्बई का छपा हुआ। इसकी अपरार्क टीका (आनन्दाश्रम के संस्करण) का भी दो-एक स्थानों पर उल्लेख है।

यो. अथवा **योग.** योगवासिष्ठ। प्रकरण, सर्ग और श्लोक। छठे प्रकरण के दो भाग हैं। (पू.) पूर्वार्ध, और (उ.) उत्तरार्ध। निर्णयसागर का सटीक संस्करण।

रामपू. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्। आनन्दाश्रम का संस्करण।

वाज. सं. वाजसनेयी संहिता। अध्याय और मन्त्र। वेबर का संस्करण।

वाल्मीकिरा. अथवा **वा. रा.** वाल्मीकिरामायण। काण्ड, अध्याय और श्लोक। बम्बई का संस्करण।

विष्णु. विष्णुपुराण। अंश, अध्याय और श्लोक। बम्बई का संस्करण।

वे. सू. वेदान्तसूत्र। अध्याय, पाद और सूत्र। **वे. सू. शां. भा.** वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य। आनन्दाश्रमवाले संस्करण का ही सर्वत्र उपयोग किया है।

शां. सू. शांडिल्यसूत्र। बम्बई का संस्करण।

शिव. शिवगीता। अध्याय और श्लोक। अष्टेकर मण्डली के गीतासंग्रह का संस्करण।

श्वे. श्वेताश्वतरोपनिषद्। अध्याय और मन्त्र। आनन्दाश्रम का संस्करण।

सां. का. सांख्यकारिका। तुकाराम तात्या का संस्करण।

सूर्यगी. सूर्यगीता। अध्याय और श्लोक। मद्रास का संस्करण।

हरि. हरिवंश। पर्व, अध्याय और श्लोक। बम्बई का संस्करण।

नोट :– इनके अतिरिक्त और कितने ही संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी एवं पाली ग्रन्थों का स्थान स्थानपर उल्लेख है। परन्तु उनके नाम यथास्थान पर प्रायः पूरे लिख दिये गये हैं; अथवा वे समझ में आ सकते हैं। इसलिये उनके नाम इस फ़ेहरिस्त में शामिल नहीं किये गये।

मंडाले जेल में लिखित गीतारहस्य की पण्डुलिपी के प्रति के
प्रथम वहीका प्रथम पृष्ठ.

श्रीगणेशाय नमः।

ॐ तत्सत्।

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य

अथवा

कर्मयोगशास्त्र

पहला प्रकरण

विषयप्रवेश

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ *

— महाभारत, आदिम श्लोक।

श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्मग्रंथों में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्मांड-ज्ञानसहित आत्मविद्या के गूढ और पवित्र तत्त्वों को थोड़े में और स्पष्ट रीति से समझा देनेवाला, उन्हीं तत्त्वों के आधार पर मनुष्यमात्र के पुरुषार्थ की – अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की – पहचान करा देनेवाला, भक्ति और ज्ञान का मेल कराके इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने-वाला और इसके द्वारा संसार से दुःखित मनुष्य को शान्ति दे कर उसे निष्काम कर्त्तव्य के आचरण में लगानेवाला गीता के समान बालबोध ग्रंथ, संस्कृत के कौन कहे, समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता। केवल काव्य की ही दृष्टि से यदि इसकी परीक्षा की जाय तो भी यह ग्रंथ उत्तम काव्यों में गिना जा सकता है; क्योंकि इसमें आत्मज्ञान के अनेक गूढ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषा में लिखे गये हैं, कि वे बूढों और बच्चों को एकसमान सुगम हैं; और इसमें ज्ञानयुक्त भक्तिरस भी भरा पड़ा है। जिस ग्रंथ में समस्त वैदिक धर्म का सार स्वयं

* नारायण को, मनुष्यों में जो श्रेष्ठ नर है उसको, सरस्वती देवी को और व्यासजी को नमस्कार करके फिर 'जय' अर्थात् महाभारत को पढ़ना चाहिये – यह श्लोक का

श्रीकृष्ण भगवान् की वाणी से संग्रहित किया गया है, उसकी योग्यता का वर्णन कैसे किया जाय ? महाभारत की लड़ाई समाप्त होने पर एक दिन श्रीकृष्ण और अर्जुन प्रेमपूर्वक बातचीत कर रहे थे। उस समय अर्जुन के मन में इच्छा हुई कि श्रीकृष्ण से एक बार और गीता सुनें। तुरन्त अर्जुन ने बिनती की, " महाराज ! आपने जो उपदेश मुझे युद्ध के आरंभ में दिया था उसे मैं भूल गया हूँ। कृपा करके एक बार और बतलाइये। " तब श्रीकृष्ण भगवान् ने उत्तर दिया कि – " उस समय मैंने अत्यन्त योगयुक्त अंतःकरण से उपदेश किया था। अब सम्भव नहीं कि मैं वैसा ही उपदेश फिर कर सकूँ। " यह बात अनुगीता के प्रारंभ (म. भा. अश्वमेध. अ. १६. श्लोक. १०-१३) में दी हुई है। सच पूछो तो भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के लिये कुछ भी असंभव नहीं है; परंतु उनके उक्त कथन से यह बात अच्छी तरह मालूम हो सकती है, कि गीता का महत्त्व कितना अधिक है। यह ग्रंथ, वैदिक धर्म के भिन्न भिन्न संप्रदायों में, वेद के समान, आज करीब ढाई हज़ार वर्ष से, सर्वसामान्य तथा प्रमाणस्वरूप हो रहा है; इसका कारण भी उक्त ग्रंथ का महत्त्व ही है। इसी लिये गीता-ध्यान में इस स्मृतिकालीन ग्रंथ का अलंकारयुक्त, परंतु यथार्थ वर्णन इस प्रकार किया गया है :–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थात् जितने उपनिषद् हैं वे मानों गौ हैं, श्रीकृष्ण स्वयं दूध दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, बुद्धिमान् अर्जुन (उस गौ को पन्हानेवाला) भोक्ता बछड़ा (वत्स) है, और जो दूध दुहा गया वही मधुर गीतामृत है। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, कि हिन्दुस्थान की सब भाषाओं में इसके अनेक अनुवाद, टीकाएं और विवेचन हो चुके हैं; परन्तु जब से पश्चिमी विद्वानों को संस्कृत भाषा का ज्ञान होने लगा है, तब से ग्रीक, लेटिन, जर्मन, फ्रेन्च, अंग्रेजी आदि यूरोप की भाषाओं में भी इसके अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। तात्पर्य यह है, कि इस समय यह अद्वितीय ग्रंथ समस्त संसार में प्रसिद्ध है।

अर्थ है। महाभारत (उ. ४८. ७–९ और २०–२२; तथा वन. १२. ४४–४६) में लिखा है, कि नर और नारायण ये दोनों ऋषि दो स्वरूपों में विभक्त – साक्षात् परमात्मा – ही हैं, और इन्हीं दोनों ने फिर अर्जुन तथा श्रीकृष्ण का अवतार लिया। सब भागवतधर्मीय ग्रंथों के आरंभ में इन्हीं को प्रथम इसलिये नमस्कार करते हैं, कि निष्काम-कर्म-युक्त नारायणीय तथा भागवत-धर्म को इन्होंने ही पहले पहले जारी किया था। इस श्लोक में कहीं कहीं 'व्यास' के बदले 'चैव' पाठ भी है; परंतु हमें यह युक्तिसंगत नहीं मालूम होता; क्योंकि, जैसे भागवत-धर्म के प्रचारक नर-नारायण को प्रणाम करना सर्वथा उचित है, वैसे ही इस धर्म के दो मुख्य ग्रंथों (महाभारत और गीता) के कर्ता व्यासजी को भी नमस्कार करना उचित है। महाभारत का प्राचीन नाम 'जय' है (म. भा. आ. ६२. २०)।

इस ग्रंथ में सब उपनिषदों का सार आ गया है; इसीसे इसका पूरा नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषत्' है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में जो अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प है, उससें "इति श्रीमद्भवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे" इत्यादि शब्द हैं। यह संकल्प यद्यपि मूलग्रंथ (महाभारत) में नहीं है, तथापि यह गीता की सभी प्रतियों में पाया जाता है। इससे अनुमान होता है, कि गीता की किसी भी प्रकार की टीका होने के पहले ही, जब महाभारत से गीता नित्यपाठ के लिये अलग निकाल ली गई होगी तभी से उक्त संकलपका प्रचार हुआ होगा। इस दृष्टि से, गीता के तात्पर्य का निर्णय करने के कार्य में उसका महत्त्व कितना है, यह आगे चल कर बताया जायगा। यहाँ इस संकल्प के केवल दो पद (भगवद्गीतासु उपनिषत्सु) विचारणीय हैं। 'उपनिषत्' शब्द हिन्दी में पुल्लिंग माना जाता है; परन्तु वह संस्कृत में स्त्री-लिंग है। इसलिये "श्रीभगवान् से गाया गया अर्थात् कहा गया उपनिषद्" यह अर्थ प्रकट करने के लिये संस्कृत में "श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्" ये दो विशेषण-विशेष्यरूप स्त्रीलिंग शब्द प्रयुक्त हुए हैं; और यद्यपि ग्रंथ एक ही है, तथापि सम्मान के लिये "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु" ऐसा सप्तमी के बहु-वचन का प्रयोग किया गया है। शंकराचार्य के भाष्य में भी इस ग्रंथ को लक्ष्य करके 'इति गीतासु' यह बहुवचनान्त प्रयोग पाया जाता है। परन्तु नाम को संक्षिप्त करने के समय आदरसूचक प्रत्यय, पद तथा अंत के सामान्य जातिवाचक 'उपनिषत्' शब्द भी उड़ा दिये गये; जिससे 'श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्' इन प्रथमा के एकवचनान्त शब्दों के बदले पहले 'भगवद्गीता' और फिर केवल 'गीता' ही संक्षिप्त नाम प्रचलित हो गया। ऐसे बहुत-से संक्षिप्त नाम प्रचलित हैं। जैसे – कठ, छांदोग्य, केन इत्यादि। यदि 'उपनिषत्' शब्द मूल नाम में न होता तो 'भागवतम्,' 'भारतम्' 'गोपीगीतम्' इत्यादि शब्दों के समान इस ग्रंथ का नाम भी 'भगवद्गीतम्' या केवल 'गीतम्' बन जाता; जैसा कि नपुंसकलिंग के शब्दों का स्वरूप होता है। परन्तु जब कि ऐसा हुआ नहीं है और 'भगवद्गीता' या 'गीता' यही स्त्रीलिंग शब्द अब तक बना है, तब उसके सामने 'उपनिषत्' शब्द को नित्य अध्याहृत समझना ही चाहिये। अनुगीता की अर्जुनमिश्रकृत टीका में 'अनुगीता' शब्द का अर्थ भी इसी रीति से किया गया है।

परन्तु सात सौ श्लोकों की भगवद्गीता को ही गीता नहीं कहते। अनेक ज्ञानविषयक ग्रंथ भी गीता कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, महाभारत के शांतिपर्वा-तर्गत मोक्षपर्व के कुछ फुटकर प्रकरणों को पिंगलगीता, शंपाकगीता, मंकिगीता, बोध्यगीता, विचख्युगीता, हारीतगीता, वृत्रगीता, पराशरगीता और हंसगीता कहते हैं। अश्वमेध पर्व में अनुगीता के एक भाग का विशेष नाम 'ब्राह्मणगीता'

है। इनके सिवा अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता, ईश्वरगीता, उत्तरगीता, कपिलगीता, गणेशगीता, देवीगीता, पांडवगीता, ब्रह्मगीता, भिक्षुगीता, यमगीता, रामगीता, व्यासगीता, शिवगीता, सूतगीता, सूर्यगीता इत्यादि अनेक गीताएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ तो, स्वतंत्र रीति से निर्माण की गई हैं और शेष भिन्न भिन्न पुराणों से ली गई हैं। जैसे, गणेशपुराण के अन्तिम क्रीडाखंड के १३८ से १४८ अध्यायों में गणेशगीता कही गई है। इसे यदि थोड़े फेरफार के साथ भगवद्गीता की नक़ल कहें तो कोई हानि नहीं। कूर्मपुराण के उत्तर भाग के पहले ग्यारह अध्यायों में ईश्वरगीता है। इसके बाद व्यासगीता का आरंभ हुआ है। स्कंदपुराणान्तर्गत सूतसंहिता के चौथे अर्थात् यज्ञवैभवखंड के उपरिभाग के आरंभ (१ से १२ अध्याय तक) में ब्रह्मगीता है और इसके बाद आठ अध्यायों में सूतगीता है। यह तो हुई एक ब्रह्मगीता; दूसरी एक और भी ब्रह्मगीता है, जो योगवासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण के उत्तरार्ध (सर्ग १७३ से १८१ तक) में आ गई है। यमगीता तीन प्रकार की है। पहली विष्णुपुराण के तीसरे अंश के सातवे अध्याय में; दूसरी, अग्निपुराणके तीसरे खंड के ३८१ वे अध्याय में; और तीसरी, नृसिंह-पुराण के आठवे अध्याय में है। यही हाल रामगीता का है। महाराष्ट्र में जो रामगीता प्रचलित है वह अध्यात्मरामायण के उत्तरकांड के पाँचवे सर्ग में है; और यह अध्यात्मरामायण ब्रह्मांडपुराणका एक भाग माना जाता है; परन्तु इसके सिवा एक दूसरी रामगीता 'गुरुज्ञानवासिष्ठ-तत्त्वसारायण' नामक ग्रंथ में है, जो मद्रास की ओर प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ वेदान्त-विषय पर लिखा गया है। इसमें ज्ञान, उपासना और कर्म-संबंधी तीन कांड हैं। इसके उपासना-कांड के द्वितीय पाद के पहले अठारह अध्याय में रामगीता है और कर्मकांड के तृतीय पाद के पहले पाँच अध्यायों में सूर्यगीता है। कहते हैं कि शिवगीता पद्मपुराण के पातालखंड में है। इस पुराण की जो प्रति पूने के आनंदाश्रम में छपी है उसमें शिवगीता नहीं है। पंडित ज्वालाप्रसाद ने अपने 'अष्टादशपुराणदर्शन' ग्रंथ में लिखा है कि शिवगीता गौड़ीय पद्मोत्तरपुराण में है। नारदपुराण में, अन्य पुराणों के साथ साथ, पद्मपुराण की भी जो विषयानुक्रमणिका दी गई है उसमें शिव-गीता का उल्लेख पाया जाता है। श्रीमद्भागवतपुराण के ग्यारहवे स्कंध के तेरहवे अध्याय में हंसगीता और तेईसवे अध्याय में भिक्षुगीता कही गई है। तीसरे स्कंध के कपिलोपाख्यान (२३–३३) को कई लोग 'कपिलगीता' कहते हैं; परन्तु 'कपिलगीता' नामक एक छपी हुई स्वतंत्र पुस्तक हमारे देखने में आई है, जिसमें हठयोग का प्रधानता से वर्णन किया गया है; और लिखा है कि यह कपिलगीता पद्मपुराण से ली गई है; परन्तु यह गीता पद्मपुराण में है ही नहीं। इसमें एक स्थान (४.७) पर जैन, जंगम और सूफ़ी का उल्लेख किया गया है, जिससे कहना पड़ता है, कि यह गीता मुसलमानी राज्य के बाद की होगी।

भागवतपुराण ही के समान देवीभागवत में भी, सातवें स्कंध के ३१ से ४० अध्याय तक एक गीता है, जिसे देवी से कही जाने के कारण देवीगीता कहते हैं। खुद भगवद्गीता ही का सार अग्निपुराण के तीसरे खंड के ३८० वे अध्याय में, तथा गरुडपुराण के पूर्वखंड के २४२ वे अध्याय में दिया हुआ है। इसी तरह कहा जाता है, कि वसिष्ठजी ने जो उपदेश रामचंद्रजी को दिया, उसींको योग-वासिष्ठ कहते हैं; परंतु इस ग्रंथ के अन्तिम (अर्थात् निर्वाण) प्रकरण में 'अर्जुनोपाख्यान' भी शामिल है; जिसमें उस भगवद्गीताका सारांश दिया गया है, कि जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था। इस उपाख्यान में भगवद्गीता के अनेक श्लोक ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं (योग. ६ पू. सर्ग. ५२–५८)। ऊपर कहा जा चुका है कि पूने में छपे हुए पद्मपुराण में शिवगीता नहीं मिलती; परन्तु उसके न मिलने पर भी इस प्रति के उत्तरखंड के १७१ से १८८ अध्याय तक भगवद्गीता के माहात्म्य का वर्णन है, और भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के लिये माहात्म्य-वर्णन में एक एक अध्याय है; और उसके संबंध में कथा भी कही गई हैं। इसके सिवा वराहपुराण में एक गीता-माहात्म्य है और शिवपुराण में तथा वायुपुराण में भी गीता-माहात्म्य का होना बतलाया जाता है; परन्तु कलकत्ते के छपे हुए वायुपुराण में वह हमें नहीं मिला। भगवद्गीता की छपी हुई पुस्तकों के आरंभ में 'गीता-ध्यान' नामक नौ श्लोकों का एक प्रकरण पाया जाता है। नहीं जान पड़ता, कि यह कहाँ से लिया गया है; परन्तु इसका "भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला०" श्लोक, थोड़े हेरफेर के साथ, हाल ही में प्रकाशित 'ऊरुभंग' नामक भास कविकृत नाटक के आरंभ में दिया हुआ है। इससे ज्ञात होता है, कि उक्त ध्यान भास कवि के समय के अनंतर प्रचार में आया होगा। क्योंकि यह मानने की अपेक्षा कि भास सरीखे प्रसिद्ध कवि ने इस श्लोक को गीता-ध्यान से लिया है; यही कहना अधिक युक्तिसंगत होगा, कि गीता-ध्यान की रचना भिन्न भिन्न स्थानोंसे लिये हुए, और कुछ नये बनाये हुए श्लोकों से की गई है। भास कवि कालिदास से पहले हो गया है। इसलिये उसका समय कम-से-कम संवत् ४३५ (शक तीन सौ) से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता।*

ऊपर कही गई बातों से यह बात अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है, कि भगवद्गीता के कौन कौन-से और कितने अनुवाद तथा कुछ हेरफेर के साथ कितनी नकलें, तात्पर्य और माहात्म्य पुराणों में मिलते हैं। इस बात का पता नहीं चलता, कि अवधूत और अष्टावक्र आदि दो-चार गीताओं को कब और किसने स्वतंत्र रीति से रचा; अथवा वे किस पुराण से ली गई हैं। तथापि इन सब

* उपर्युक्त अनेक गीताओं तथा भगवद्गीता को श्रीयुत हरि रघुनाथ भागवत आज-कल पूने से प्रकाशित कर रहे हैं।

गीताओं की रचना तथा विषय-विवेचन को देखने से यही मालूम होता है, कि ये सब ग्रंथ, भगवद्गीता के जगत्प्रसिद्ध होने के बाद ही, बनाये गये हैं। इन गीताओं के संबंध में यह कहने से भी कोई हानि नहीं कि वे इसी लिये रची गई हैं, कि किसी विशिष्ट पंथ या विशिष्ट पुराण में भगवद्गीता के समान एक-आध गीता के रहे बिना उस पंथ या पुराण की पूर्णता नहीं हो सकती थी। जिस तरह श्रीभगवान् ने भगवद्गीता में अर्जुन को विश्वरूप दिखा कर ज्ञान बतलाया है, उसी तरह शिवगीता, देवीगीता और गणेशगीता में भी वर्णन है। शिवगीता, ईश्वर-गीता आदि में तो भगवद्गीता के अनेक श्लोक अक्षरशः पाये जाते हैं। यदि ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो इन सब गीताओं में भगवद्गीता की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं है; और भगवद्गीता में अध्यात्मज्ञान और कर्म का मेल कर देने की जो अपूर्व शैली है वह किसी भी अन्य गीता में नहीं है। भगवद्गीता में पातंजल-योग अथवा हठयोग और कर्मत्यागरूप संन्यास का यथोचित वर्णन न देख कर, उसकी पूर्ति के लिये कृष्णार्जुनसंवाद के रूप में, किसीने उत्तरगीता पीछे से लिख डाली है। अवधूत और अष्टावक्र आदि गीताएँ बिलकुल एकदेशीय हैं। क्योंकि इनमें केवल संन्यासमार्ग का ही प्रतिपादन किया गया है। यमगीता और पांडव-गीता तो केवल भक्तिविषयक संक्षिप्त स्तोत्रों के समान हैं। शिवगीता, गणेश-गीता और सूर्यगीता ऐसी नहीं हैं। यद्यपि इनमें ज्ञान और कर्म के समुच्चय का युक्तियुक्त समर्थन अवश्य किया गया है, तथापि इनमें नवीनता कुछ भी नहीं है; क्योंकि यह विषय प्रायः भगवद्गीता से ही लिया गया है। इन कारणों से भगवद्गीता के गंभीर तथा व्यापक तेजके सामने बाद की बनी हुई कोई भी पौराणिक गीता ठहर नहीं सकी, और इन नक़ली गीताओं से उलटा भगवद्गीता का ही महत्त्व अधिक बढ़ गया है। यही कारण है, कि 'भगवद्गीता' का 'गीता' नाम प्रचलित हो गया है। अध्यात्मरामायण और योगवासिष्ठ यद्यपि विस्तृत ग्रंथ हैं तो भी वे पीछे बने हैं और यह बात उनकी रचना से ही स्पष्ट मालूम हो जाती है। मद्रास का 'गुरुज्ञानवासिष्ठतत्त्वसारायण' नामक ग्रंथ कई एकों के मतानुसार बहुत प्राचीन है; परन्तु हम ऐसा नहीं समझते; क्योंकि उसमें १०८ उपनिषदों का उल्लेख है, जिनकी प्राचीनता सिद्ध नहीं हो सकती। सूर्यगीता में विशिष्टाद्वैत मत का उल्लेख पाया जाता है (३.३०); और कई स्थानों में भगवद्गीता ही का युक्तिवाद लिया हुआ-सा जान पड़ता है (१.६८)। इसलिये यह ग्रंथ भी बहुत पीछे से – श्रीशंकराचार्य के भी बाद – बनाया गया होगा।

अनेक गीताओं के होने पर भी भगवद्गीता की श्रेष्ठता निर्विवाद सिद्ध है। इसी कारण उत्तरकालीन वैदिकधर्मीय पंडितों ने, अन्य गीताओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया, और भगवद्गीता ही की परीक्षा करने और उसीके तत्त्व अपने बंधुओं को समझा देने में, अपनी कृतकृत्यता मानने लगे। ग्रंथ की दो प्रकार से परीक्षा

की जाती है। एक अंतरंग-परीक्षा और दूसरी बहिरंग-परीक्षा कहलाती है। पूरे ग्रंथ को देखकर उसके मर्म, रहस्य, मथितार्थ और प्रमेय ढूँढ़ निकलना 'अंतरंग-परीक्षा' है। ग्रंथको किसने और कब बनाया, उसकी भाषा सरस है या नीरस, काव्य-दृष्टिसे उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण हैं या नहीं, शब्दों की रचना में व्याकरण पर ध्यान दिया गया है या उस ग्रंथ में अनेक आर्ष प्रयोग हैं, उसमें किन किन मतों-स्थलों-और व्यक्तियों-का उल्लेख है; इन बातों से ग्रंथ के काल-निर्णय और तत्कालीन समाजस्थिति का कुछ पता चलता है या नहीं; ग्रंथ के विचार स्वतंत्र हैं अथवा चुराये हुए हैं; यदि उस में दूसरों के विचार भरे हैं तो वे कौन-से हैं और कहाँ से लिये गये हैं; इत्यादि बातों के विवेचन को 'बहिरंग-परीक्षा' कहते हैं। जिन प्राचीन पंडितों ने गीता पर टीका और भाष्य लिखा है उन्होंने उक्त बाहरी बातों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसका कारण यही है, कि वे लोग भगवद्गीता सरीखे अलौकिक ग्रंथ की परीक्षा करते समय उक्त बाहरी बातों पर ध्यान देने को ऐसा ही समजते थे, जैसा कि कोई मनुष्य एक-आध उत्तम सुगंध-युक्त फूल को पाकर उसके रंग, सौंदर्य, सुवास आदि के विषय में कुछ भी विचार न करे, और केवल उसकी पँखुरियाँ गिनता रहे अथवा जैसे कोई मनुष्य मधुसक्खी का मधुयुक्त छत्ता पा कर केवल छिद्रों को गिनने में ही समय नष्ट कर दे! परंतु अब पश्चिमी विद्वानों के अनुकरण से हमारे आधुनिक विद्वान् लोग गीता की बाह्य-परीक्षा भी बहुत कुछ करने लगे हैं। गीता के आर्ष प्रयोगों को देख कर एक ने यह निश्चित किया है कि यह ग्रंथ ईसा से कई शतक पहले ही बन गया होगा। इससे यह शंका बिलकुल ही निर्मूल हो जाती है, कि गीता का भक्तिमार्ग उस ईसाई धर्म से लिया गया होगा, कि जो गीता से बहुत पीछे प्रचलित हुआ है। गीता के सोलहवें अध्याय में जिस नास्तिक मत का उल्लेख है उसे बौद्धमत समज कर दूसरे ने गीता का रचना-काल बुद्ध के बाद माना है। तीसरे विद्वान् का कथन है कि तेहरवे अध्याय में 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव०' श्लोक में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख होने के कारण गीता ब्रह्मसूत्र के बाद बनी होगी। इसके विरुद्ध कई लोग भी कहते हैं, कि ब्रह्मसूत्र में अनेक स्थानोंपर गीता ही का आधार लिया गया है; जिससे गीता का उसके बाद बनना सिद्ध नहीं होता। कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि युद्ध में रणभूमि पर अर्जुन को सात सौ श्लोक की गीता सुनाने का समय मिलना संभव नहीं है। हाँ, यह संभव है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लड़ाई की जल्दी में दस-बीस श्लोक या उनका भावार्थ सुना दिया हो, और उन्हीं श्लोकों के विस्तार को संजय ने धृतराष्ट्र से, व्यास ने शुक से, वैशंपायन ने जनमेजय से और सूत ने शौनक से कहा हो; अथवा महाभारतकार ने भी उसको विस्तृत रीति से लिख दिया हो। गीता की रचना के संबंध में मन की ऐसी प्रवृत्ति होने पर गीता-सागर में डुबकी

लगा कर किसी ने सात*, किसी ने अठाईस, किसी ने छत्तीस और किसी ने सौ मूल-श्लोक गीता के खोज निकाले हैं। कोई कोई तो यहाँ तक कहते हैं कि अर्जुन को रणभूमि पर गीता का ब्रह्मज्ञान बतलाने को कोई आवश्यकता ही नहीं थी; वेदान्त विषय का यह उत्तम ग्रंथ पीछे से महाभारत में जोड़ दिया गया होगा। यह नहीं कि बहिरंग-परीक्षा की ये सब बातें सर्वथा निरर्थक हों। उदाहरणार्थ, ऊपर कही गई फूल की पँखुरियों तथा मधु के छत्ते की बात को ही लीजिये। वनस्पतियों के वर्गीकरण के समय फूलों की पँखुरियों का भी विचार अवश्य करना पड़ता है। इसी तरह गणित की सहायता से यह सिद्ध किया गया है, कि मधु-मक्खियों के छत्ते में जो छेद होते हैं उनका आकार ऐसा होता है, कि मधुरस का घनफल तो कम होने नहीं पाता; और बाहर के आवरण का पृष्ठफल बहुत कम हो जाता है; जिससे मोम की पैदायश घट जाती है। इसी प्रकार के उपयोगों पर दृष्टि देते हुए हमने भी गीता की बहिरंग-परीक्षा की है, और उसके कुछ महत्त्व के सिद्धान्तों का विचार इस ग्रंथ के अंत में, परिशिष्ट में किया है; परंतु जिनको ग्रंथ का रहस्य ही जानना है, उनके लिये बहिरंग-परीक्षा के झगड़े में पड़ना अनावश्यक है। वाग्देवी के रहस्य को जाननेवालों तथा उसकी ऊपरी और बाहरी बातों के जिज्ञासुओं में जो भेद है उसे मुरारि कवि ने बड़ी ही सरसता के साथ दरशाया है —

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किं त्वस्य गंभीरताम्।
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मंथाचलः॥

अर्थात्, समुद्र की अगाध गहराई जानने की यदि इच्छा हो तो किससे पूछा जाय? इसमें संदेह नहीं, कि राम-रावण-युद्ध के समय सैंकड़ो वानरवीर धड़ाधड़ समुद्र के ऊपर से कूदते हुए लंका में चले गये थे; परंतु उनमें से कितनों को समुद्र की गहराई का ज्ञान है? समुद्र-मंथन के समय देवताओं ने मन्थनदंड बना कर जिस बड़े भारी पर्वत को समुद्र के नीचे छोड़ दिया था और जो सचमुच समुद्र के नीचे पाताल तक पहुँच गया था, वही मंदराचल पर्वत समुद्र की गहराई को जान सकता है। मुरारि कवि के इस न्यायानुसार, गीता के रहस्य को जानने के लिये, अब हमें उन पंडितों और आचार्यों के ग्रंथों की ओर ध्यान देना चाहिये, जिन्होंने गीता-सागर का मंथन किया है। इन पंडितों में महाभारत के कर्ता ही अग्रगण्य

---

* आजकल एक सप्तश्लोकी गीता प्रकाशित हुई है, उसमें केवल यही सात श्लोक हैं :—(१) ॐइत्येकाक्षरं ब्रह्म इ० (गी. ८.१३); (२) स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या इ० (गी. ११.३६); (३) सर्वतः पाणिपादं तत् इ० (गी. १३.१३.); (४) कविं पुराणमनुशासितारं इ० (गी. ८.९); (५) ऊर्ध्वमूलमधःशाखं इ० (गी. १५.१); (६) सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्ट इ० (गी. १५. १५); (७) मन्मना भव मद्भक्तो इ० (गी. १८. ६५) इसी तरह और भी अनेक संक्षिप्त गीताएं बनी हैं।

हैं। अधिक क्या कहें, आजकल जो गीता प्रसिद्ध है, उसके यही एक प्रकार से कर्ता भी कहे जा सकते हैं। इसलिये प्रथम उन्हीं के मतानुसार संक्षेप में गीता का तात्पर्य दिया जायगा।

'भगवद्गीता' अर्थात् 'भगवान् से गाया गया उपनिषत्' इस नाम ही से बोध होता है, कि गीता में अर्जुन को उपदेश किया गया है वह प्रधान रूप से भागवतधर्म – भगवान् के चलाये हुए धर्म – के विषय में होगा। क्योंकि श्रीकृष्ण को 'श्रीभगवान्' का नाम प्रायः भागवतधर्म में ही दिया जाता है। यह उपदेश कुछ नया नहीं है। पूर्व काल में यही उपदेश भगवान् ने विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को किया था। यह बात गीता के चौथे अध्याय-के आरंभ (१.३) में दी हुई है। महाभारतके, शांतिपर्व के अंत में नारायणीय अथवा भागवतधर्म का विस्तृत निरूपण है, जिसमें ब्रह्मदेव के अनेक जन्मों में अर्थात् कल्पान्तरों में भागवतधर्मकी परंपरा का वर्णन किया गया है। और अंतमें यह कहा गया है :–

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः॥

अर्थात् ब्रह्मदेव के वर्तमान जन्म के त्रेतायुग में इस भागवतधर्म ने विवस्वान्-मनु-इक्ष्वाकु की परंपरा से विस्तार पाया है (म. भा. शां. ३४८. ५१,५२)। यह परंपरा गीता में दी हुई उक्त परंपरा से मिलती है (गीता. ४. १. पर हमारी टीका देखो)। दो भिन्न धर्मों की परंपरा का एक होना संभव नहीं है, इसलिये परंपरा की एकता के कारण यह अनुवाद सहज ही किया जा सकता है कि गीताधर्म और भागवतधर्म ये दोनों एक ही हैं। इन धर्मों की यह एकता केवल अनुमान ही पर अवलंबित नहीं है। नारायणीय या भागवतधर्म के निरूपण में वैशंपायन जनमेजय से कहते हैं :–

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥

अर्थात् हे नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! यही उत्तम भागवतधर्म, विधियुक्त और संक्षिप्त रीति से हरिगीता अर्थात् भगवद्गीता में, तुझे पहले ही बतलाया गया है (म. भा. शां. ३४६. १०)। इसके बाद एक अध्याय छोड़ कर दूसरे अध्याय (म. भा. शां. ३४८. ८) में नारायणीय धर्म के संबंध में फिर भी स्पष्ट रीति से कहा गया है कि :–

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपांडवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥

अर्थात् कौरव-पांडव-युद्ध के समय जब अर्जुन उद्विग्न हो गया था तब स्वयं भगवान् ने उसे यह उपदेश किया था। इसमें यह स्पष्ट है, कि 'हरिगीता' से भगवद्गीता ही का मतलब है। गुरुपरंपरा की एकता के आतिरिक्त यह भी ध्यान में रखने योग्य है, कि जिस भागवतधर्म या नारायणीय धर्म के विषय में दो बार कहा गया है, कि वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है; उसी को 'सात्वत' या 'एकांतिक' धर्म भी कहा है। इसका विवेचन करते समय (शां. ३४७.८०, ८१). दो लक्षण कहे गये हैं :–

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥

अर्थात् यह नारायणीय धर्म प्रवृत्तिमार्ग का हो कर भी पुनर्जन्म को टालनेवाला अर्थात् पूर्ण मोक्ष का दाता है। फिर इस बात का वर्णन किया गया है, कि यह धर्म प्रवृत्तिमार्ग का कैसे है। प्रवृत्ति का यह अर्थ प्रसिद्ध ही है, कि संन्यास न लेकर मरणपर्यन्त चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम-कर्म ही करता रहे। इसलिये यह स्पष्ट है, कि गीता में जो उपदेश अर्जुन को किया गया है, वह भागवतधर्म का है; और उसको महाभारतकार प्रवृत्ति-विषयक ही मानते हैं। क्योंकि उपर्युक्त धर्म भी प्रवृत्ति-विषयक है। साथ साथ यदि ऐसा कहा जाय, कि गीता में केवल प्रवृत्तिमार्ग का ही भागवतधर्म है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वैशंपायन ने जनमेजय से फिर भी कहा है (म. भा. शां. ३४८.५३) :–

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥

अर्थात् हे राजा! यतियों – अर्थात् संन्यासियों – के निवृत्तिमार्ग का धर्म भी तुझे पहले भगवद्गीता में संक्षिप्त रीति से भागवतधर्म के साथ बतला दिया गया है; परन्तु यद्यपि गीता में प्रवृत्तिधर्म के साथ ही यतियों का निवृत्तिधर्म भी बतलाया गया है, तथापि मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि गीताधर्म की जो परंपरा गीता में दी गई है, वह यतिधर्म को लागू नहीं हो सकती। वह केवल भागवतधर्म ही की परंपरा से मिलती है। सारांश यह है, कि उपर्युक्त वचनों से महाभारतकार का यही अभिप्राय जान पड़ता है, कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश किया गया है, वह विशेष करके मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि परंपरा से चले हुए प्रवृत्ति-विषयक भागवतधर्म ही का है; और उसमें निवृत्ति-विषयक यतिधर्म का जो निरूपण पाया जाता है वह केवल आनुषंगिक है। पृथु, प्रियव्रत और प्रल्हाद आदि भक्तों की कथाओं से, तथा भागवत में दिये गये निष्काम-कर्म के वर्णनों से (भागवत. ४.२२. ५१, ५२; ७. १०. २३ और ११. ४. ६ देखो) यह भली भाँति मालूम हो जाता है, कि महाभारत का प्रवृत्ति-विषयक नारायणीय धर्म और भागवतपुराण का भाग-

वतधर्म, ये दोनों आदि में एक ही हैं। परन्तु भागवतपुराण का मुख्य उद्देश यह नहीं है, कि वह भागवतधर्म के कर्मयुक्त-प्रवृत्ति तत्त्व का समर्थन करे। यह समर्थन, महाभारत में और विशेष करके गीता में किया गया है, परंतु इस समर्थन के समय भागवतधर्मीय भक्ति का यथोचित रहस्य दिखलाना व्यासजी भूल गये थे। इसलिये भागवत के आरंभ के अध्यायों में लिखा है, कि (भागवत. १. ५. १२) बिना भक्ति के केवल निष्काम-कर्म व्यर्थ है यह सोच कर, और महाभारत की उक्त न्यूनता को पूर्ण करने के लिये ही, भागवतपुराण की रचना पीछे से की गई। इससे भागवतपुराण का मुख्य उद्देश स्पष्ट रीति से मालूम हो सकता है। यही कारण है कि भागवतमें अनेक प्रकार की हरिकथाएं कह कर भागवतधर्म की भगवद्भक्ति के माहात्म्य का जैसा विस्तापूर्वक वर्णन किया गया है, वैसा भागवतधर्म के कर्म-विषयक अंगों का विवेचन उसमें नहीं किया है। अधिक क्या, भागवतकार का यहाँ तक कहना, कि बिना भक्ति के सब कर्मयोग वृथा हैं (भाग. १. ५. ३४)। अतएव गीता के तात्पर्य का निश्चय करने में जिस महाभारत में गीता कही गई है, उसी नारायणीयोपाख्यान का जैसा उपयोग हो सकता है, वैसा भागवतधर्मीय होने पर भी, भागवतपुराण का उपयोग नहीं हो सकता; क्योंकि वह केवल भक्ति-प्रधान है। यदि उसका कुछ उपयोग किया भी जाय, तो इस बात पर भी ध्यान देना पड़ेगा, कि महाभारत और भागवत-पुराण के उद्देश और रचना-काल भिन्न भिन्न हैं। निवृत्तिविषयक यतिधर्म और प्रवृत्तिविषयक भागवतधर्मका मूलस्वरूप क्या है? इन दोनों में यह भेद क्यों है? मूल भागवतधर्म इस समय किस रूपान्तर से प्रचलित है? इत्यादि प्रश्नों का विचार आगे चल कर किया जायगा।

यह मालूम हो गया, कि स्वयं महाभारतकार के मतानुसार गीता का क्या तात्पर्य है। अब देखना चाहिये कि गीता के भाष्यकारों और टीकाकारों ने गीता का क्या तात्पर्य निश्चित किया है। इन भाष्यों तथा टीकाओं में आजकल श्री-शंकराचार्य कृत गीता-भाष्य अति प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि इसके भी पूर्व गीता पर अनेक भाष्य और टीकाएं लिखी जा चुकी थीं, तथापि वे अब उपलब्ध नहीं हैं; और इसी लिये जान नहीं सकते, कि महाभारत के रचना-काल से शंकराचार्य के समय तक गीता का अर्थ किस प्रकार किया जाता था। तथापि शांकरभाष्य ही में इन प्राचीन टीकाकारों के मतों का जो उल्लेख है (गी. शां. भा. म. २ और ३ का उपोद्घात देखो), उससे साफ़ साफ़ मालूम होता है, कि शंकराचार्य के पूर्वकालीन टीकाकार, गीता का अर्थ, महाभारत-कर्ता के अनुसार ही ज्ञानकर्म-समुच्चयात्मक किया करते थे। अर्थात् उसका यह प्रवृत्ति-विषयक अर्थ लगाया जाता था, कि ज्ञानी मनुष्य को ज्ञान के साथ साथ मृत्युपर्यंत स्वधर्म-विहित कर्म करना चाहिये। परन्तु वैदिक कर्मयोग का यह सिद्धान्त शंकराचार्य

को मान्य नहीं था। इसलिये उसका खंडन करने और अपने मत के अनुसार गीता का तात्पर्य बताने ही के लिये उन्होंने गीता-भाष्य की रचना की है। यह बात उक्त भाष्य के आरंभ के उपोद्घातमें स्पष्ट रीति से कही गई है। 'भाष्य' शब्द का अर्थ भी यही है। 'भाष्य' और ''टीका' का बहुधा समानार्थी उपयोग होता है; परन्तु सामान्यतः 'टीका' मूलग्रन्थ के सरल अन्वय और इसके सुगम अर्थ करने ही को कहते हैं। भाष्यकार इतनी ही बातों पर संतुष्ट नहीं रहता, वह उस ग्रन्थ की न्याययुक्त समालोचना करता है; अपने मतानुसार उसका तात्पर्य बतलाता है; और उसी के अनुसार वह यह भी बतलाता है, कि ग्रन्थ का अर्थ कैसे लगाना चाहिये। गीता के शांकरभाष्य का यही स्वरूप है। परन्तु गीता के तात्पर्य के विवेचन में शंकराचार्य ने जो भेद किया है उसका कारण जानने के पहले थोड़ासा पूर्वकालिक इतिहास भी यहीं पर जान लेना चाहिये। वैदिक धर्म केवल तान्त्रिक धर्म नहीं है। उसमें जो गूढ तत्त्व हैं, उनका सूक्ष्म विवेचन प्राचीन समय ही में उपनिषदों में हो चुका है; परन्तु ये उपनिषद् भिन्न भिन्न विषयों के द्वारा भिन्न भिन्न समय में बनाये गये हैं। इसलिये उनमें कहीं कहीं विचार-विभिन्नता भी आ गई है। इस विचार-विरोध को मिटाने के लिये ही बादरायणाचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रों में सब उपनिषदों की विचारैक्यता कर दी है; और इसी कारण से वेदान्तसूत्र भी उपनिषदों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं। इन्हीं वेदान्तसूत्रों का दूसरा नाम 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'शारीरकसूत्र' है। तथापि वैदिक कर्म के तत्त्वज्ञान का पूर्ण विचार इतने से ही नहीं हो सकता। क्योंकि उपनिषदों का ज्ञान प्रायः वैराग्यविषयक अर्थात् निवृत्तिविषयक है; और वेदान्तसूत्र तो सिर्फ उपनिषदों का मतैक्य करने ही के उद्देश से बनाये गये हैं। इसलिये उनमें भी वैदिक प्रवृत्तिमार्ग का विस्तृत विवेचन कहीं भी नहीं किया है। इसीलिये उपर्युक्त कथानुसार जब प्रवृत्तिमार्ग-प्रतिपादक भगवद्गीता ने वैदिक धर्म की तत्त्वज्ञानसंबंधी इस न्यूनता की पूर्ति पहले पहल की, तब उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों के मार्मिक तत्त्वज्ञान की पूर्णता करनेवाला यह भगवद्गीता ग्रन्थ भी, उन्हीं के समान, सर्वमान्य और प्रमाणभूत हो गया। और, अन्त में उपनिषदों, वेदान्तसूत्रों और भगवद्गीता का 'प्रस्थानत्रयी' नाम पड़ा। 'प्रस्थानत्रयी' का यह अर्थ है कि उसमें वैदिक धर्म के आधारभूत तीन मुख्य ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का नियमानुसार तथा तात्त्विक विवेचन किया है। इस तरह प्रस्थानत्रयी में गीत के गिने जाने पर और प्रस्थानत्रयी का दिनो-दिन अधिकाधिक प्रचार होने पर वैदिक धर्म के लोग उन मतों और संप्रदायों को गौण अथवा अग्राह्य मानने लगे, जिनका समावेश उक्त तीन ग्रन्थों में नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि बौद्धधर्म के पतन के बाद वैदिक धर्म के जो जो संप्रदाय (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि) हिंदुस्थान में प्रचलित हुए,

उनमें से प्रत्येक संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य को, प्रस्थानत्रयी के तीनों भागोंपर (अर्थात् भगवद्गीता पर भी) भाष्य लिख कर, यह सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता हुई, कि इन सब संप्रदायों के जारी होने के पहले ही जो तीन 'धर्मग्रन्थ' प्रमाण समझे जाते थे, उन्हीं के आधार पर हमारा संप्रदाय स्थापित हुआ है और अन्य संप्रदाय इन धर्मग्रन्थों के अनुसार नहीं हैं। ऐसा करने का कारण यही है, कि यदि कोई आचार्य यही स्वीकार कर लेते कि अन्य संप्रदाय भी प्रमाणभूत धर्मग्रन्थों के आधार पर स्थापित हुए हैं, तो उनके संप्रदाय का महत्त्व घट जाता – और, ऐसा करना किसी भी संप्रदाय को इष्ट नहीं था। सांप्रदायिक दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की यह रीति जब चल पड़ी, तब भिन्न भिन्न पंडित अपने संप्रदायों के भाष्यों के आधार पर टीकाएं लिखने लगे। यह टीका उसी संप्रदाय के लोगों को अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके भाष्य के अनुसार वह लिखी जाती थी। इस समय गीता पर जितने भाष्य और जितनी टीकाएं उपलब्ध हैं उनमेंसे प्रायः सब इसी सांप्रदायिक रीति से लिखी गई हैं। इसका परिणाम यह हुआ, कि यद्यपि मूल गीता में एक ही अर्थ सुबोध रीति से प्रतिपादित हुआ है तथापि गीता भिन्न भिन्न संप्रदायों की समर्थक समझी जाने लगी। इन सब संप्रदायों में से शंकराचार्य का संप्रदाय अति प्राचीन है और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वही हिन्दुस्थान में सब से अधिक मान्य भी हुआ है। श्रीमदाद्यशंकराचार्य का जन्म संवत् ८४५ (शक ७१०) में हुआ था। बत्तीसवें वर्ष में उन्होंने गुहा-प्रवेश किया (संवत् ८४५ से ८७७*)। श्रीशंकराचार्य बड़े भारी और अलौकिक विद्वान् तथा ज्ञानी थे। उन्होंने अपनी दिव्य अलौकिक शक्ति से उस समय चारों ओर फैले हुए जैन और बौद्धमतों का खंडन करके अपना अद्वैत मत स्थापित किया; श्रुतिस्मृति-विहित वैदिक धर्म की रक्षा के लिये, भरतखंड की चारों दिशाओं में चार मठ बनवा कर, निवृत्तिमार्ग के वैदिक संन्यास-धर्म को कलियुग में पुनर्जन्म दिया। यह कथा किसी से छिपी नहीं है। आप किसी भी धार्मिक संप्रदाय को लीजिये, उसके दो स्वाभाविक विभाग अवश्य होंगे: पहला तत्त्वज्ञान का और दूसरा आचरण का। पहले में पिंड-ब्रह्मांड के विचारों से परमेश्वर के स्वरूप का निर्णय करके मोक्ष का भी शास्त्र-रीत्यानुसार निर्णय किया जाता है। दूसरे में इस बात का विवेचन किया जाता है, कि मोक्ष की प्राप्ति के साधन या उपाय क्या हैं – अर्थात् इस संसार में मनुष्य को किस तरह बर्ताव करना चाहिये। इनमें से पहली अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से देखने पर शंकराचार्य का कथन यह है कि:– (१) मैं-तू यानी मनुष्य की आँख

* यह बात आजकल निश्चित हो चुकी है; परंतु हमारे मत से श्रीमदाद्यशंकराचार्य का समय और भी इसके सौ वर्ष पूर्व समझना चाहिये। इस आधार के लिये परिशिष्ट प्रकरण देखो।

से दिखनेवाला सारा जगत् अर्थात् सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है। इन सब में एक ही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा करता है और उसी की माया से मनुष्य की इंद्रियों को भिन्नता का भास हुआ है; (२) मनुष्य का आत्मा भी मूलतः परब्रह्मरूप ही है; और (३) आत्मा और परब्रह्म की एकता का पूर्ण-ज्ञान अर्थात् अनुभवसिद्ध पहचान हुए बिना कोई भी मोक्ष नहीं पा सकता। इसी को 'अद्वैतवाद' कहते हैं। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि एक शुद्ध-बुद्ध-नित्य-मुक्त परब्रह्म के सिवा दूसरी कोई भी स्वतंत्र और सत्य वस्तु नहीं है; दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम, या माया की उपाधि से होनेवाला आभास है; माया कुछ सत्य या स्वतंत्र वस्तु नहीं है – वह मिथ्या है। केवल तत्त्वज्ञान का ही यदि विचार करना हो तो शांकर मत की इससे अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु शांकर-संप्रदाय इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। अद्वैत तत्त्वज्ञान के साथ ही शांकर-संप्रदाय का और भी एक सिद्धान्त है जो आचार-दृष्टि से पहले ही के समान महत्त्व का है। उसका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि चित्तशुद्धि के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता पाने के लिये स्मृति-ग्रन्थों में कहे गये गृहस्थाश्रम के कर्म अत्यंत आवश्यक हैं, तथापि इन कर्मों का आचरण सदैव न करते रहना चाहिये; क्योंकि उन सब कर्मों का त्याग करके अंत में संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी हैं। इसलिये सब वासनाओं और कर्मों के छूटे बिना ब्रह्मज्ञान की पूर्णता ही नहीं हो सकती। इसी सिद्धान्त को 'निवृत्तिमार्ग' कहते हैं; और सब कर्मों का संन्यास करके ज्ञान ही में निमग्न रहते हैं, इसलिये 'संन्यासनिष्ठा' या 'ज्ञाननिष्ठा' भी कहते हैं। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य का जो भाष्य है उसमें यह प्रतिपादन किया गया है कि उक्त ग्रंथों में केवल अद्वैत ज्ञान ही नहीं है, किंतु उनमें संन्यासमार्ग का, अर्थात् शांकर संप्रदाय के उपयुक्त दोनों भागों का भी, उपदेश है; और गीता पर जो शांकरभाष्य है उसमें कहा गया है कि गीता का तात्पर्य भी ऐसा ही है (गी. शां. भा. उपोद्घात और ब्रह्म. सू. शां. भा. २. १. १४ देखो) इसके प्रमाण-स्वरूप में गीता के कुछ वाक्य भी दिये गये हैं; जैसे "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते" – अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि से ही सब कर्म जल कर भस्म हो जाते हैं (गी. ४. ३७) और "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" –अर्थात् सब कर्मों का अंत ज्ञान ही में होता है (गी. ४.३३)। सारांश यह है, कि बौद्धधर्म की हार होने पर प्राचीन वैदिक धर्म के जिस विशिष्ट मार्ग को श्रेष्ठ ठहरा कर श्रीशंकराचार्य ने स्थापित किया उसी से अनुकूल गीता का भी अर्थ है; गीतामें ज्ञान और कर्म के समुच्चय का प्रतिपादन नहीं किया गया है, जैसा कि पहले के टीकाकारों ने कहा है; किन्तु उसमें (शांकर-संप्रदाय के)

उसी सिद्धान्त का उपदेश दिया गया है, कि कर्म ज्ञान-प्राप्ति का गौण साधन है और सर्वकर्म-संन्यासपूर्वक ज्ञान ही से मोक्ष की प्राप्ति होती है – यही बातें बतलाने के लिये शांकरभाष्य लिखा गया है। इनके पूर्व यदि एक-आध और भी संन्यासविषयक टीका लिखी गई हो तो वह इस समय उपलब्ध नहीं है। इस लिये यही कहना पड़ता है कि गीता के प्रवृत्ति-विषयक स्वरूप को बाहर निकाल करके उसे निवृत्तिमार्ग का सांप्रदायिक रूप शांकरभाष्य के द्वारा ही मिला है। श्रीशंकराचार्य के बाद इस संप्रदाय के अनुयायी मधुसूदन आदि जितने अनेक टीकाकार हो गये हैं, उन्होंने इस विषय में बहुधा शंकराचार्य ही का अनुकरण किया है। इसके बाद एक यह अद्भुत विचार उत्पन्न हुआ, कि अद्वैत मत के मूलभूत महावाक्यों में से "तत्त्वमसि" नामक जो महावाक्य छांदोग्योपनिषद् में है उसी का विवरण गीता के अठारह अध्यायों में किया गया है। परन्तु इस महावाक्य के क्रमको बदल कर, पहले 'त्वं' फिर 'तत्' और फिर 'असि' इन पदों को लेकर, इस नये क्रमानुसार प्रत्येक पद के लिये गीता के आरंभ से छः छः अध्याय श्रीभगवान् ने निष्पक्षपातबुद्धि से बाँट दिये हैं। कई लोग समझते हैं, कि गीता पर जो पैशाच भाष्य है वह किसी भी संप्रदाय का नहीं है – बिलकुल स्वतंत्र है, और हनुमानजी (पवनसुत) कृत है। परन्तु यथार्थ बात ऐसी नहीं है। भागवत के टीकाकार हनुमान पंडित ने ही इस भाष्य को बनाया है और यह संन्यासमार्ग का है। इसमें कई स्थानोंपर शांकरभाष्यका ही अर्थ शब्दशः दिया गया है। प्रोफेसर मेक्समूलर की प्रकाशित 'प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला' में स्वर्गवासी काशीनाथपंत तैलंग कृत भगवद्गीताका अंग्रेजी अनुवाद भी है। इसकी प्रस्तावना में लिखा है कि इस अनुवाद में श्रीशंकराचार्य और शांकर संप्रदायी टीकाकारोंका, जितना हो सका उतना, अनुसरण किया गया है।

गीता और प्रस्थानत्रयी के अन्य ग्रंथों पर जब इस भाँति सांप्रदायिक भाष्य लिखने की रीति प्रचलित हो गई, तब दूसरे संप्रदाय भी इस बात का अनुकरण करने लगे। मायावाद, अद्वैत और संन्यास का प्रतिपादन करनेवाले शांकरसंप्रदाय के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद, श्रीरामानुजाचार्य (जन्म संवत् १०७३) ने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय चलाया। अपने संप्रदाय को पुष्ट करने के लिये उन्होंने भी, शंकराचार्य ही के समान, प्रस्थानत्रयी पर (और गीता पर भी) स्वतंत्र भाष्य लिखे हैं। इस संप्रदाय का मत यह है, कि शंकराचार्य का माया-मिथ्यात्व-वाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनों झूठ हैं। जीव, जगत् और ईश्वर ये तीन तत्त्व यद्यपि भिन्न हैं, तथापि जीव (चित्) और जगत् (अचित्) ये दोनों एक ही ईश्वर के शरीर हैं। इसलिये चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है, और ईश्वर शरीर के इस सूक्ष्म चित्-अचित् से ही फिर स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीव और जगत् की उत्पत्ति हुई है। तत्त्वज्ञान-दृष्टि से रामानुजाचार्य का कथन है

(गी. रा. भा. २.१२; १३.२) कि यही मतका (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है) उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीता में भी प्रतिपादन हुआ है। अब यदि कहा जाय कि इन्हीं के ग्रंथों के कारण भागवतधर्म में विशिष्टाद्वैत मत सम्मिलित हो गया है तो कुछ अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि इनके पहले महाभारत और गीता में भागवतधर्म का जो वर्णन पाया जाता है उनमें केवल अद्वैत मत ही का स्वीकार किया गया है। रामानुजाचार्य भागवतधर्मी थे। इसलिये यथार्थ में उनका ध्यान इस बात की ओर जाना चाहिये था, कि गीता में प्रवृत्ति-विषयक कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु उनके समय में मूल भागवतधर्म का कर्मयोग प्रायः लुप्त हो गया था; और उसको तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत स्वरूप तथा आचरण की दृष्टि से मुख्यतः भक्ति का स्वरूप प्राप्त हो चुका था। इन्हीं कारणों से रामानुजाचार्य ने (गी. रा. भा. १८.१ और ३.१) यह निर्णय किया है, कि गीता में यद्यपि ज्ञान, कर्म और भक्ति का वर्णन है तथापि तत्त्वज्ञान-दृष्टि से विशिष्टाद्वैत और आचार-दृष्टि से वासुदेवभक्ति ही गीता का सारांश है और कर्मनिष्ठा कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं–वह केवल ज्ञाननिष्ठा की उत्पादक है। शांकर-संप्रदाय के अद्वैतज्ञान के बदले विशिष्टाद्वैत और संन्यास के बदले भक्ति को स्थापित करके रामानुजाचार्य ने भेद तो किया, परन्तु उन्होंने आचार-दृष्टि से भक्ति ही को अंतिम कर्तव्य माना है। इससे वर्णाश्रम-विहित सांसारिक कर्मों का मरणपर्यंत किया जाना गौण हो जाता है; और यह कहा जा सकता है, कि गीताका रामानुजीय तात्पर्य भी एक प्रकार से कर्मसंन्यास-विषयक ही है। कारण यह है कि कर्माचरण से चित्तशुद्धि होने के बाद ज्ञान की प्राप्ति होने पर चतुर्थाश्रम का स्वीकार करके ब्रह्मचिन्तन में निमग्न रहना, या प्रेमपूर्वक निस्सीम वासुदेव-भक्ति में तत्पर रहना, कर्मयोग की दृष्टि से एक ही बात है। ये दोनों मार्ग निवृत्ति-विषयक हैं। यही आक्षेप, रामानुज के बाद प्रचलित हुए संप्रदायों पर भी हो सकता है। माया को मिथ्या कहनेवाले संप्रदाय को झूठ मान कर वासुदेव-भक्ति को ही सच्चा मोक्ष-साधन बतलानेवाले रामानुज-संप्रदाय के बाद एक तीसरा संप्रदाय निकला। उसका मत है कि परब्रह्म और जीव को कुछ अंशों में एक, और कुछ अंशों में भिन्न मानना परस्पर-विरुद्ध और असंबद्ध बात है। इसलिये दोनों को सदैव भिन्न मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनों में पूर्ण अथवा अपूर्ण रीति से भी एकता नहीं हो सकती। इस तीसरे संप्रदाय को 'द्वैत संप्रदाय' कहते हैं। इस संप्रदाय के लोगों का कहना है, कि इनके प्रवर्तक श्रीमध्वाचार्य (श्रीमदानंदतीर्थ) थे, जो संवत् १२५५ में समाधिस्थ हुए और उस समय उनकी अवस्था ७९ वर्ष की थी। परन्तु डाक्टर भांडारकर ने जो एक अंग्रेजी ग्रन्थ "वैष्णव, शैव और अन्य पन्थ" नामक, हाल ही में प्रकाशित किया है उसके पृष्ठ ५६ में शिलालेख आदि प्रमाणों से यह

सिद्ध किया गया है, कि मध्वाचार्य का समय संवत् १२५४ से १३३३ तक था। प्रस्थानत्रयी पर (अर्थात् गीता पर भी) श्रीमध्वाचार्य के जो भाष्य हैं उनमें प्रस्थानत्रयी के सब ग्रन्थों का द्वैतमत-प्रतिपादक होना ही बतलाया गया है। गीता के अपने भाष्य में मध्वाचार्य कहते हैं, कि यद्यपि गीता में निष्काम-कर्म के महत्त्व का वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है; और भक्ति ही अंतिम निष्ठा है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना बराबर है। " ध्यानात् कर्मफलत्यागः "– परमेश्वर के ध्यान अथवा भक्ति की अपेक्षा कर्मफलत्याग अर्थात् निष्काम-कर्म करना श्रेष्ठ है – इत्यादि गीता के कुछ वचन इस सिद्धान्त के विरुद्ध हैं; परन्तु गीता के माध्वभाष्य (गी. मा. भा. १२.१३) में लिखा है, कि इन वचनों को अक्षरशः सत्य न समझ कर अर्थवादात्मक ही समझना चाहिये। चौथा संप्रदाय श्रीवल्लभाचार्य (जन्म संवत् १५३६) का है। रामानुजीय और माध्वसंप्रदायों के समान ही यह संप्रदाय वैष्णवपंथी है। परन्तु जीव, जगत् और ईश्वर के संबंध में, इस संप्रदाय का मत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत मतों से भिन्न है। यह पंथ इस मत को मानता है, कि मायारहित शुद्ध जीव और परब्रह्म ही एक वस्तु है; दो नहीं। इसलिये इसको 'शुद्धाद्वैती' संप्रदाय कहते हैं। तथापि वह श्रीशंकराचार्य के समान इस बात को नहीं मानता, कि जीव और ब्रह्म एक ही है; और इसके सिद्धान्त कुछ ऐसे हैं – जैसे जीव अग्नि की चिनगारी के समान ईश्वर का अंश है, मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है; माया परमेश्वर की इच्छा से विभक्त हुई एक शक्ति है; मायाधीन जीव को बिना ईश्वर की कृपा के मोक्षज्ञान नहीं हो सकता; इसलिये मोक्ष का मुख्य साधन भगवद्भक्ति ही है – जिनमें यह संप्रदाय शांकर-संप्रदाय से भी भिन्न हो गया है। इस मार्गवाले परमेश्वर के अनुग्रह को 'पुष्टि' और 'पोषण' भी कहते हैं, जिससे यह पंथ 'पुष्टिमार्ग' भी कहलाता है। इस संप्रदाय के तत्त्वदीपिका आदि जितने गीतासंबंधी ग्रन्थ हैं, उनमें यह निर्णय किया गया है, कि भगवान् ने अर्जुन को पहले सांख्यज्ञान और कर्मयोग बतलाया है; एवं अन्त में उसको भक्त्यमृत पिला कर कृतकृत्य किया है। इसलिये भगवद्भक्ति – और विशेषतः निवृत्ति-विषयक पुष्टिमार्गीय भक्ति – ही गीता का प्रधान तात्पर्य है। यही कारण है कि भगवान् ने गीता के अन्त में यह उपदेश दिया है, कि " सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज " – सब धर्मों को छोड़ कर केवल मेरी ही शरण ले (गी. १८.६६)। उपर्युक्त संप्रदायों के अतिरिक्त निम्बार्क का चलाया हुआ एक और वैष्णव संप्रदाय है, जिसमें राधाकृष्ण की भक्ति कही गई है। डाक्टर भांडारकर ने निश्चित किया है, कि ये आचार्य – रामानुज के बाद और मध्वाचार्य के पहले – करीब संवत् १२१६ में हुए थे। जीव, जगत् और ईश्वर के संबंध में निम्बार्काचार्य का यह मत है, कि यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत् का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है – स्वतंत्र नहीं

है – और परमेश्वर में ही जीव और जगत् के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। इस मत को सिद्ध करने के लिये निम्बार्काचार्य ने वेदान्तसूत्रों पर एक स्वतंत्र भाष्य लिखा है। इसी संप्रदाय के केशव काश्मीरिभट्टाचार्य ने गीता पर 'तत्त्व-प्रकाशिका' नामक टीका लिखी है; और उसमें यह बतलाया है, कि गीता का वास्तविक अर्थ इसी संप्रदाय के अनुकूल है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत पंथ से इस संप्रदाय को अलग करने के लिये इसे 'द्वैताद्वैती' संप्रदाय कह सकेंगे। यह बात स्पष्ट है, कि ये सब भिन्न भिन्न संप्रदाय शांकर-संप्रदाय के मायावाद को स्वीकृत न करके ही पैदा हुए हैं; क्योंकि इनकी यह समझ थी, कि आँख से दिखनेवाली वस्तु को सच्ची माने बिना व्यक्त की उपासना अर्थात् भक्ति निराधार या किसी अंश में मिथ्या भी हो जाती है। परंतु यह कोई आवश्यक बात नहीं है, कि भक्ति की उपपात्ति के लिये अद्वैत और मायावाद को बिलकुल छोड़ ही देना चाहिये। महाराष्ट्र के और अन्य साधु-संतों ने, मायावाद और अद्वैत का स्वीकार करके भी भक्ति का समर्थन किया है; और मालूम होता है, कि यह भक्तिमार्ग श्रीशंकराचार्य के पहले ही से चला आ रहा है। इस पंथ में शांकर-संप्रदाय के कुछ सिद्धान्त – अद्वैत, माया का मिथ्या होना, और कर्मत्याग की आवश्यकता – ग्राह्य और मान्य हैं। परंतु इस पंथ का यह भी मत है, कि ब्रह्मात्मैक्यरूप मोक्ष की प्राप्ति का सब से सुगम साधन भक्ति है। गीता में भगवान् ने पहले यही कारण बतलाया है, कि "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" (गी. १२.५) अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म में चित्त लगाना अधिक क्लेशमय है; और फिर अर्जुन को यही उपदेश दिया है, कि "भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः" (गी. १२.२०) अर्थात् मेरे भक्त ही मुझ को अतिशय प्रिय हैं। अत एव यह बात है, कि अद्वैतपर्यवसायी भक्तिमार्ग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। श्रीधरस्वामी ने भी गीता की अपनी टीका (गी. १८.७८) में गीता का ऐसा ही तात्पर्य निकाला है। मराठी भाषा में इस संप्रदाय का गीतासंबंधी सर्वोत्तम ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' है। इसमें कहा गया है, कि गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्म, बीच के छः अध्यायों में भक्ति और अंतिम छः अध्याओं में ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है; और स्वयं ज्ञानेश्वरमहाराज ने अपने ग्रंथ के अंत में कहा है, कि मैंने गीता की यह टीका शंकराचार्यके भाष्यानुसार की है। परंतु ज्ञानेश्वरी को इस कारण से बिलकुल स्वतंत्र ग्रंथ ही मानना चाहिये, कि इसमें गीता का मूल अर्थ बहुत बढ़ा कर अनेक सरस दृष्टान्तों से समझाया गया है; और इसमें विशेष करके भक्तिमार्ग का तथा कुछ अंश में निष्काम-कर्म का श्रीशंकराचार्य से भी उत्तम विवेचन किया गया है। ज्ञानेश्वरमहाराज स्वयं योगी थे, इसलिये गीता के छठवे अध्याय के जिस श्लोक में पातंजल योगाभ्यास का विषय आया है उसकी उन्हों ने विस्तृत टीका की है। उनका कहना है, कि श्रीकृष्ण भगवान् ने इस अध्याय के अंत (गी. ६.४६) में अर्जुन को यह उपदेश

करके, कि " तस्माद्योगी भवार्जुन " – इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी हो अर्थात् योगाभ्यास में प्रवीण हो – अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है, कि सब मोक्षपंथों में पातंजल योग ही सर्वोत्तम है; और इसलिये आपने उसे ' पंथराज ' कहा है। सारांश यह है, कि भिन्न भिन्न सांप्रदायिक भाष्यकारों ने गीता का अर्थ अपने मतों के अनुकूल ही निश्चित कर लिया है। प्रत्येक संप्रदाय का यही कथन है, कि गीता का प्रवृत्तिविषयक कर्ममार्ग अप्रधान (गौण) है अर्थात् केवल ज्ञान का साधन है। गीता में वही तत्त्वज्ञान पाया जाता है, जो अपने संप्रदाय में स्वीकृत हुआ है। अपने संप्रदाय में मोक्ष की दृष्टि से जो आचार अंतिम कर्तव्य माने गये हैं, उन्हीं का वर्णन गीता में किया गया है – अर्थात् मायावादात्मक अद्वैत और कर्मसंन्यास, मायासत्यत्वप्रतिपादक विशिष्टाद्वैत और वासुदेव-भक्ति, द्वैत और विष्णुभक्ति, शुद्धाद्वैत और भक्ति, शांकरद्वैत और भक्ति, पातंजल योग और भक्ति, केवल भक्ति, केवल योग या केवल ब्रह्मज्ञान (अनेक प्रकार के निवृत्ति-विषयक मोक्षमार्ग) ही गीता के प्रधान तथा प्रतिपाद्य विषय है।* हमारा ही नहीं, किंतु प्रसिद्ध महाराष्ट्र-कवि वामन पंडित का भी मत ऐसा ही है। गीता पर आपने 'यथार्थदीपिका' नामक विस्तृत मराठी टीका लिखी है। उसके उपोद्घात में वे पहले लिखते हैं :– " हे भगवन् ! इस कलियुग में जिसके मत में जैसा जँचता है, उसी प्रकार हर एक आदमी गीता का अर्थ लिख देता है "। और फिर शिकायत के तौर पर लिखते हैं :– " हे परमात्मन् ! सब लोगों ने किसी-न-किसी बहाने से गीता का मनमाना अर्थ किया है, परंतु इन लोगों का किया हुआ अर्थ मुझे पसंद नहीं। भगवन् ! मैं क्या करूं ? " अनेक सांप्रदायिक टीकाकारों के मत की इस भिन्नता को देख कर कुछ लोग कहते हैं, कि जब कि ये सब मोक्ष-संप्रदाय परस्पर-विरोधी हैं; और जब कि इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता, कि इनमें से कोई एक ही संप्रदाय गीता में प्रतिपादित किया गया है, तब तो यही मानना उचित है, कि इन सब मोक्ष-साधनों का – विशेषतः कर्म, भक्ति और ज्ञान का – वर्णन स्वतंत्र रीति से संक्षेप में और पृथक् पृथक् करके भगवान् ने अर्जुन का समाधान किया है। कुछ लोग कहते हैं, कि मोक्ष के अनेक उपायों का यह सब वर्णन पृथक् पृथक् नहीं है; किंतु इन सब की एकता ही गीता में सिद्ध की गई है। और, अंत में, कुछ लोग तो यह भी कहते हैं, कि गीता में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या यद्यपि मामूली ढंग पर देखने से सुलभ मालूम होती है, तथापि उसका वास्तविक मर्म अत्यंत गूढ है, जो बिना गुरु के किसी की भी समझ में नहीं आ सकता (गी. ४.३४)। गीता

---

* भिन्न भिन्न सांप्रदायिक आचार्यों के गीता के भाष्य और मुख्य मुख्य पंद्रह टीका-ग्रंथ, बम्बई के गुजराती प्रिंटिंग प्रेस के मालिक ने, हाल ही में एकत्र प्रकाशित किये हैं। भिन्न भिन्न टीकाकारों के अभिप्राय को एकदम जानने के लिये यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है।

पर भले ही अनेक टीकाएँ हो जायँ, परंतु उसका गूडार्थ जानने के लिये गुरुदीक्षा के सिवा और कोई उपाय नहीं है।

अब यह बात स्पष्ट है, कि गीता के अनेक प्रकार के तात्पर्य कहे गये हैं। पहले तो स्वयं महाभारतकार ने भागवत-धर्मानुसारी अर्थात् प्रवृत्तिविषयक तात्पर्य बतलाया है। इसके बाद अनेक पंडित, आचार्य, कवि, योगी और भक्तजनों ने अपने संप्रदाय के अनुसार शुद्ध निवृत्तिविषयक तात्पर्य बतलाया है। इन भिन्न भिन्न तात्पर्यों को देख कर कोई भी मनुष्य घबड़ा कर सहज ही यह प्रश्न कर सकता है – क्या, ऐसे परस्पर-विरोधी अनेक तात्पर्य एक ही गीताग्रंथ से निकल सकते हैं? और, यदि निकल सकते हैं, तो इस भिन्नता का हेतु क्या है? इसमें संदेह नहीं, कि भिन्न भिन्न भाष्यों के आचार्य बड़े विद्वान्, धार्मिक और सुशील थे। यदि कहा जाय, कि शंकराचार्य के समान महातत्त्वज्ञानी आज तक संसार में कोई भी नहीं हुआ है, तो भी अतिशयोक्ति न होगी। तब फिर इनमें और इनके बाद के आचार्यों में इतना मतभेद क्यों हुआ? गीता कोई इंद्रजाल नहीं है कि जिससे मनमाना अर्थ निकाल लिया जावे। उपर्युक्त संप्रदायों के जन्म के पहले ही गीता बन चुकी थी। भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश इसलिये दिया था कि उसका भ्रम दूर हो; कुछ इसलिये नहीं कि उसका भ्रम और भी बढ़ जाय। गीता में एक ही विशेष और निश्चित अर्थ का उपदेश किया गया है (गी. ५. १, २) और अर्जुन पर उस उपदेश का अपेक्षित परिणाम भी हुआ है। इतना सब कुछ होने पर भी गीता के तात्पर्यार्थ के विषय में इतनी गड़बड़ क्यों हो रही है? यह प्रश्न कठिण है सही; परंतु इसका उत्तर उतना कठिण नहीं है, जितना पहले पहले मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक मीठे और सुरस पक्वान्न (मिठाई) को देख कर अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसी ने उसे गेहूँ का, किसी ने घी का और किसी ने शक्कर का बना हुआ बतलाया, तो हम उनमें से किसको झूठ समझें? अपने अपने मतानुसार तीनों का कहना ठीक है। इतना होने पर भी इस प्रश्न का निर्णय नहीं हुआ कि वह पक्वान्न (मिठाई) बना किस चीज से है। गेहूँ, घी और शक्कर से अनेक प्रकार के पक्वान्न (मिठाई) बन सकते हैं। परंतु प्रस्तुत पक्वान्न का निश्चय केवल इतना कहने से ही नहीं हो सकता कि वह गोधूमप्रधान, घृत-प्रधान, या शर्कराप्रधान है। समुद्र-मंथन के समय किसी को अमृत, किसी को विष, किसी को लक्ष्मी, ऐरावत, कौस्तुभ, पारिजात आदि भिन्न भिन्न पदार्थ मिले; परंतु इतने ही से समुद्र के यथार्थ स्वरूप का कुछ निर्णय नहीं हो गया। ठीक इसी तरह सांप्रदायिक रीति से गीता-सागर को मथनेवाले टीकाकारों की अवस्था हो गई है। दूसरा उदाहरण लीजिये। कंसवध के समय भगवान् श्रीकृष्ण जब रंग-मंडप में आये, तब वे प्रेक्षकोंको भिन्न भिन्न स्वरूप के – जैसे योद्धा को वज्र-सदृश, स्त्रियों को कामदेव-सदृश, अपने माता-पिता को पुत्र-सदृश दिखने लगे थे। इसी तरह

गीता के एक होने पर भी वह भिन्न भिन्न संप्रदायवालों को भिन्न भिन्न स्वरूप में दिखने लगी है। आप किसी भी संप्रदाय को लें; यह बात स्पष्ट मालूम हो जायगी, कि उसको सामान्यतः प्रमाणभूत धर्मग्रंथों का अनुसरण ही करना पड़ता है; क्योंकि ऐसा न करने से वह संप्रदाय सब लोगों की दृष्टि में अमान्य हो जायगा। इसलिये वैदिक धर्म में अनेक संप्रदायों के होने पर भी कुछ विशेष बातों को छोड़ कर–जैसे ईश्वर, जीव और जगत् का परस्पर सबंध–शेष सब बातें सब संप्रदायों में प्रायः एक ही सी होती हैं। इसी का परिणाम यह देख पड़ता है, कि हमारे धर्म के प्रमाणभूत ग्रंथों पर जो सांप्रदायिक भाष्य या टीकाएँ हैं, उनमें मूलग्रंथों के फ़ी-सदी नब्बे से भी अधिक वचनों या श्लोकों का भावार्थ, एक ही सा है। जो कुछ भेद है, वह शेष वचनों या श्लोकों के विषय ही में है। यदि इन वचनों का सरल अर्थ लिया जाय तो वह सभी संप्रदायों के लिये समान अनुकूल नहीं हो सकता। इसलिये भिन्न भिन्न सांप्रदायिक टीकाकार इन वचनों में से जो अपने संप्रदाय के लिये अनुकूल हों, उन्हीं को प्रधान मान कर और अन्य सब वचनों को गौण समझ कर, अथवा प्रतिकूल वचनों के अर्थ को किसी युक्ति से बदल कर, या सुबोध तथा सरल वचनों में से कुछ श्लेषार्थ या अनुमान निकाल कर, यह प्रतिपादन किया करते हैं, कि हमारा ही संप्रदाय उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, गीता २,१२ और १६; ३.१९; ६.३; और १८.२ श्लोकों पर हमारी टीका देखो। परंतु यह बात सहज ही किसी की समझ में आ सकती है, कि उक्त सांप्रदायिक रीति से किसी ग्रंथ का तात्पर्य निश्चित करना; और इस बात का अभिमान न करके, कि गीता में अपना ही संप्रदाय प्रतिपादित हुआ है; अथवा अन्य किसी भी प्रकार का अभिमान न करके समग्र ग्रंथ की स्वतंत्र रीति से परीक्षा करना; और उस परीक्षा ही के आधार पर ग्रंथ का मथितार्थ निश्चित करना, ये दोनों बातें स्वभावतः अत्यंत भिन्न हैं।

ग्रंथ के तात्पर्य-निर्णय की सांप्रदायिक दृष्टि सदोष है। इसलिये इसे यदि छोड़ दे, तो अब यह बतलाना चाहिये, कि गीता का तात्पर्य जानने के लिये दूसरा साधन है क्या। ग्रंथ, प्रकरण और वाक्यों के अर्थ का निर्णय करने में मीमांसक लोग अत्यंत कुशल होते हैं। इस विषय में उन लोगों का एक प्राचीन और सर्वसामान्य श्लोक है–

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

जिसमें वे कहते हैं–किसी भी लेख, प्रकरण अथवा ग्रंथ के तात्पर्य का निर्णय करने में, उक्त श्लोक में कही हुई सात बातें साधन-(लिंग) स्वरूप हैं; इसलिये इन सब बातों पर अवश्य विचार करना चाहिये। इनमें सबसे पहली बात

'उपक्रमोपसंहारौ' अर्थात् ग्रन्थ का आरम्भ और अन्त है। कोई भी मनुष्य अपने मन में कुछ विशेष हेतु रख कर ही ग्रन्थ लिखना आरम्भ करता है; और उस हेतु के सिद्ध होने पर ग्रन्थ को समाप्त करता है। अतएव ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय के लिये उपक्रम और उपसंहार ही का सबसे पहले विचार किया जाना चाहिये। सीधी रेखा की व्याख्या करते समय भूमितिशास्त्र में ऐसा कहा गया है, कि आरम्भ के बिन्दु से जो रेखा दाहिने-बाएं या ऊपर-नीचे किसी तरफ नहीं झुकती और अन्तिम बिंदु तक सीधी चली जाती है, उसे सरल रेखा कहते हैं। ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय में भी यही सिद्धान्त उपयुक्त है। जो तात्पर्य ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त में साफ़ साफ़ झलकता है वही ग्रन्थ का सरल तात्पर्य है। आरम्भ से अंत तक जाने के लिये यदि अन्य मार्ग हों भी, तो उन्हें टेढ़े समझना चाहिये। आद्यन्त देख कर ग्रन्थ का तात्पर्य पहले निश्चित कर लेना चाहिये; और तब यह देखना चाहिये, कि उस ग्रन्थ में 'अभ्यास' अर्थात् पुनरुक्ति-स्वरूप में बार बार क्या कहा गया है। क्योंकि ग्रन्थकार के मन में जिस बात को सिद्ध करने की इच्छा होती है, उसके समर्थन के लिये वह अनेक बार कई कारणों का उल्लेख करके बार बार एक ही निश्चित सिद्धान्त को प्रकट किया करता है; और हर बार कहा करता है, कि "इसलिये यह बात सिद्ध हो गई;" "अतएव ऐसा करना चाहिये" इत्यादि। ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने के लिये जो चौथा साधन है उसको 'अपूर्वता' और पाँचवें साधन को 'फल' कहते हैं। 'अपूर्वता' कहते हैं 'नवीनता' को। कोई भी ग्रन्थकार जब ग्रन्थ लिखना शुरू करता है, तब वह कुछ नई बात बतलाना चाहता है; बिना कुछ नवीनता या विशेष वक्तव्य के वह ग्रन्थ लिखने में प्रवृत्त नहीं होता। विशेष करके यह बात उस ज़माने में पाई जाती थी जब कि छापखाने नहीं थे। इसलिये किसी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने के पहले यह भी देखना चाहिये, कि उसमें अपूर्वता, विशेषता या नवीनता क्या है। इसी तरह लेख अथवा ग्रन्थ के फल पर भी – अर्थात् उस लेख या ग्रन्थ से जो परिणाम हुआ हो उस पर भी – ध्यान देना चाहिये। क्योंकि अमुक फल हो, इसी हेतु से ग्रन्थ लिखा जाता है। इसलिये यदि घटित परिणाम पर ध्यान दिया जाय तो उससे ग्रन्थकर्ता का आशय बहुत ठीक ठीक व्यक्त हो जाता है। छठवाँ और सातवाँ साधन 'अर्थवाद' और 'उपपत्ति' है। 'अर्थवाद' मीमांसकों का पारिभाषिक शब्द है (जै. सू. १. २. १. १८)। इस बात के निश्चित हो जाने पर भी, कि हमें मुख्यतः किस बात को बतला कर जमा देना है अथवा किस बात को सिद्ध करना है, कभी कभी ग्रन्थकार दूसरी अनेक बातों का प्रसंगानुसार वर्णन किया करता है; जैसे प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त देनेके लिये, तुलना करके एकवाक्यता करने के लिये, समानता और भेद दिखलाने के लिये, प्रतिपक्षियों के दोष बतला कर स्वपक्ष का

मंडन करनेके लिये, अलंकार और अतिशयोक्ति के लिये, और युक्तिवाद के पोषक किसी विषय का पूर्व-इतिहास बतलाने के लिये और कुछ वर्णन भी कर देता है। उक्त कारणों या प्रसंगों के अतिरिक्त और भी अन्य कारण हो सकते हैं; और कभी तो विशेष कारण नहीं होता। ऐसी अवस्था में ग्रन्थकार जो वर्णन करता है, वह यद्यपि विषयान्तर नहीं हो सकता, तथापि वह केवल गौरव के लिये या स्पष्टीकरण के लिये ही किया जाता है। इसलिये यह नहीं माना जा सकता, कि उक्त वर्णन हमेशा सत्य ही होगा*। अधिक क्या कहा जाय, कभी कभी स्वयं ग्रन्थकार यह देखने के लिये सावधान नहीं रहता, कि ये अप्रधान बातें अक्षरशः सत्य हैं या नहीं। अतएव ये सब बातें प्रमाणभूत नहीं मानी जातीं; अर्थात् यह नहीं माना जाता, कि इन भिन्न भिन्न बातों का ग्रन्थकार के सिद्धान्त पक्ष के साथ कोई घना सम्बन्ध है। उलटा यही माना जाता है, कि ये सब बातें आगंतुक अर्थात् केवल प्रशंसा या स्तुति ही के लिये हैं। ऐसा समझ कर ही मीमांसक लोग इन्हें 'अर्थवाद' कहा करते हैं, और इन अर्थवादात्मक बातों को छोड़ कर फिर ग्रन्थ का तात्पर्य निश्चित किया करते हैं। इतना कर लेने पर उपपत्ति की ओर भी ध्यान देना चाहिये। किसी विशेष बात को सिद्ध कर दिखलाने के लिये बाधक प्रमाणों का खंडन करना और साधक प्रमाणों क तर्कशास्त्रानुसार मंडन करना 'उपपत्ति' अथवा 'उपपादन' कहलाता है। उपक्रम और उपसंहार-रूप आद्यन्त के दो छोरों के स्थिर हो जाने पर, बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति की सहायता से निश्चित किया जा सकता है। अर्थवाद से यह मालूम हो सकता है, कि कौन-सा विषय प्रस्तुत और आनुषंगिक (अप्रधान) है। एक बार अर्थवाद का निर्णय हो जाने पर ग्रन्थ-तात्पर्य का निश्चय करनेवाला मनुष्य सब टेढ़े मेढ़े रास्तों को छोड़ देता है। और ऐसा करने पर जब पाठक या परीक्षक सीधे और प्रधान मार्ग पर आ जाता है, तब वह उपपत्ति की सहायता से ग्रन्थ के आरम्भ से अंतिम तात्पर्य तक आप-ही-आप पहुँच जाता है। हमारे प्राचीन मीमांसकों के ठहराये हुए, ग्रंथ तात्पर्य-निर्णय के ये नियम सब देशों के विद्वानों को एकसमान मान्य हैं। इसलिये उपयोगिता और आवश्यकता के सम्बन्ध में यहाँ अधिक विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है।†

---

* अर्थवाद का वर्णन यदि वस्तुस्थिति (यथार्थता) के आधार पर किया गया हो तो उसे 'अनुवाद' कहते हैं; यदि विरुद्ध रीति से किया गया हो तो उसे 'गुणवाद' कहते हैं; और यदि इससे भिन्न प्रकार का हो तो उसे 'भूतार्थवाद' कहते हैं। 'अर्थवाद' सामान्य शब्द है; उसके सत्यासत्यप्रमाण से उक्त तीन भेद किये गये हैं।

† ग्रन्थ-तात्पर्य-निर्णय के ये नियम अंग्रेजी अदालतों में भी देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ – मान लीजिये कि किसी फैसले का कुछ मतलब नहीं निकलता। तब हुक्मनामे

इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है, कि क्या मीमांसकों के उक्त नियम संप्रदाय चलानेवाले आचार्यों को मालूम नहीं थे। यदि ये सब नियम ग्रंथों ही में पाये जाते हैं, तो फिर उनका बताया हुआ गीता का तात्पर्य एकदेशीय कैसे कहा जा सकता है? उनका उत्तर इतना ही है, कि एक बार किसी की दृष्टि सांप्रदायिक (संकुचित) बन जाती है, तब वह व्यापकता का स्वीकार नहीं कर सकता – तब वह किसी-न-किसी रीति से यही सिद्ध करने का यत्न किया करता है, कि प्रमाणभूत धर्मग्रंथों में अपने ही संप्रदाय का वर्णन किया गया है। इन ग्रंथोंके तात्पर्य के विषय में सांप्रदायिक टीकाकारों की पहले से ही ऐसी धारणा हो जाती है, कि यदि उक्त ग्रंथों का कुछ दूसरा अर्थ हो सकता हो, जो उनके सांप्रदायिक अर्थ से भिन्न हो, तो वे यह समझते हैं, कि उसका हेतु कुछ और ही है। इस प्रकार जब वे पहले से निश्चित किये हुए अपने ही संप्रदाय के अर्थ को सत्य मानने लगते हैं, और यह सिद्ध कर दिखाने का यत्न करने लगते हैं, कि वही अर्थ सब धार्मिक ग्रंथों में प्रतिपादित किया गया है; तब वे इस बात की परवाह नहीं करते कि हम मीमांसाशास्त्र के कुछ नियमों का उल्लंघन कर रहे हैं। हिन्दु धर्मशास्त्र के मिताक्षरा, दायभाग इत्यादि ग्रंथों में स्मृतिवचनों की व्यवस्था या एकता इसी तत्त्वानुसार की जाती है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि यह बात केवल हिन्दु धर्मग्रंथों में ही पाई जाती है। क्रिस्तानों के आदिग्रंथ बायबल और मुसलमानों के कुरान में भी, इन लोकों के सैंकड़ों सांप्रदायिक ग्रंथकारों ने ऐसा ही अर्थान्तर कर दिया है; और इसी तरह ईसाइयों ने पुरानी बायबल के कुछ वाक्यों का अर्थ यहूदियों से भिन्न भिन्न माना है। यहाँ तक देखा जाता है, कि जब कभी यह बात पहले ही से निश्चित कर दी जाती है, कि किसी विषय पर अमुक ग्रंथ या लेख ही को प्रमाण मानना चाहिये और जब कभी इस प्रमाणभूत तथा नियमित ग्रंथ ही के आधार पर सब बातों का निर्णय करना पड़ता है, तब तो ग्रंथार्थ-निर्णय की उसी पद्धति का स्वीकार किया जाता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। आजकल के बड़े बड़े कायदे-पंडित, वकील और न्यायाधीश लोग, पहले ही प्रमाणभूत कानूनी किताबों और फैसलों का अर्थ करने में जो खींचातानी करते हैं, उसका रहस्य भी यही है। यदि सामान्य लौकिक बातों में यह हाल है, तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि हमारे प्रमाणभूत धर्मग्रंथों – उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और गीता – में भी ऐसी खींचातानी होने के कारण, उन पर भिन्न भिन्न संप्रदायों के अनेक भाष्य, टीकाग्रंथ लिखे गये हैं। परन्तु इस सांप्र-

को देख कर फैसले के अर्थ का निर्णय किया जाता है। और, यदि किसी फैसले में कुछ ऐसी बातें हों जो मुख्य विषय का निर्णय करने में आवश्यक नहीं हैं तो वे दूसरे मुकदमों में प्रमाण (नजीर) नहीं मानी जातीं। ऐसी बातों को अंग्रेजी में 'आबिटर डिक्टा' (Obiter Dicta) अर्थात् 'बाह्य विधान' कहते हैं; यथार्थ में यह अर्थवाद ही का एक भेद है।

दायिक पद्धति को छोड़ कर, यदि उपर्युक्त मीमांसकों की पद्धति से भगवद्गीता के उपक्रम, उपसंहार आदि को देखें, तो मालूम हो जावेगा कि भारतीय युद्ध का आरंभ होने के पहले जब कुरुक्षेत्र में दोनों पक्षों की सेनाएँ लड़ाई के लिये सुसज्जित हो गई थीं; और जब एक दूसरे पर शस्त्र चलाने ही वाला था, कि इतने में अर्जुन ब्रह्मज्ञान की बड़ी बड़ी बातें बतलाने लगा और 'विमनस्क' हो कर संन्यास लेने को तैयार हो गया; तभी उसे अपने क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिये भगवान् ने गीता का उपदेश दिया है। जब अर्जुन यह देखने लगा कि दुष्ट दुर्योधन के सहायक बन कर मुझसे लड़ाई करने के लिये कौन-कौन-से शूर वीर यहाँ आये हैं, तब वृद्ध भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विपक्षी बने हुए अपने बंधु कौरव-गण, अन्य सुहृद् तथा आप्त, मामा-काका आदि रिश्तेदार, अनेक राजा और राजपुत्र आदि सब लोग उसे दीख पड़े। तब वह मन में सोचने लगा कि इन सब को केवल एक छोटे-से हस्तिनापुर के राज्य के लिये निर्दयता से मारना पड़ेगा और अपने कुल का क्षय करना पड़ेगा। इस महत्पाप के भय से उसका मन एकदम दुःखित और क्षुब्ध हो गया। एक ओर तो क्षात्रधर्म उससे कह रहा था, कि 'युद्ध कर'; और दूसरी ओर से पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बंधुप्रेम, सुहृत्प्रीति आदि अनेक धर्म उसे ज़बर्दस्ती से पीछे खींच रहे थे! यह बड़ा भारी संकट था। यदि लड़ाई करे तो अपने ही रिश्तेदारों की, गुरुजनों की, और बंधु-मित्रों की हत्या कर के महापातक के भागी बनें! और लड़ाई न करें तो क्षात्रधर्म से च्युत होना पडे!! इधर देखो तो कुआँ और उधर देखो तो खाई!!! उस समय अर्जुन की अवस्था वैसी ही हो गई थी जैसी जोर से टकराती हुई दो रेलगाडियों के बीच में किसी असहाय मनुष्य की हो जाती है। यद्यपि अर्जुन कोई साधारण पुरुष नहीं था, वह एक बड़ा भारी योद्धा था, तथापि धर्माधर्म के इस महान् संकट में पड़ कर बेचारे का मुँह सूख गया, शरीर पर रोंगटे खड़े हो गये, धनुष्य हाथ से गिर पड़ा और वह "मैं नहीं लडूँगा" कह कर अति दुःखित चित्त से रथ में बैठ गया। और अंत में समीपवर्ती बंधु-स्नेह का प्रभाव – उस ममत्व का प्रभाव जो मनुष्य को स्वभावतः प्रिय होता है – दूरवर्ती क्षत्रियधर्म पर जम ही गया! तब वह मोहवश हो कहने लगा, "पिता-सम पूज्य वृद्ध और गुरुजनों को, भाई-बंधुओं और मित्रों को मार कर तथा अपने कुल का क्षय करके (घोर पाप करके) राज्य का एक टुकड़ा पाने से टुकड़े माँग कर जीवन निर्वाह करना कहीं श्रेयस्कर है! चाहे मेरे शत्रु मुझे अभी निःशस्त्र देख कर मेरी गर्दन उड़ा दें; परन्तु मैं अपने स्वजनों की हत्या करके उनके खून और शाप से सने हुए सुखों का उपभोग नहीं करना चाहता। क्या क्षात्रधर्म इसी को कहते हैं? भाई को मारो, गुरु की हत्या करो, पितृवध करने से न चुको, अपने कुल का नाश करो – क्या यही क्षात्रधर्म है? आग लगे ऐसे अनर्थ-

कारी क्षात्रधर्म में और गाज गिरे ऐसी क्षात्रनीतिपर! दुश्मनों को ये सब धर्मसंबंधी बातें मालूम नहीं हैं; वे दुष्ट हैं; तो क्या उनके साथ मैं भी पापी हो जाऊँ? कभी नहीं। मुझे यह देखना चाहिये कि मेरे आत्मा का कल्याण कैसे होगा। मुझे तो यह घोर हत्या और पाप करना श्रेयस्कर नहीं जँचता; फिर चाहे क्षात्रधर्म शास्त्रविहित हो, तो भी इस समय मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है।" इस प्रकार विचार करते करते उसका चित्त डाँवाडोल हो गया और वह किंकर्तव्य-विमूढ हो कर भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में गया। तब भगवान् ने उसे गीता का उपदेश दे कर उसके चंचल चित्त को स्थिर और शांत कर दिया। इसका यह फल हुआ, कि जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनों की हत्या के भय के कारण युद्ध से पराङ्मुख हो रहा था, वही अब गीता का उपदेश सुन कर अपना यथोचित कर्तव्य समझ गया; और अपनी स्वतंत्र इच्छा से युद्ध के लिये तत्पर हो गया। यदि हमें गीता के उपदेश का रहस्य जानना है, तो उपक्रमोपसंहार और परिणाम को अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा। भक्ति से मोक्ष कैसे मिलता है? ब्रह्मज्ञान या पातञ्जल योग से मोक्ष की सिद्धि कैसे होती है? इत्यादि, केवल निवृत्ति-मार्ग या कर्मत्यागरूप संन्यास-धर्म-संबंधी प्रश्नों की चर्चा करने का कुछ उद्देश नहीं था। भगवान् श्रीकृष्ण का यह उद्देश नहीं था, कि, अर्जुन संन्यास-दीक्षा ले कर और बैरागी बन कर भीख माँगता फिरे, या लँगोटी लगा कर और नीम पत्ते खा कर मृत्युपर्यंत हिमालय में योगाभ्यास साधता रहे। अथवा भगवान् का यह भी उद्देश नहीं था, कि अर्जुन धनुष-बाण को फेंक दे और हाथ में वीणा तथा मृदंग ले कर कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि में उपस्थित भारतीय क्षात्रसमाज के सामने भगवन्नाम का उच्चारण करता हुआ, बृहन्नला के समान और एक बार अपना नाच दिखावें। अब तो अज्ञातवास पूरा हो गया था और अर्जुन को कुरु-क्षेत्र में खड़े हो कर और ही प्रकार का नाच नाचना था। गीता कहते कहते स्थान-स्थान पर भगवान् ने अनेक प्रकार के अनेक कारण बतलाये हैं; और अंत में अनुमानदर्शक अत्यंत महत्त्व के 'तस्मात्' ('इसलिये') पद का उपयोग करके, अर्जुन को यही निश्चितार्थक कर्म-विषयक उपदेश दिया है कि "तस्माद्यु-ध्यस्व भारत"- इसलिये हे अर्जुन! तू युद्ध कर (गी. २. १८); "तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः" – इसलिये हे कौंतेय अर्जुन! तू युद्ध का निश्चय करके उठ (गी. २.३७); "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" – इसलिये तू मोह छोड़ कर अपना कर्तव्य-कर्म कर (गीता. ३.१९); "कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं" – इस लिये तू कर्म ही कर (गी. ४.१५.); "मामनुस्मर युध्य च" – इसलिये मेरा स्मरण कर और लड़ (गी. ८.७); "करने-करानेवाला सब कुछ मैं ही हूँ, तू केवल निमित्त है, इसलिये युद्ध करके शत्रुओं को जीत" (गी. ११. ३३.) "शास्त्रोक्त कर्तव्य करना तुझे उचित है" (गी. १६. २४)। अठारहवे अध्याय

के उपसंहार में भगवान् ने अपने निश्चित और उत्तम मत को और भी एक बार प्रकट किया है – " इन सब कर्मों को करना चाहिये " (गी. १८. ६)। और अंतमें (गी. १८. ७२), भगवान् ने अर्जुन से प्रश्न किया है, कि " हे अर्जुन ! तेरा अज्ञान-मोह अभी तक नष्ट हुआ कि नहीं ? " इस पर अर्जुन ने संतोषजनक उत्तर दिया :–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

अर्थात् " हे अच्युत ! स्वकर्तव्यसंबंधी मेरा मोह और संदेह नष्ट हो गया है; अब मैं आप के कथनानुसार सब काम करूँगा । " यह अर्जुन का केवल मौखिक उत्तर नहीं था; उसने सचमुच उस युद्ध में भीष्म-कर्ण-जयद्रथ आदि का वध भी किया । इस पर कुछ लोग कहते हैं, कि " भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया है वह केवल निवृत्तिविषयक ज्ञान, योग या भक्ति का ही है; और यही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी है। परंतु युद्ध का आरंभ हो जाने कारण बीच बीच में, कर्म की थोड़ी-सी प्रशंसा करके भगवान् ने अर्जुन को युद्ध पूरा करने दिया है; अर्थात् युद्ध का समाप्त करना मुख्य बात नहीं है – आनुषंगिक या अर्थवादात्मक ही मानना चाहिये " परंतु ऐसे अधूरे और कमजोर युक्तिवाद से गीता के उपक्रमोपसंहार और परिणाम की उपपत्ति ठीक ठीक नहीं हो सकती । यहाँ (कुरुक्षेत्र) पर तो इसी बात के महत्त्व को दिखाने की आवश्यकता थी कि स्वधर्मसंबंधी अपने कर्तव्य को मरणपर्यन्त अनेक कष्ट और बाधाएँ सह कर भी करते रहना चाहिये । इस बात को सिद्ध करने के लिये श्रीकृष्ण ने गीताभर में कहीं भी बे-सिर-पैर का कारण नहीं बतलाया है, जैसा ऊपर लिखे हुए कुछ लोगों के आक्षेप में कहा गया है । यदि ऐसा युक्तिहीन कारण बतलाया भी गया होता तो अर्जुन-सरीखा बुद्धिमान् और छानबीन करनेवाला पुरुष इन बातों पर विश्वास कैसे कर लेता ? उसके मन में मुख्य प्रश्न क्या था ? यही न, कि भयंकर कुलक्षय को प्रत्यक्ष आँखों के आगे देखकर भी मुझे युद्ध करना चाहिये या नहीं; और युद्ध करना ही चाहिये तो कैसे, जिससे पाप न लगे ? इस बिकट प्रश्न के (इस प्रधान विषय के) उत्तर को, कि " निष्काम-बुद्धि से युद्ध कर " या " कर्म कर " – अर्थवाद कह कर भी नहीं टाल सकते । ऐसा करना मानों घर के मालिक को उसी घर में मेहमान बना देना है ! हमारा यह कहना नहीं है, कि गीता में वेदान्त, भक्ति और पातञ्जल योग का उपदेश बिलकुल दिया ही नहीं गया है । परंतु इन तीनों विषयों का गीता में जो मेल किया गया है, वह केवल ऐसा ही होना चाहिये, कि जिससे परस्पर-विरुद्ध धर्मों के भयंकर संकट में पड़े हुए " यह करूँ कि वह " कहनेवाले कर्तव्य-मूढ अर्जुन को अपने कर्तव्य के विषय में कोई निष्पाप मार्ग मिल जाय; और

वह क्षात्रधर्म के अनुसार अपने शास्त्रविहित कर्म में प्रवृत्त हो जाय। इससे यही बात सिद्ध होती है, कि प्रवृत्तिधर्म ही का ज्ञान गीता का प्रधान विषय है; और अन्य सब बातें उस प्रधान विषय ही की सिद्धि के लिये कही गई हैं। अर्थात् वे सब आनुषंगिक हैं; अतएव गीताधर्म का रहस्य भी प्रवृत्तिविषयक अर्थात् कर्मविषयक ही होना चाहिये। परंतु इस बात का स्पष्टीकरण किसी भी टीकाकार ने नहीं किया है, कि वह प्रवृत्ति-विषयक रहस्य क्या है; और वेदान्तशास्त्र ही से कैसे सिद्ध हो सकता है। जिस टीकाकार को देखो, वही गीता के आद्यन्त के उपक्रम-उपसंहार पर ध्यान न दे कर निवृत्तिदृष्टि से इस बात का विचार करने ही में निमग्न दीख पड़ता है, कि गीता का ब्रह्मज्ञान या भक्ति अपने ही संप्रदाय के अनुकूल है। मानों ज्ञान और भक्ति का कर्म से नित्य सम्बन्ध बतलाना एक बड़ा भारी पाप है। यही शंका एक टीकाकार के मन में हुई थी; और उसने लिखा था, कि स्वयं श्रीकृष्ण के चरित्र को आँख के सामने रख कर भगवद्गीता का अर्थ करना चाहिये*। श्रीक्षेत्र काशी के सुप्रसिद्ध अद्वैती परमहंस श्रीकृष्णानन्द स्वामी का – जो अभी हाल ही में समाधिस्थ हुए हैं – भगवद्गीता पर लिखा हुआ 'गीता-परामर्श' नामक संस्कृत में एक निबंध है। उसमें स्पष्ट रीति से यही सिद्धान्त लिखा हुआ है, कि "तस्मात् गीता नाम ब्रह्मविद्यामूलं नीतिशास्त्रम्" अर्थात् – इसलिये गीता वह नीतिशास्त्र अथवा कर्तव्यधर्मशास्त्र है, जो कि ब्रह्मविद्या से सिद्ध होता है।† यही बात जर्मन पंडित प्रो॰ डॉयसेन ने अपने 'उपनिषदों का तत्त्वज्ञान' नामक ग्रन्थ में कही है। इनके अतिरिक्त पश्चिमी और पूर्वी गीता-परीक्षक अनेक विद्वानों का भी यही मत है। तथापि इनमें से किसी ने समस्त गीता-ग्रन्थ की परीक्षा करके यह स्पष्टतया दिखलाने का प्रयत्न नहीं किया है, कि कर्मप्रधान दृष्टि से उसके सब विषयों और अध्यायों का मेल कैसे है। बल्कि डॉयसेन ने अपने ग्रन्थ में कहा है,‡ कि यह प्रतिपादन कष्टसाध्य है। इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य उद्देश यही है, कि उक्त रीति से गीता की परीक्षा करके उसके विषयों का मेल अच्छी तरह प्रकट कर दिया जावे। परन्तु ऐसा करने के पहले, गीता के आरम्भ में परस्पर-विरुद्ध नीतिधर्मों से झगड़े हुए अर्जुन पर जो संकट आया था उसका असली रूप

---

* इस टीकाकार का नाम और उसकी टीका के कुछ अवतरण बहुत दिन हुए एक महाशय ने हमको पत्र द्वारा बतलाये थे। परन्तु हमारी परिस्थिति की गड़बड़ में वह पत्र न जाने कहाँ खो गया।

† श्रीकृष्णानन्दस्वामीकृत चारों निबंध (श्रीगीतारहस्य, गीतार्थप्रकाश, गीतार्थपरामर्श और गीतासारोद्धार) एकत्र कर के राजकोट में प्रकाशित किये गये हैं।

‡ *Prof. Deussen's Philosophy of the Upanishads*, P. 362. (*English Translation*, 1906.)

भी दिखलाना चाहिये; नहीं तो गीता में प्रतिपादित विषयों का मर्म पाठकों के ध्यान में पूर्णतया नहीं जम सकेगा। इसलिये अब यहाँ जानने के लिये कि कर्म-अकर्म के झगड़े कैसे बिकट होते हैं और अनेक बार "इसे करूँ कि उसे" यह सूझ न पड़ने के कारण मनुष्य कैसा घबड़ा उठता है, ऐसे ही प्रसंगों के अनेक उदाहरणों का विचार किया जायगा, जो हमारे शास्त्रों में – विशेषतः महाभारत में – पाये जाते हैं।

दूसरा प्रकरण

कर्मजिज्ञासा

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।*

— गीता ४. १६

भगवद्गीता के आरंभ में, परस्पर-विरुद्ध दो धर्मों की उलझन में फँस जाने के कारण अर्जुन जिस तरह कर्तव्यमूढ हो गया था, और उस पर जो मौका आ पड़ा था, वह कुछ अपूर्व नहीं है। उन असमर्थ और अपना ही पेट पालनेवाले लोगों की बात ही भिन्न है, जो संन्यास ले कर और संसार को छोड़ कर वन में चले जाते हैं अथवा जो कमजोरी के कारण जगत् के अनेक अन्यायों को चुपचाप सह लिया करते हैं। परन्तु समाज में रह कर ही जिन महान् तथा कार्यकर्ता पुरुषों को अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन धर्म तथा नीतिपूर्वक करना पड़ता है, उनों पर ऐसे मौके अनेक बार आया करते हैं। युद्ध के आरम्भ ही में अर्जुन को कर्तव्य-जिज्ञासा और मोह हुआ। ऐसा मोह युधिष्ठिर को – युद्ध में मरे हुए अपने रिश्तेदारों का श्राद्ध करते समय – हुआ था। उसके इस मोह को दूर करने के लिये 'शांतिपर्व' कहा गया है। कर्माकर्मसंशय के ऐसे अनेक प्रसंग ढूँढ कर अथवा कल्पित करके उन पर बड़े बड़े कवियों ने सुरस काव्य और उत्तम नाटक लिखे हैं। उदाहरणार्थ, सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ नाटककार शेक्सपीयर का हैमलेट नाटक लीजिये। डेन्मार्क देश के प्राचीन राजपुत्र हैमलेट के चाचा ने राजकर्ता अपने भाई – हैमलेट के बाप – को मार डाला, हैमलेट की माता को अपनी स्त्री बना लिया और राजगद्दी भी छीन ली। तब उस राजकुमार के मन में यह झगड़ा पैदा हुआ, कि ऐसे पापी चाचा का वध करके पुत्र-धर्म के अनुसार अपने पिता के ऋण से मुक्त हो जाऊँ; अथवा अपने सगे चाचा, अपनी माता के पति और गद्दी पर बैठे हुए राजा पर दया करूँ? इस मोह में पड़ जाने के कारण कोमल अंतःकरण के हैमलेट की कैसी दशा हुई, श्रीकृष्ण के समान कोई मार्ग-दर्शक और हितकर्ता न होने के कारण वह कैसे पागल हो गया और अंत में 'जियें या मरें' इसी बात की चिन्ता करते करते उसका अन्त कैसे हो गया, इत्यादि बातों का चित्र इस नाटक में बहुत अच्छी तरह से दिखाया गया है। 'कोरियोलेनस' नाम के दूसरे नाटक में भी इसी तरह एक और प्रसंग

* "पण्डितों को भी इस विषय में मोह हो जाया करता है, कि कर्म कौन-सा है और अकर्म कौन-सा है।" इस स्थान पर अकर्म शब्द को 'कर्म के अभाव' और 'बुरे कर्म' दोनों अर्थों में यथासम्भव लेना चाहिये। मूल श्लोक पर हमारी टीका देखो।

का वर्णन शेक्सपीयर ने किया है। रोम नगर में कोरियोलेनस नाम का एक शूर सरदार था। नगरवासियों ने उसको शहर से निकाल दिया। तब वह रोमन लोगों के शत्रुओं में जा मिला और उसने प्रतिज्ञा की, कि " मैं तुम्हारा साथ कभी नहीं छोड़ूँगा। " कुछ समय के बाद इन शत्रुओं की सहायता से उसने रोमन लोगों पर हमला किया और वह अपनी सेना ले कर रोमन शहर के दरवाजे के पास आ पहुँचा। उस समय रोम शहर की स्त्रियों ने कोरियोलेनस की स्त्री और माता को सामने कर के, मातृभूमि के संबंध में उसको उपदेश किया। अन्त में उसको रोम के शत्रुओं को दिये हुए वचन का भंग करना पड़ा। कर्तव्य-अकर्तव्य के मोह में फँस जाने के ऐसे और भी कई उदाहरण दुनिया के प्राचीन और आधुनिक इतिहास में पाये जाते हैं। परन्तु हम लोगों को इतना दूर जाने की कोई आवश्यकता नहीं। हमारा महाभारत-ग्रंथ ऐसे उदाहरणों की एक बड़ी भारी खानी ही है। ग्रंथ के आरंभ (आ. २) में वर्णन करते हुए स्वयं व्यासजी ने उसको 'सूक्ष्मार्थन्याययुक्तं', 'अनेकसमयान्वितं' आदि विशेषण दिये हैं। उसमें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र, सब कुछ आ गया है। इतना ही नहीं, किंतु उसकी महिमा इस प्रकार गाई गई, कि " यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् " – अर्थात् जो कुछ इसमें है वही और स्थानों में है, जो इसमें नहीं है वह और किसी भी स्थान में नहीं है (आ. ६२.५३)। सारांश यह है, कि इस संसार में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं; ऐसे समय बड़े बड़े प्राचीन पुरुषों ने कैसा बर्ताव किया, इसका सुलभ आख्यानों के द्वारा साधारण जनोंको बोध करा देने ही के लिये 'भारत' का 'महाभारत' हो गया है। नहीं तो सिर्फ़ भारतीय युद्ध अथवा 'जय' नामक इतिहास का वर्णन करने के लिये अठारह पर्वों की कुछ आवश्यकता न थी।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है, कि श्रीकृष्ण और अर्जुन की बातें छोड़ दीजिये; हमारे-तुम्हारे लिये इतने गहरे पानी में पैठने की क्या आवश्यकता है? क्या मनु आदि स्मृतिकारों ने अपने ग्रंथों में इस बात के स्पष्ट नियम नहीं बना दिये हैं, कि मनुष्य संसार में किस तरह बर्ताव करे? किसी की हिंसा मत करो, नीति से चलो, सच बोलो, गुरु और बड़ों का सम्मान करो, चोरी और व्यभिचार मत करो; इत्यादि सब धर्मों में पाई जानेवाली साधारण आज्ञाओं का यदि पालन किया जाय, तो ऊपर लिखे कर्तव्य-अकर्तव्य के झगड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? परन्तु इससे विरुद्ध यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि जब तक इस संसार के सब लोग उक्त आज्ञाओं के अनुसार बर्ताव करने लगे हैं, तब तक सज्जनों को क्या करना चाहिये? क्या ये लोग अपने सदाचार के कारण दुष्ट जनों के फंदे में अपने को फँसा लें? या अपनी रक्षा के लिये 'जैसे को तैसा' हो कर उन लोगों का प्रतिकार करें? इसके सिवा एक बात और है। यद्यपि

उक्त साधारण नियमों को नित्य और प्रमाणभूत मान लें, तथापि कार्यकर्ताओं को अनेक बार ऐसे मौके आते हैं, कि उस समय उक्त साधारण नियमों में से दो या अधिक नियम एकदम लागू होते हैं। उस समय "यह करूँ या वह करूँ" इस चिन्ता में पड़ कर मनुष्य पागल-सा हो जाता है। अर्जुन पर ऐसा ही मौका आ पड़ा था, परन्तु अर्जुन के सिवा और लोगों पर भी ऐसे कठिन अवसर अक्सर आया करते हैं। इस बात का मार्मिक विवेचन महाभारत में कई स्थानों में किया गया है। उदाहरणार्थ, मनु ने सब वर्णों के लोगों के लिये नीतिधर्म के पाँच नियम बतलाये हैं – "अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः" (मनु. १०.६३) – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काया, वाचा और मन की शुद्धता, एवं इन्द्रियनिग्रह इन नीतिधर्मों में से एक अहिंसा ही का विचार कीजिये। "अहिंसा परमो धर्मः" (म. भा. आ. ११.१३) यह तत्त्व सिर्फ हमारे वैदिक धर्म ही में नहीं, किन्तु अन्य सब धर्मों में भी प्रधान माना गया है। बौद्ध और ईसाई धर्म-ग्रंथों में जो आज्ञाएँ हैं, उनमें अहिंसा को मनु की आज्ञा के समान पहला स्थान दिया गया है। सिर्फ किसी की जान ले लेना ही हिंसा नहीं है। उसमें किसी के मन अथवा शरीर को दुःख देने का भी समावेश किया जाता है। अर्थात्, किसी सचेतन प्राणी को किसी प्रकार दुःखित न करना ही अहिंसा है। इस संसार में सब लोगों की सम्मति के अनुसार यह अहिंसाधर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु अब कल्पना कीजिये, कि हमारी जान लेने के लिये या हमारी स्त्री अथवा कन्या पर बलात्कार करने के लिये, अथवा हमारे घर में आग लगाने के लिये, या हमारा धन छीन लेने के लिये, कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र ले कर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा करनेवाला हमारे पास कोई न हो; तो उस समय हमको क्या करना चाहिये? क्या, "अहिंसा परमो धर्मः" कह कर ऐसे आततायी मनुष्य की उपेक्षा की जाय? या, यदि वह सीधी तरह से न माने तो यथाशक्ति उसका शासन किया जाय? मनुजी कहते हैं –

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

अर्थात् "ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डालें; किन्तु यह विचार न करें कि वह गुरु है, बूढा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है।" शास्त्रकार कहते हैं कि (मनु. ८.३५०) ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नहीं लगता; किन्तु आततायी मनुष्य अपने अधर्म ही से मारा जाता है। आत्मरक्षा का यह हक़ – कुछ मर्यादा के भीतर – आधुनिक फौज़दारी क़ानून में भी स्वीकृत किया गया है। ऐसे मौकों पर अहिंसा से आत्मरक्षा की योग्यता अधिक मानी जाती है। भ्रूणहत्या सब से अधिक निन्दनीय मानी है; परन्तु जब बच्चा पेट में टेढ़ा हो कर अटक जाता है तब क्या उसको काट कर निकाल नहीं डालना चाहिये? यज्ञ में पशु

का वध करना वेद में भी प्रशस्त माना है (मनु. ५. ३१), परन्तु पिष्टपशु के द्वारा वह भी टल सकता है (म. भा. शां. ३३७; अनु. ११५. ५६)। तथापि हवा, पानी, फल इत्यादि सब स्थानों में जो सैंकडों जीव-जंतु हैं उनकी हत्या कैसे टाली जा सकती है ? महाभारत में (शां. १५. २६) अर्जुन कहता है :–

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित् ।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ॥

" इस जगत् में ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं, कि जिनका अस्तित्व यद्यपि नेत्रों से देख नहीं पड़ता, तथापि तर्क से सिद्ध है। ऐसे जन्तु इतने हैं, कि यदि हम अपनी आँखों के पलक हिलावें, उतने ही से उन जन्तुओं का नाश हो जाता है ! " ऐसी अवस्था में यदि हम मुख से कहते रहें, कि " हिंसा मत करो, हिंसा मत करो, " तो उससे क्या लाभ होगा ? इसी विचार के अनुसार अनुशासन पर्व में (अनु. ११६) शिकार करने का समर्थन किया गया है। वनपर्व में एक कथा है, कि कोई ब्राह्मण क्रोध से किसी पतिव्रता स्त्री को भस्म कर डालना चाहता था; परंतु जब उसका यत्न सफल नहीं हुआ तब वह स्त्री की शरण में गया। धर्म का सच्चा रहस्य समझ लेनेके लिये उस ब्राह्मण को उस स्त्री ने किसी व्याध के यहाँ भेज दिया। यहाँ व्याध मांस बेचा करता था; परंतु था अपने माता-पिता का बड़ा भक्त ! इस व्याध का यह व्यवसाय देख कर ब्राह्मण को अत्यंत विस्मय और खेद हुआ। तब व्याध ने उसे अहिंसा का सच्चा तत्त्व समझा कर बतला दिया। इस जगत् में कौन किसको नहीं खाता ? " जीवो जीवस्य जीवनम् "(भाग. १. १३. ४६) – यही नियम सर्वत्र दीख पड़ता है। आपत्काल में तो "प्राणस्यान्नमिदं सर्वम् " यह नियम सिर्फ़ स्मृतिकारों ही ने नहीं (मनु. ५.२८; म. भा. शां. १५.२१) कहा है। किंतु उपनिषदों में भी स्पष्ट कहा गया है (वे. सू. ३.४.२८; छां. ५.२.८; बृ. ६.१.१४) यदि सब लोग हिंसा छोड़ दें तो क्षात्रधर्म कहाँ और कैसे रहेगा ? यदि क्षात्रधर्म नष्ट हो जाय तो प्रजा की रक्षा कैसे होगी ? सारांश यह है, कि नीति के सामान्य नियमों ही से सदा काम नहीं चलता; नीतिशास्त्र के प्रधान नियम – अहिंसा – में भी कर्तव्य-अकर्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पड़ता है।

अहिंसाधर्म के साथ क्षमा, दया, शान्ति आदि गुण शास्त्रों में कहे गये हैं; परंतु सब समय शान्ति से कैसे काम चल सकेगा ? सदा शान्त रहनेवाले मनुष्यों के बाल-बच्चों को भी दुष्ट लोग हरण किये बिना नहीं रहेंगे। इसी कारण का प्रथम उल्लेख करके प्रल्हाद ने अपने नाती, राजा बलि से कहा है :–

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
... ...
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता ॥

"सदैव क्षमा करना अथवा क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता। इसी लिये, हे तात! पंडितों ने क्षमा के लिये कुछ अपवाद भी कहे हैं (म. भा. बन. २८.६,८)। इसके बाद कुछ मौक़ों का वर्णन किया गया है, जो क्षमा के लिये उचित हैं; तथापि प्रल्हाद ने इस बात का उल्लेख नहीं किया, कि इन मौक़ों को पहचानने का तत्त्व या नियम क्या है। यदि इन मौक़ों को पहचाने बिना, सिर्फ़ अपवादों का ही कोई उपयोग करे, तो वह दुराचरण समझा जायगा; इसलिये यह जानना अत्यंत आवश्यक और महत्त्व का है, कि इन मौक़ों को पहचानने का नियम क्या है।

दूसरा तत्त्व 'सत्य' है, जो सब देशों और धर्मों में भली भाँति माना जाता और प्रमाण समझा जाता है। सत्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय? वेद में सत्य की महिमा के विषय में कहा है, कि सारी सृष्टि की उत्पत्ति के पहले 'ऋतं' और 'सत्यं' उत्पन्न हुए; और सत्य ही से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पञ्चमहाभूत स्थिर हैं: "ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" (ऋ. १०.१९०. १), "सत्येनोत्तभिता भूमिः" (ऋ. १०. ८५. १)। 'सत्य' शब्द का धात्वर्थ भी यही है – 'रहनेवाला' अर्थात् "जिसका कभी अभाव न हो" अथवा 'त्रिकाल-अबाधित'; इसी लिये सत्य के विषय में कहा गया है, कि 'सत्य के सिवा और धर्म नहीं है; सत्य ही परब्रह्म है।' महाभारत में कई जगह इस वचन का उल्लेख दिया गया है, कि, नास्ति सत्यात्परो धर्मः' (शां. १६२. २४) और यह भी लिखा है कि :–

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

"हज़ार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक होगा" (आ. ७४.१०२)। यह वर्णन सामान्य सत्य के विषय में हुआ। सत्य के विषय में मनुजी एक विशेष बात और कहते हैं (मनु. ४.२५६) :–

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥

"मनुष्यों के सब व्यवहार वाणी से हुआ करते हैं। एक के विचार दूसरे को बताने के लिये शब्द के समान अन्य साधन नहीं है। वही सब व्यवहारों का आश्रय-स्थान और वाणी का मूल होता है। जो मनुष्य उसको मलिन कर डालता है, अर्थात् जो वाणी की प्रतारणा करता है, वह सब पूँजी ही की चोरी करता है।" इसलिये मनु ने कहा है, कि 'सत्यपूतां वदेद्वाचं' (मनु. ६. ४६) – जो सत्य से पवित्र किया गया हो, वही बोला जाय। और धर्मों से सत्य ही को पहला स्थान देने के लिये उपनिषद् में भी कहा है, 'सत्यं वद। धर्मं चर' (तै. १.११.१.)। जब बाणों की शय्या पर पड़े पड़े भीष्म पितामह शान्ति और अनु-

शासन पर्वों में, युधिष्ठिर को सब धर्मों का उपदेश दे चुके, तब प्राण छोड़ने के पहले " सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलं " इस वचन को सब धर्मों का सार समझ कर उन्हों ने सत्य ही के अनुसार व्यवहार करने के लिये सब लोगों को उपदेश किया है (म. भा. अनु. १६७. ५०)। बौद्ध और ईसाई धर्मों में भी इन्हीं नियमों का वर्णन पाया जाता है।

क्या उस बात की कभी कल्पना की जा सकती है, कि जो सत्य इस प्रकार स्वयंसिद्ध और चिरस्थायी है, उसके लिये भी कुछ अपवाद होंगे? परन्तु दुष्ट जनों से भरे हुए इस जगत् का व्यवहार बहुत कठिन है। कल्पना कीजिये, कि कुछ आदमी चोरों से पीछा किये जाने पर तुम्हारे सामने किसी स्थान में जा कर छिप रहे। इसके बाद हाथ में तलवार लिये हुए चोर तुम्हारे पास आ कर पूछने लगे, कि वे आदमी कहाँ चले गये? ऐसी अवस्था में तुम क्या कहोगे? – क्या तुम सच बोल कर सब हाल कह दोगे, या उन निरपराधी मनुष्यों की रक्षा करोगे? शास्त्र के अनुसार निरपराधी जीवों की हिंसा को रोकना सत्य ही के समान महत्त्व का धर्म है। मनु कहते हैं, " नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः " (मनु. २. ११०; म. भा. शां. २८७. ३४) – जब तक कोई प्रश्न न करे, तब तक किसी से बोलना न चाहिये; और यदि कोई अन्याय से प्रश्न करे तो पूछने पर भी उत्तर नहीं देना चाहिये। यदि मालूम भी हो, तो सिड़ी या पागल के समान कुछ हूँ-हूँ करके बात बना देनी चाहिये – " जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्। " अच्छा, क्या हूँ-हूँ कर देना और बात बना देना एक तरह से असत्य भाषण करना नहीं है? महाभारत (आ. २१५. ३४) में कई स्थानों में कहा है, ' न व्याजेन चरेद्धर्मं ' – धर्म से बहाना करके मन का समाधान नहीं कर लेना चाहिये; क्योंकि तुम धर्म को धोका नहीं दे सकते। तुम खुद धोका खा जाओगे। अच्छा; यदि हूँ-हूँ करके कुछ बात बना लेने का भी समय न हो, तो क्या करना चाहिये? मान लीजिये, कोई चोर हाथ में तलवार ले कर छाती पर आ बैठा है; और पूछ रहा है, कि तुम्हारा धन कहाँ है? यदि कुछ उत्तर न दोगे, तो जान ही से हाथ धोना पड़ेगा। ऐसे समय पर क्या बोलना चाहिये? सब धर्मों का रहस्य जाननेवाले भगवान् श्रीकृष्ण – ऐसे ही चोरों की कहानी का दृष्टान्त दे कर – कर्णपर्व (६९. ६१) में अर्जुन से और आगे शांतिपर्व के सत्यव्रत अध्याय (१०९. १५. १६) में भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं:–

अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कथंचन।
अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्॥

अर्थात् " यह बात विचारपूर्वक निश्चित की गई है, कि यदि बिना बोले मोक्ष

या छुटकारा हो सके, तो कुछ भी हो, बोलना नहीं चाहिये; और यदि बोलना आवश्यक हो, अथवा न बोलने से (दूसरों को) कुछ संदेह होना सम्भव हो, तो उस समय सत्य के बदले असत्य बोलना ही अधिक प्रशस्त है।" इसका कारण यह है, कि सत्य धर्म केवल शब्दोच्चार ही के लिये नहीं है। अतएव जिस आचरण से सब लोगों का कल्याण हो, वह आचरण सिर्फ़ इसी कारण से निंद्य नहीं माना जा सकता, कि शब्दोच्चार अयथार्थ है। जिससे सभी की हानि हो, वह न तो सत्य ही है; और न अहिंसा ही। शांतिपर्व (३२९. १३; २८७. १९) में सनत्कुमार के आधार पर नारदजी शुकजी से कहते हैं :–

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम ॥

"सच बोलना अच्छा है; परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियों का हित हो। क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है, वही हमारे मत से सत्य है।" "यद्भूतहितं" पद को देख कर आधुनिक उपयोगितावादी अंग्रेजों का स्मरण करके यदि कोई उक्त वचन को प्रक्षिप्त कहना चाहें, तो उन्हें स्मरण रखना चाहिये, कि यह वचन महाभारत के वनपर्व में – ब्राह्मण और व्याध के संवाद में – दो-तीन बार आया है। उनमें से एक जगह तो "अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम्" पाठ है (वन. २०९. ७३); और दूसरी जगह "यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा" (वन. २०८. ४), ऐसा पाठभेद किया गया है। सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य से 'नरो वा कुंजरो वा' कह कर उन्हें संदेह में क्यों डाल दिया ? इसका कारण वही है, जो ऊपर कहा गया है; और कुछ नहीं। ऐसी ही और बातों में भी यही नियम लगाया जाता है। हमारे शास्त्रों का यह कथन नहीं है, कि झूठ बोल कर किसी खूनी की जान बचाई जावे। शास्त्रों में खून करनेवाले आदमी के लिये देहान्त प्रायश्चित्त अथवा वधदंड की सज़ा कही गई है। इसलिये वह सज़ा पाने अथवा इसी के समान और किसी समय, जो आदमी झूठी गवाही देता है, वह अपने सात या अधिक पूर्वजोंसहित नरक में जाता है (मनु. ८. ८९ – ९९; म. भा. आ. ७. ३)। परन्तु जब कर्णपर्व में वर्णित उक्त चोरों के दृष्टान्तके समान हमारे सच बोलने से निरपराधी आदमियों की जान जाने की शंका हो, तो उस समय क्या करना चाहिये ? ग्रीन नामक एक अंग्रेज़ ग्रंथकार ने अपने 'नीतिशास्त्र के उपोद्घात' नामक ग्रन्थ में लिखा है, कि ऐसे मौक़ों पर नीतिशास्त्र मूक हो जाते हैं। यद्यपि मनु और याज्ञवल्क्य ऐसे प्रसंगों की गणना सत्यापवाद में करते हैं, तथापि यह भी उनके मत से गौण बात है। इसलिये अंत में उन्हों ने इस अपवाद के लिये भी प्रायश्चित्त बतलाया है – 'तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः' (याज्ञ. २. ८३; मनु. ८. १०४ – १०६)।

कुछ बड़े अंग्रेजों ने – जिन्हें अहिंसा के अपवाद के विषय में आश्चर्य नहीं मालूम होता – हमारे शास्त्रकारों को सत्य के विषय में दोष देने का यत्न किया है। इसलिये यहाँ इस बात का उल्लेख किया जाता है, कि सत्य के विषय में प्रामाणिक ईसाई धर्मोपदेशक और नीतिशास्त्र के अंग्रेज़ ग्रंथकार क्या कहते हैं। क्राइस्ट का शिष्य पॉल बाइबल में कहता है, " यदि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा और बढ़ती है (अर्थात् ईसाई धर्म का अधिक प्रचार होता है), तो इससे मैं पापी क्योंकर हो सकता हूँ " (रोम ३.७) ? ईसाई धर्म के इतिहासकार मिलमैन ने लिखा है, कि प्राचीन ईसाई धर्मोपदेशक कई बार इसी तरह आचरण किया करते थे। यह बात सच है, कि वर्तमान समय के नीतिशास्त्र किसी को धोखा दे कर या भुला कर धर्मभ्रष्ट करना न्याय नहीं मानेंगे; परन्तु वे भी यह कहने को तैयार नहीं हैं, कि सत्यधर्म अपवादरहित है। उदाहरणार्थ, यह देखिये, कि सिजविक नाम के जिस पण्डित का नीतिशास्त्र हमारे कॉलेजों में पढ़ाया जाता है, उसकी क्या राय है। कर्म और अकर्म के संदेह का निर्णय जिस तत्त्व के आधार पर यह ग्रंथकार किया करता है, उसको "सब से अधिक लोगों का सब से अधिक सुख" (बहुत लोगों का बहुत सुख) कहते हैं। इसी नियम के अनुसार उसने यह निर्णय किया है, कि छोटे लड़कों को और पागलों को उत्तर देने के समय, और इसी प्रकार बीमार आदमियों को (यदि सच बात सुना देने से उनके स्वास्थ्य के बिगड़ जाने का भय हो), अपने शत्रुओं को, चोरों और (यदि बिना बोले काम न सटता हो तो) जो अन्याय से प्रश्न करें, उनको उत्तर देने के समय, अथवा वकीलों को अपने व्यवसाय में झूठ बोलना अनुचित है*। मिल के नीतिशास्त्रके ग्रंथ में भी इसी अपवाद का समावेश किया गया है ‡। इन अपवादों के अतिरिक्त सिजविक अपने ग्रंथ में यह भी लिखता है, कि " यद्यपि कहा गया है, कि सब लोगों को सच बोलना चाहिये, तथापि हम यह नहीं कह सकते, कि जिन राज-नीतिज्ञों को अपनी कार्रवाई गुप्त रखनी पड़ती है, वे औरों के साथ, तथा व्यापारी अपने ग्राहकों से हमेशा सच ही बोला करें †। " किसी अन्य स्थान में वह लिखता है, कि यही रियायत पादरियों और सिपाहियों को मिलती है। लेस्ली स्टीफन नाम का एक और अंग्रेज़ ग्रंथकार है। उसने नीतिशास्त्र का विवेचन आधिभौतिक दृष्टि से किया है। वह भी अपने

* Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book III Chap. XI, 6. p. 355 (7th Ed.) Also, see pp. 315-317 (same Ed.).

‡ Mill's *Utilitarianism*, Chap. II pp. 33-34 (15th Ed. Longmans, 1907).

† Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book IV. Chap. III, § 7. p. 454 (7th Ed.); and Book II Chap. V. § 3. p. 169.

ग्रंथ में ऐसे ही उदाहरण दे कर अन्त में लिखता है, "किसी कार्य के परिणाम की ओर ध्यान देने के बाद ही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। यदि मेरा यह विश्वास हो, कि झूठ बोलने ही से कल्याण होगा, तो मैं सत्य बोलनेके के लिये कभी तैयार नहीं रहूँगा। मेरे इस विश्वास में यह भाव भी हो सकता है, कि इस समय झूठ बोलना ही मेरा कर्तव्य है*।" ग्रीन साहब ने नीतिशास्त्र का विचार अध्यात्मदृष्टि से किया है। आप उक्त प्रसंगों का उल्लेख करके स्पष्ट रीति से कहते हैं, कि ऐसे समय नीतिशास्त्र मनुष्य के संदेह की निवृत्ति कर नहीं सकता। अन्त में आपने यह सिद्धान्त लिखा है, "नीतिशास्त्र यह नहीं कहता, कि किसी साधारण नियम के अनुसार – सिर्फ़ यह समझ कर कि वह है – हमेशा चलने में कुछ विशेष महत्त्व है; किन्तु उसका कथन सिर्फ़ यही है, कि 'सामान्यतः' उस नियम के अनुसार चलना हमारे लिये श्रेयस्कर है। इसका कारण यह है, कि ऐसे समय हम लोग केवल नीति के लिये अपनी लोभमूलक नीच मनोवृत्तियों को त्यागने की शिक्षा पाया करते हैं†"। नीतिशास्त्र पर ग्रंथ लिखनेवाले बेन, वेवेल आदि अन्य अंग्रेज पंडितों का भी ऐसा ही मत है‡।

यदि उक्त अंग्रेज ग्रंथकारों के मतों की तुलना हमारे धर्मशास्त्रकारों के बनाये हुए नियमों के साथ का जाय, तो यह बात सहज ही ध्यानमें आ जायगी, कि सत्य के विषय में अभिमानी कौन है। इसमें संदेह नहीं, कि हमारे शास्त्रों में कहा है :–

> न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
> प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥

अर्थात् "हँसी में स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब जान पर आ बने तब, और संपत्ति की रक्षा के लिये, झूठ बोलना पाप नहीं है" (म. भा. आ. ८२.१६ और शां. १०९ तथा मनु. ८. ११०)। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है, कि स्त्रियों के साथ हमेशा झूठ ही बोलना चाहिये। जिस भाव से सिजविक साहब ने

* Leslie Stephen's *Science of Ethics* (Chap. IX § 29, p. 369 (2nd Ed.). "And the certainty might be of such a kind as to make me think it a duty to lie."

† Greens's *Prolegomena to Ethics*, § 315, p. 379, (5th Cheaper edition).

‡ Bain's *Mental and Moral Science*, p. 445 (Ed. 1875); and Whewell's *Elements of Morality*, Book II. Chaps. XIII and XIV. (4th Ed. 1864).

'छोटे लड़के, पागल और बीमार आदमी' के विषयमें अपवाद कहा है, वही भाव महाभारत के उक्त कथन का भी है। अंग्रेज ग्रंथकारपारलौकिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि की ओर कुछ ध्यान नहीं देते। उन लोगों ने तो खुल्लमखुल्ला यहाँ तक प्रतिपादन किया है, कि व्यापारियों को अपने लाभ के लिये झूठ बोलना अनुचित नहीं है। किन्तु वह बात हमारे शास्त्रकारों को सम्मत नहीं है। इन लोगों ने कुछ ऐसे ही मौक़ों पर झूठ बोलने की अनुमति दी है, जब कि केवल सत्य शब्दोच्चारण (अर्थात् केवल वाचिक सत्य) और सर्वभूतहित (अर्थात् वास्तविक सत्य) में विरोध हो जाता है, और व्यवहार की दृष्टि से झूठ बोलना अपरिहार्य हो जाता है। इनकी राय है, कि सत्य आदि नीतिधर्म नित्य – अर्थात् सब समय एक समान अबाधित – हैं। अतएव यह अपरिहार्य झूठ बोलना भी थोड़ा-सा पाप ही है; और इसी लिये प्रायश्चित्त भी कहा गया है। संभव है, कि आजकल के आधिभौतिक पंडित इन प्रायश्चित्तों को निरर्थक हौवा कहेंगे; परन्तु जिसने ये प्रायश्चित्त कहे हैं और जिन लोगों के लिये ये कहे गये हैं, वे दोनों ऐसा नहीं समझते। वे तो सब उक्त सत्य-अपवाद को गौण ही मानते हैं। और इस विषय की कथाओं में भी यही अर्थ प्रतिपादित किया गया है। देखिये, युधिष्ठिर ने संकट के समय एक ही बार दबी हुई आवाज से "नरो वा कुंजरो वा" कहा था। इसका फल यह हुआ, कि उसका रथ, जो पहले जमीन से चार अंगुल ऊपर चला करता था, अब और मामूली लोगों के रथों के समान धरतीपर चलने लगा। और अंत में एक क्षण भर के लिये उसे नरकलोक में रहना पड़ा (म. भा. द्रोण. १९१. ५७. ५८ तथा स्वर्ग. ३. १५)। दूसरा उदाहरण अर्जुन का लीजिये। अश्वमेधपर्व (८१. १०) में लिखा है कि यद्यपि अर्जुन ने भीष्म का वध शास्त्रधर्म के अनुसार किया था; तथापि उसने शिखंडी के पीछे छिपकर यह काम किया था। इसलिये उसको अपने पुत्र बभ्रुवाहन से पराजित होना पड़ा। इन सब बातों से यही प्रकट होता है, कि विशेष प्रसंगों के लिये कहे गये उक्त अपवाद मुख्य या प्रमाण नहीं माने जा सकते। हमारे शास्त्रकारों का अंतिम और तात्त्विक सिद्धान्त वही है, जो महादेव ने पार्वती से कहा है:–

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
न मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

"जो लोग, इस जगत् में स्वार्थ के लिये, परार्थ के लिये, या मज़ाक में भी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हीं को स्वर्ग की प्राप्ति होती है" (म. भा. अनु. १४४.१९)।

अपनी प्रतिज्ञा या वचन को पूरा करना सत्य ही में शामिल है। भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्म पितामह कहते हैं, "चाहे हिमालय पर्वत अपने स्थान से हट जाय, अथवा अग्नि शीतल हो जाय, परन्तु हमारा वचन टल नहीं सकता"

(म. भा. आ. ८०३. तथा उ. ८१. ४८) भर्तृहरि ने भी सत्पुरुषों का वर्णन इस प्रकार किया है: –

तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति ।
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥

" तेजस्वी पुरुष आनन्द से अपनी जान भी दे देंगे; परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा का त्याग कभी नहीं करेंगे " (नीतिश. ११०)। इसी तरह श्रीरामचंद्रजी के एक-पत्नी-व्रत के साथ उनका एक-बाण और एक-वचन का व्रत भी प्रसिद्ध है; जैसा इस सुभाषित में कहा है – " द्विःशरं नाभिसंधत्ते रामो निर्नाभिभाषते। " हरिश्चंद्र ने तो अपने स्वप्न में दिये हुए वचन को सत्य करने के लिये डोमकी नीच सेवा भी की थी। इसके उलटा, वेद में यह वर्णन है, कि इंद्रादि देवताओं ने वृत्रासुर के साथ जो प्रतिज्ञाएँ की थीं उन्हें मेट दिया और उसको मार डाला। ऐसी ही कथा पुराणों में हिरण्यकशिपु की है। व्यवहार में भी कुछ कौल-करार ऐसे होते हैं, कि जो न्यायालय में बे-कायदा समझे जाते हैं; या जिनके अनुसार चलना अनुचित माना जाता है। अर्जुन के विषय में ऐसी एक कथा महाभारत (कर्ण. ६६) में है। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी, कि जो कोई मुझ से कहेगा, कि " तू अपना गांडीव धनुष्य किसी दूसरे को दे दे, उसका शिर मैं तुरन्त ही काट डालूँगा। " इसके बाद युद्ध में जब युधिष्ठिर कर्ण से पराजित हुआ, तब उसने निराश हो कर अर्जुन से कहा, " तेरा गांडीव हमारे किस काम का है? तू इसे छोड़ दे! " यह सुन कर अर्जुन हाथ में तलवार ले युधिष्ठिर को मारने दौड़ा। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण वहीं थे। उन्हों ने तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सत्यधर्म का मार्मिक विवेचन करके अर्जुन को यह उपदेश किया, कि " तू मूढ है। तुझे अब तक सूक्ष्म-धर्म मालूम नहीं हुआ है। तुझे वृद्धजनों से इस विषय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये; ' न वृद्धाः सेविता-स्त्वया ' – तू ने वृद्धजनों की सेवा नहीं की है – यदि तू प्रतिज्ञा की रक्षा करना ही चाहता है, तो तू युधिष्ठिर की निर्भर्त्सना कर, क्योंकि सभ्यजनों को निर्भर्त्सना मृत्यु ही के समान है। " इस प्रकार बोध करके उन्हों ने अर्जुन को ज्येष्ठभ्रातृवध के पाप से बचाया। इस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने जो सत्यानृत-विवेक अर्जुन को बताया है, उसी को आगे चल कर शान्तिपर्व के सत्यानृत नामक अध्याय में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है (शां. १०९)। यह उपदेश व्यवहार में लोगों के ध्यान में रहना चाहिये। इसमें संदेह नहीं, कि इन सूक्ष्म प्रसंगों को जानना बहुत कठिन काम है। देखिये, इस स्थान में सत्य की अपेक्षा भ्रातृधर्म ही श्रेष्ठ माना गया है; और गीता में यह निश्चित किया गया है, कि बंधुप्रेम की अपेक्षा क्षात्रधर्म प्रबल है।

जब अहिंसा और सत्य के विषय में इतना वाद-विवाद है, तब आश्चर्य की बात नहीं, कि यही हाल नीतिधर्म के तीसरे तत्त्व अर्थात् अस्तेय का भी हो। यह

बात निर्विवाद सिद्ध है, कि न्यायपूर्वक प्राप्त हुई किसी की संपत्ति को चुरा ले जाने या लूट लेने की स्वतंत्रता दूसरों को मिल जाय, तो द्रव्य का संचय करना बंद हो जायगा; समाज की रचना बिगड़ जायगी, चारों तरफ अनवस्था हो जायगी और सभी की हानि होगी। परन्तु इस नियम के भी अपवाद हैं। जब दुर्भिक्ष के समय मोल लेने, मज़दूरी करने या भिक्षा माँगने से भी अनाज़ नहीं मिलता, तब ऐसी आपत्ति में यदि कोई मनुष्य चोरी करके आत्मरक्षा करे, तो क्या वह पापी समझा जायगा? महाभारत (शां. १४१) में यह कथा है, कि किसी समय बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहा और विश्वामित्र पर बहुत बड़ी आपत्ति आई। तब उन्हों ने किसी श्वपच (चाण्डाल) के घर से कुत्ते का मांस चुराया और वे इस अभक्ष्य भोजन से अपनी रक्षा करने के लिये प्रवृत्त हुए। उस समय श्वपच ने विश्वामित्र को "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" (मनु. ५.१८)* इत्यादि शास्त्रार्थ बतला कर अभक्ष्य-भक्षण और वह भी चोरी से न करने के विषय में बहुत उपदेश किया। परन्तु विश्वामित्र ने उसको डाँट कर यह उत्तर दिया:–

पिबन्त्येवोदकं गावो मंडूकेषु रुवत्स्वपि ।
न तेऽसिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः ॥

"अरे! यद्यपि मेंढ़क टर्र टर्र किया करते हैं, तो भी गौएँ पानी पीना बंद नहीं करतीं; चुप रह! मुझ को धर्मज्ञान बताने का तेरा अधिकार नहीं है। व्यर्थ अपनी प्रशंसा मत कर।" उसी समय विश्वामित्र ने यह भी कहा है, कि "जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्" – अर्थात् यदि जिंदा रहेंगे तो धर्म का आचरण कर सकेंगे। इसलिये धर्म की दृष्टि से मरने की अपेक्षा जीवित रहना अधिक श्रेयस्कर है। मनुजी ने अजीगर्त, वामदेव आदि अन्यान्य ऋषियों के उदाहरण दिये हैं, जिन्हों ने ऐसे संकट समय इसी प्रकार आचरण किया है (मनु. १०. १०५-१०८)। हाब्स नामक अंग्रेज़ ग्रंथकार लिखता है, "किसी कठिन अकाल

* मनु और याज्ञवल्क्य ने कहा है कि कुत्ता, बंदर आदि जिन जानवरों के पाँच पाँच नख होते हैं उन्हीं में से खरगोश, कछुआ, गोह आदि पाँच प्रकार के जानवरों का मांस भक्ष्य है (मनु. ५. १८; याज्ञ. १. १७७)। इन पाँच जानवरों के अतिरिक्त मनुजी ने 'खड्ग' अर्थात् गेंडे को भी भक्ष्य माना है। परन्तु टीकाकार का कथन है, कि इस विषय में विकल्प है। इस विकल्प को छोड़ देने पर शेष पाँच ही जानवर रहते हैं; और उन्हीं का मांस भक्ष्य समझा गया है। "पंच पंचनखा भक्ष्याः" का यही अर्थ है। तथापि मीमांसकों के मतानुसार इस व्यवस्था का भावार्थ यही है, कि जिन लोगों को मांस खाने की सम्मति दी गई है, वे उक्त पंचनखी पाँच जानवरों के सिवा और किसी जानवर का मांस न खाये। इसका भावार्थ यह नहीं है, कि इन जानवरों का मांस खाना ही चाहिये। इस पारिभाषिक अर्थ को वे लोग 'परिसंख्या' कहते हैं। 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इसी परिसंख्या का मुख्य उदाहरण है। जब कि मांस खाना ही निषिद्ध माना गया है तब इन पाँच जानवरों का मांस खाना भी निषिद्ध ही समझा जाना चाहिये।

के समय जब अनाज मोल न मिले, या दान भी न मिले, तब यदि पेट भरने के लिये कोई चोरी या साहस कर्म करे, तो यह अपराध माफ़ समझा जाता है*। और मिल ने तो यहाँ तक लिखा है, कि ऐसे समय चोरी करके अपना जीवन बचाना मनुष्य का कर्तव्य है!

'मरने से जिंदा रहना श्रेयस्कर है' – क्या विश्वामित्र का यह तत्त्व सर्वथा अपवादरहित कहा जा सकता है? नहीं। इस जगत् में सिर्फ़ जिंदा रहना ही कुछ पुरुषार्थ नहीं है। कौए भी काकबलि खा कर कई वर्ष तक जीते रहते हैं। यही सोच कर वीरपत्नी विदुला अपने पुत्र से कहती है, कि बिछौने पर पड़े पड़े सड़ जाने या घर में सौ वर्ष की आयु को व्यर्थ व्यतीत कर देने की अपेक्षा, यदि तू एक क्षण भी अपने पराक्रम की ज्योति प्रकट करके मर जायगा तो अच्छा होगा – "मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्" (म. भा. उ. १३२. १५)। यदि यह बात सच है, कि आज नहीं तो कल, अंत में सौ वर्ष के बाद मरना जरूर है (भाग. १०. १३८; गी. २. २७), तो फिर उसके लिये रोने या डरने से क्या लाभ है? अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से तो आत्मा नित्य और अमर है। इस लिये मृत्यु का विचार करते समय सिर्फ़ इस शरीर का ही विचार करना बाकी रह जाता है। अच्छा, यह तो सब जानते हैं, कि यह शरीर नाशवान् है; परन्तु आत्मा के कल्याण के लिये इस जगत् में जो कुछ करना हैं, उसका एकमात्र साधन यही नाशवान् मनुष्यदेह है। इसी लिये मनु ने कहा है, "आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि" – अर्थात् स्त्री और सम्पत्ति की अपेक्षा हमको पहले स्वयं अपनी ही रक्षा करनी चाहिये (मनु. ७. २१३)। यद्यपि मनुष्य-देह दुर्लभ और नाशवान् भी है, तथापि जब उसका नाश करके उससे भी अधिक किसी शाश्वत वस्तु की प्राप्ति कर लेनी होती है, (जैसे देश, धर्म और सत्य के लिये अपनी प्रतिज्ञा, व्रत और बिरद की रक्षा के लिये; एवं इज्ज़त, कीर्ति और सर्व-भूतहित के लिये) तब ऐसे समय पर अनेक महात्माओं ने इस तीव्र कर्तव्याग्नि में आनन्द से अपने प्राणों की भी आहुति दे दी है। जब राजा दिलीप अपने गुरु वसिष्ठ की गाय की रक्षा करने के लिये सिंह को अपने शरीर का बलिदान देने को तैयार हो गया, तब वह सिंह से बोला, कि हमारे समान पुरुषों की "इस पाँचभौतिक शरीर के विषय में अनास्था रहती है। अतएव तू मेरे इस जड़ शरीर के बदले मेरे यशःस्वरूपी शरीर की ओर ध्यान दे।" (रघु. २. ५७)। कथा-सरित्सागर और नागानन्द नाटक में यह वर्णन है, कि सर्पों की रक्षा करने के

* Hobbes, *Leviathan*, Part II. Chap. XXVII. p. 139 (Morley's Universal Library Edition). Mill's *Utilitarianism*, Chap. V. p. 95. (15th Ed.) Thus, to save a life, it may not only be allowable but a duty to steal etc."

लिये जीमूतवाहन ने गरुड को स्वयं अपना शरीर अर्पण कर दिया। मृच्छकटिक नाटक (१०.२७) में चारुदत्त कहता है :–

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमः किल ॥

" मैं मृत्यु से नहीं डरता; मुझे यही दुःख है, कि मेरी कीर्ति कलंकित हो गई। यदि कीर्ति शुद्ध रहे, और मृत्यु भी आ जाय, तो मैं उसको पुत्र के उत्सव के समान मानूँगा। " इसी तत्त्व के आधार पर महाभारत (वन. १०० तथा १३१; शां. ३४२) में राजा शिबि और दधीचि ऋषि की कथाओं का वर्णन किया है। जब धर्म – (यम) राज श्येन पक्षी का रूप धारण करके कपोत के पीछे उड़े और जब वह कपोत अपनी रक्षा के लिये राजा शिबि की शरण में गया, तब राजा ने स्वयं अपने शरीर का मांस काट कर उस श्येन पक्षी को दे दिया; और शरणागत कपोत की रक्षा की। वृत्रासुर नाम का देवताओं का एक शत्रु था। उसको मारने के लिये दधीचि ऋषि की हड्डियों के वज्र की आवश्यकता हुई। तब सब देवता मिल कर उक्त ऋषि के पास गये और बोले, " शरीरत्यागं लोकहितार्थं भवान् कर्तुमर्हसि " – हे महाराज! लोगों के कल्याण के लिये आप देहत्याग कीजिये। बिनती सुन कर दधीचि ऋषि ने बड़े आनन्द से अपना शरीरत्याग दिया और अपनी हड्डियाँ देवताओं को दे दी। एक समय की बात है, कि इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके, दानशूर कर्ण के पास कवच और कुंडल माँगने आया। कर्ण इन कवच-कुण्डलों को पहने हुए ही जन्मा था। जब सूर्य नें जाना, कि इन्द्र कवच-कुण्डल माँगने जा रहा है, तब उसने पहले ही से कर्ण को सूचना दे दी थी, कि तुम अपने कवच-कुण्डल किसी को दान मत देना। यह सूचना देते समय सूर्य ने कर्ण से कहा, " इसमें संदेह नहीं, कि तू बड़ा दानी है; परन्तु यदि तू अपने कवच-कुण्डल दान में देगा, तो तेरे जीवन ही की हानि हो जायगी। इसलिये तू इन्हें किसी को न देना। मर जाने पर कीर्ति का क्या उपयोग है? – " मृतस्य कीर्त्या किं कार्याम्। " यह सुन कर कर्ण ने स्पष्ट उत्तर दिया, कि " जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम् " – अर्थात् जान चली जाय तो भी कुछ परवाह नहीं; परन्तु अपनी कीर्ति की रक्षा करना ही मेरा व्रत है (म. भा. बन. २९९. ३८) सारांश यह है, कि " यदि मर जायगा, तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी; और जीत जायगा तो पृथ्वी का राज्य मिलेगा " इत्यादि क्षात्रधर्म (गी. २. ३७) और " स्वधर्मे निधनं श्रेयः " (गी. ३. ३५) यह सिद्धान्त उक्त तत्त्व पर ही अवलंबित है। इसी तत्त्व के अनुसार श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कहते हैं, " कीर्ति की ओर देखने से सुख नहीं है; और सुख की ओर देखने से कीर्ति नहीं मिलती " (दास. १२. १०. १६; १८. १०. २५); और वे उपदेश भी करते हैं, कि " हे सजन मन! ऐसा काम

करो, जिससे मरने पर कीर्ति बची रहे।" यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यद्यपि परोपकार से कीर्ति होती है, तथापि मृत्यु के बाद कीर्ति का क्या उपयोग है? अथवा किसी सभ्य मनुष्य को अपकीर्ति की अपेक्षा मर जाना (गी. २. ३४), या जिंदा रहने से परोपकार करना, अधिक प्रिय क्यों मालूम होना चाहिये? इस प्रश्न का उचित उत्तर देने के लिये आत्म-अनात्म-विचार में प्रवेश करना होगा। और इसी के साथ कर्म-अकर्मशास्त्र का भी विचार करके यह जान लेना होगा, कि किस मौके पर जान देने के लिये तैयार होना उचित या अनुचित है। यदि इस बात का विचार नहीं किया जायगा, तो जान देने से यश की प्राप्ति तो दूर ही रही, परन्तु मूर्खता से आत्महत्या करने का पाप माथे चढ़ जायगा।

माता, पिता, गुरु आदि वन्दनीय और पूजनीय पुरुषों की पूजा तथा शुश्रूषा करना भी सर्वमान्य धर्मों में से एक प्रधान धर्म समझा जाता है। यदि ऐसा न हो तो कुटुंब, गुरुकुल और सारे समाज की व्यवस्था ठीक ठीक कभी रह न सकेगी। यही कारण है, कि सिर्फ़ स्मृति-ग्रन्थों ही में नहीं, किन्तु उपनिषदों में भी, "सत्यं वद, धर्मं चर" कहा गया है। और जब शिष्य का अध्ययन पूरा हो जाता, और वह अपने घर जाने लगता, तब प्रत्येक गुरु का यही उपदेश होता था, कि "मातृदेवो भव। पितृदेवो भव" (तै. १. ११. १ और ६.) महाभारत के ब्राह्मण-व्याध आख्यान का तात्पर्य भी यही है (वन. अ. २१३)। परन्तु इस धर्म में भी कभी कभी अकल्पिक बाधा खड़ी हो जाती है। देखिये, मनुजी कहते हैं (२. १४५) –

उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

"दस उपाध्यायों से आचार्य, और सौ आचार्यों से पिता, एवं हज़ार पिताओं से माता का गौरव अधिक है।" इतना होने पर भी यह कथा प्रसिद्ध है, (वन. ११६. १४) कि परशुराम की माता ने कुछ अपराध किया था। इस लिये उसने अपने पिता की आज्ञा से अपनी माता को मार डाला। शान्तिपर्व (२६५) के चिरकारिकोपाख्यान में अनेक साधक-बाधक प्रमाणोंसहित इस बात का विस्तृत विवेचन किया गया है, कि पिता की आज्ञा से माता का वध करना श्रेयस्कर है या पिता की आज्ञा का भंग करना श्रेयस्कर है। इससे स्पष्ट जाना जाता है, कि महा-भारत के समय ऐसे सूक्ष्म प्रसंगों की नीतिशास्त्र की दृष्टि से चर्चा करने की पद्धति जारी थी। यह बात छोटों से ले कर बड़ों तक सब लोगों को मालूम है, कि पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये पिता की आज्ञा से रामचंद्र ने चौदह वर्ष बनवास किया; परन्तु माता के संबंध में जो न्याय ऊपर कहा गया है, वही पिता के संबंध में भी उपयुक्त होने का समय कभी कभी आ सकता है।

जैसे; मान लीजिये, कोई लड़का अपने पराक्रम से राजा हो गया; और उसका पिता अपराधी हो कर इन्साफ़ के लिये उसके सामने लाया गया; इस अवस्था में वह लड़का क्या करे ? – राजा के नाते अपने अपराधी पिता को दंड दे या उसको अपना पिता समझ कर छोड़ दे ? मनुजी कहते हैं :–

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥

" पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित – इनमें से कोई भी यदि अपने धर्म के अनुसार न चले, तो वह राजा के लिये अदण्ड्य नहीं हो सकता; अर्थात् राजा उसको उचित दण्ड दे " (मनु. ८. ३३५; म. भा. शां. १२१. ६०)। इस जगह पुत्रधर्म की योग्यता से राजधर्म की योग्यता अधिक है। इस बात का उदाहरण (म. भा. ब. १०७; रामा. १. ३८ में) यह है, कि सूर्यवंश के महापराक्रमी सगर राजा ने असमंजस नामक अपने लड़के को देश से निकल दिया था; क्योंकि वह दुराचरणी था, और प्रजा को दुःख दिया करता था। मनुस्मृति में भी यह कथा है, कि आंगिरस नामक एक ऋषि को छोटी अवस्था ही में बहुत ज्ञान हो गया था। इसलिये उनके काका-मामा आदि बड़े बूढ़े नातेदार उसके पास अध्ययन करने लग गये थे। एक दिन पाठ पढ़ाते पढ़ाते आंगिरस ने कहा, ' पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्। " बस, यह सुन कर सब वृद्धजन क्रोध से लाल हो गये; और कहने लगे, कि यह लड़का मस्त हो गया है। उसको उचित दण्ड दिलाने के लिये उन लोगों ने देवताओं से शिकायत की। देवताओं ने दोनों ओर का कहना सुन लिया और यह निर्णय किया, कि " आंगिरस ने जो कुछ तुम्हें कहा वही न्याय्य है। " इसका कारण यह है :–

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥

" सिर के बाल सफ़ेद हो जाने से ही कोई मनुष्य वृद्ध नहीं कहा जा सकता; देवगण उसी को वृद्ध कहते हैं, जो तरुण होने पर भी ज्ञानवान् हो " (मनु. २. १५६ और म. भा. बन. १३३. ११; शल्य. ५१. ४७.)। यह तत्त्व मनुजी और व्यासजी ही को नहीं, किंतु बुद्ध को भी मान्य था। क्योंकि, मनस्मृति के उस श्लोक का पहला चरण 'धम्मपद'* नाम के प्रसिद्ध नीतिविषयक पाली भाषा के

---

* ' धम्मपद ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद ' प्राच्यधर्म-पुस्तकमाला ' (*Sacred Books of the East, Vol. X*) में किया गया है; और चुल्लवग्ग का अनुवाद भी उसी माला के *Vol. XVII* और *XX* में प्रकाशित हुआ है। धम्मपद का पाली श्लोक यह है :–

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो ति वुच्चति ॥

'थेर' शब्द बुद्ध भिक्षुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह संस्कृत 'स्थविर' का अपभ्रंश है।

बौद्ध ग्रंथ में अक्षरशः आया है (धम्मपद २६०)। और उसके आगे यह भी कहा है, कि जो सिर्फ़ अवस्था ही से वृद्ध हो गया है, उसका जीना व्यर्थ है; यथार्थ में धर्मिष्ठ और वृद्ध होने के लिये सत्य, अहिंसा आदि की आवश्यकता है। 'चुल्लवग्ग' नामक दूसरे ग्रंथ (६.१३.१) में स्वयं बुद्ध की यह आज्ञा है, कि यद्यपि धर्म का निरूपण करनेवाला भिक्षु नया हो, तथापि वह ऊँचे आसन पर बैठे और उन वयोवृद्ध भिक्षुओं को भी उपदेश करे, जिन्हों ने उसके पहले दीक्षा पाई हो। यह कथा सब लोग जानते हैं, कि प्रल्हाद ने अपने पिता हिरण्यकशिपु की अवज्ञा करके भगवत्प्राप्ति कैसे कर ली थी। इससे यह जान पड़ता है, कि जब कभी कभी पिता-पुत्र के सर्वसामान्य नाते से भी कोई दूसरा अधिक बड़ा संबंध उपस्थित होता है, तब उतने समय के लिये निरुपाय होकर पिता-पुत्र का नाता भूल जाना पड़ता है। परन्तु ऐसे अवसर के न होते हुए भी, यदि कोई मुँहज़ोर लड़का उक्त नीति का अवलंब करके अपने पिता को गालियाँ देने लगे, तो वह केवल पशु के समान समझा जायगा। पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है, "गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः" (शां. १८८.१७) – अर्थात् गुरु, माता-पिता से भी श्रेष्ठ है; परन्तु महाभारत ही में यह भी लिखा है, कि एक समय मरुत्त राजा के गुरु ने लोभवश हो कर स्वार्थ के लिये उसका त्याग किया, तब मरुत्त ने कहा :–

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥

"यदि कोई गुरु इस बात का विचार न करे, कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये; और यदि वह अपने ही घमंड में रह कर टेढ़े रास्ते से चले, तो उसका शासन करना उचित है।" उक्त श्लोक महाभारत में चार स्थानों में पाया जाता है (आ. १४२.५२.५३; उ.१७९, २४; शां.५७.७; १४०.४८)। इनमें से पहले स्थान में वही पाठ है, जो ऊपर दिया गया है। अन्य स्थानों में चौथे चरण में "दण्डो भवति शाश्वतः" अथवा "परित्यागो विधीयते" यह पाठान्तर भी है। परन्तु वाल्मीकिरामायण (२.२१.१३) में जहाँ यह श्लोक है, वहाँ ऐसा ही पाठ है, जैसा ऊपर दिया गया है। इसलिये हम ने इस ग्रंथ में उसी को स्वीकार किया है। इस श्लोक में जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है, उसी के आधार पर भीष्म पितामह ने परशुराम से और अर्जुन ने द्रोणाचार्य से युद्ध किया; और जब प्रल्हाद ने देखा, कि अपने गुरु, जिन्हें हिरण्यकशिपु ने नियत किया है, भगवत्प्राप्ति के विरुद्ध उपदेश कर रहे हैं, तब उसने इसी तत्त्व के अनुसार उनका निषेध किया है। शांतिपर्व में भीष्म पितामह श्रीकृष्ण से कहते हैं, कि यद्यपि गुरु लोग पूजनीय हैं, तथापि उनको भी नीति की मर्यादा का अवलंबन करना चाहिये; नहीं तो –

समयत्यागिने लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित्॥

"हे केशव! जो गुरु मर्यादा, नीति अथवा शिष्टाचार का भंग करते हैं और जो लोभी या पापी हैं, उन्हें लड़ाई में मारनेवाला क्षत्रिय ही धर्मज्ञ कहलाता है" (शां. ५५. १६)। इसी तरह तैत्तिरीयोपनिषद् में भी प्रथम "आचार्यदेवो भव" कह कर उसी के आगे कहा है, कि हमारे जो कर्म अच्छे हों उन्हीं का अनुकरण करो; औरों का नहीं – "यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि" (तै. १. ११. २)। इससे उपनिषदों का वह सिद्धान्त प्रकट होता है, कि यद्यपि पिता और आचार्य को देवता के समान मानना चाहिये; तथापि यदि वे शराब पीते हों, तो पुत्र और छात्र को अपने पिता या आचार्य का अनुकरण नहीं करना चाहिये। क्योंकि नीति, मर्यादा और धर्म का अधिकार माँ-बाप या गुरु से अधिक बलवान् होता है। मनुजी की निम्न आज्ञा का भी यही रहस्य है – "धर्म की रक्षा करो; यदि कोई धर्म का नाश करेगा; अर्थात् धर्म की आज्ञा के अनुसार आचरण नहीं करेगा; तो वह उस मनुष्य का नाश किये बिना नहीं रहेगा" (मनु. ८. १४–१६)। राजा तो गुरु से भी अधिक श्रेष्ठ एक देवता है (मनु. ७. ८ और म. भा. शां. ६८. ४०); परंतु वह भी इस धर्म से मुक्त नहीं हो सकता। यदि वह इस धर्म का त्याग कर देगा, तो उसका नाश हो जायगा। यह बात मनुस्मृति में कही गई है; और महाभारत में वही भाव, वेन तथा खनीनेत्र राजाओं की कथा में, व्यक्त किया गया है (मनु. ७. ४१ और ८. १२८; म. भा. शां. ५६. ६२–१०० तथा अश्व. ४)।

अहिंसा, सत्य और अस्तेय के साथ इन्द्रिय-निग्रह की भी गणना सामान्य धर्म में की जाती है (मनु. १०. ६३)। काम, क्रोध, लोभ आदि मनुष्य के शत्रु हैं। इसलिये जब तक मनुष्य इनको जीत नहीं लेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं होगा। यह उपदेश सब शास्त्रों में किया गया है। विदुरनीति और भगवद्गीता में भी कहा है :–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

"काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं। इनसे हमारा नाश होता है। इस लिये इनका त्याग करना चाहिये" (गीता. १६.२१; म. भा. ३२.७०)। परन्तु गीता ही में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप का यह वर्णन किया है, "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" – हे अर्जुन! प्राणिमात्र में जो 'काम' धर्म के अनकूल है, वही मैं हूँ (गीता. ७.११)। इससे यह बात सिद्ध होती है, कि जो 'काम' धर्म के विरुद्ध है वही नरक का द्वार है। इसके अतिरिक्त जो

दूसरे प्रकार का 'काम' है, अर्थात् जो धर्म के अनुकूल है, वह ईश्वर को मान्य है। मनु ने भी यही कहा है: "परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ" – जो अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हो, उनका त्याग कर देना चाहिये (मनु. ४.१७६)। यदि सब प्राणी कल से 'काम' का त्याग कर दें और मृत्युपर्यंत ब्रह्मचर्यव्रत से रहनेका निश्चय कर लें, तो सौ-पचास वर्ष ही में सारी सजीव सृष्टि का लय हो जायगा; और जिस सृष्टि की रक्षा के लिये भगवान् बार बार अवतार धारण करते हैं, उसका अल्पकाल ही में उच्छेद हो जायगा। यह बात सच है, कि काम और क्रोध मनुष्य के शत्रु हैं; परंतु कब? जब वे अपने को अनिवार्य हो जाएँ तब। यह बात मनु आदि शास्त्रकारों को सम्मत है, कि सृष्टि का क्रम जारी रखने के लिये – उचित मर्यादा के भीतर – काम और क्रोध की अत्यंत आवश्यकता है (मनु. ५.५६)। इन प्रबल मनोवृत्तियों का उचित रीति से निग्रह करना ही सब सुधारों का प्रधान उद्देश है। उनका नाश करना कोई सुधार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भागवत (११.५.११) में कहा है:–

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

"इस दुनिया में किसी से यह कहना नहीं पड़ता, कि तुम मैथुन, मांस और मदिरा का सेवन करो। ये बातें मनुष्य को स्वभाव ही से पसन्द हैं। इन तीनों की कुछ व्यवस्था कर देने के लिये – अर्थात् इनके उपयोग को कुछ मर्यादित करके व्यवस्थित कर देने के लिये – (शास्त्रकारों ने) अनुक्रम से विवाह, सोमयाग और सौत्रामणी यज्ञ की योजना की है; परन्तु तिस पर भी निवृत्ति अर्थात् निष्काम आचरण इष्ट है।" यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है, कि जब 'निवृत्ति' शब्द का संबंध पञ्चम्यन्त पद के साथ होता है, तब उसका अर्थ "अमुक वस्तु से निवृत्ति अर्थात् अमुक कर्म का सर्वथा त्याग" हुआ करता है; तो भी कर्मयोग में "निवृत्ति" विशेषण कर्म ही के लिये उपयुक्त हुआ है। इसलिये 'निवृत्तिकर्म' का अर्थ 'निष्काम बुद्धि से किया जानेवाला कर्म' होता है। यही अर्थ मनुस्मृति और भागवतपुराण में स्पष्ट रीति से पाया जाता है (मनु. १२. ८९; भाग ११.१०.१ और ७.१५.४७) क्रोध के विषय में किरातकाव्य में (१.३३) भारविका कथन है:–

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।

"जिस मनुष्य को अपमानित होने पर भी क्रोध नहीं आता, उसकी मित्रता और द्वेष दोनों बराबर हैं।" क्षात्रधर्म के अनुसार देखा जाय तो विदुला ने यही कहा है:–

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्॥

"जिस मनुष्य को (अन्याय पर) क्रोध आता है, जो (अपमान को) सह नहीं सकता, वही पुरुष कहलाता है। जिस मनुष्य में क्रोध या चिढ़ नहीं है, वह नपुंसक ही के समान है" (म. भा. १.१३२. ३३)। इस बात का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, कि इस जगत् के व्यवहार के लिये न तो सदा तेज या क्रोध ही उपयोगी है, और न क्षमा। यही बात लोभ के विषय में भी कही जा सकती है; क्योंकि संन्यासी को भी मोक्ष की इच्छा होती ही है।

व्यासजी ने महाभारत में अनेक स्थानों पर भिन्न भिन्न कथाओं के द्वारा यह प्रतिपादन किया है, कि शूरता, धैर्य, दया, शील, मित्रता, समता आदि सब सद्गुण अपने अपने विरुद्ध गुणों के अतिरिक्त देश-काल आदि से मर्यादित हैं। यह नहीं समझना चाहिये, कि कोई एक ही सद्गुण सभी समय शोभा देता है। भर्तृहरि का कथन है:-

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।

"संकट के समय धैर्य, अभ्युदय के समय (अर्थात् जब शासन करने का सामर्थ्य हो तब) क्षमा, सभा में वक्तृता और युद्ध में शूरता शोभा देती है" (नीति ६३)। शांति के समय 'उत्तर' के समान बकबक करनेवाले पुरुष कुछ कम नहीं हैं। घर बैठे बैठे अपनी स्त्री की नथनी में से तीर चलानेवाले कर्मवीर बहुतेरे होंगे; उनमें से रणभूमि पर धनुर्धर कहलानेवाला एक-आध ही दीख पड़ता है। धैर्य आदि सद्गुण ऊपर लिखे समय पर ही शोभा देते हैं इतना ही नहीं, किंतु ऐसे मौक़े के बिना उनकी सच्ची परीक्षा भी नहीं होती। सुख के साथी तो बहुतेरे हुआ करते हैं; परन्तु "निकषग्रावा तु तेषां विपत्" – विपत्ति ही उन की परीक्षा की सच्ची कसौटी है। 'प्रसंग' शब्द ही में देश-काल के अतिरिक्त पात्र आदि बातों का भी समावेश हो जाता है। समता से बढ़ कर कोई भी गुण श्रेष्ठ नहीं है। भगवद्गीता में स्पष्ट रीति से लिखा है, "समः सर्वेषु भूतेषु" यही सिद्ध पुरुषों का लक्षण है। परन्तु समता कहते किसे हैं? यदि कोई मनुष्य योग्यता-अयोग्यता का विचार न करके सब लोगों को समान दान करने लगे, तो क्या हम उसे अच्छा कहेंगे? इस प्रश्न का निर्णय भगवद्गीता ही में इस प्रकार किया है – "देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः" – देश, काल और पात्र का विचार कर के जो दान किया जाता है, वही सात्त्विक कहलाता है (गीता. १७. २०)। काल की मर्यादा सिर्फ़ वर्तमान काल ही के लिये नहीं होती। ज्यों ज्यों समय बदलता जाता है, त्यों त्यों व्यावहारिक धर्म में भी परिवर्तन होता जाता है। इसलिये जब प्राचीन समय की किसी बात की योग्यता या अयोग्यता का निर्णय करना हो, तब उस समय के धर्म-अधर्मसंबंधी विश्वास का भी अवश्य विचार करना पड़ता है। देखिये, मनु (१. ८५) और व्यास (म. भा. शां. २५९. ८) कहते हैं:-

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगऱ्हासानुरूपतः॥

" युगमान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न भिन्न होते हैं।" महाभारत (आ. १२२; और ७६) में यह कथा है, कि प्राचीन काल में स्त्रियों के लिये विवाह की मर्यादा नहीं थी; वे इस विषय में स्वतन्त्र और अनावृत थीं; परन्तु जब इस आचरण का बुरा परिणाम दीख पड़ा, तब श्वेतकेतु ने विवाह की मर्यादा स्थापित कर दी; और मदिरापान का निषेध भी पहले पहल शुक्राचार्य ही ने किया। तात्पर्य यह है, कि जिस समय ये नियम जारी नहीं थे, उस समय के धर्म-अधर्म का और उसके बाद के धर्म-अधर्म का विवेचन भी भिन्न भिन्न रीति से किया जाना चाहिये। इसी तरह यदि वर्तमान समय का प्रचलित धर्म आगे बदल जाय, तो उसके साथ भविष्य काल के धर्म-अधर्म का विवेचन भी भिन्न रीति से किया जायगा। कालमान के अनुसार देशाचार, कुलाचार, और जातिधर्म का भी विचार करना पड़ता है। क्योंकि आचार ही सब धर्मों की जड़ है। तथापि आचारों में भी बहुत भिन्नता हुआ करती है। पितामह भीष्म कहते हैं :–

न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः॥

" ऐसा आचार नहीं मिलता, जो हमेशा सब लोगों को समान हितकारक हो। यदि किसी एक आचार का स्वीकार किया जाय, तो दूसरा उससे बढ़ कर मिलता है; यदि इस दूसरे आचार का स्वीकार किया जाय, तो वह किसी तीसरे आचार का विरोध करता है" (शां. २५६. १७. १८)। जब आचारों में ऐसी भिन्नता हो, तब भीष्म पितामह के कथन के अनुसार तारतम्य अथवा सार-असार-दृष्टि से विचार करना चाहिये।

कर्म-अकर्म या धर्म-अधर्म के विषय में सब संदेहों का यदि निर्णय करने लगे, तो दूसरा महाभारत ही लिखना पड़ेगा। उक्त विवेचन से पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी, कि गीता के आरंभ में क्षात्र धर्म और बंधुप्रेम के बीच झगड़ा उत्पन्न हो जानेसे अर्जुन पर कठिनाई आई, वह कुछ लोक-विलक्षण नहीं है; इस संसार में ऐसी कठिनाइयाँ कार्यकर्ताओं और बड़े आदमियों पर अनेक बार आया ही करती हैं; और जब ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं, तब कभी अहिंसा और आत्मरक्षा के बीच, कभी सत्य और सर्वभूतहित में, कभी शरीररक्षा और कीर्ति में और कभी भिन्न भिन्न नातों से उपस्थित होनेवाले कर्तव्यों में झगड़ा होने लगता है। शास्त्रोक्त, सामान्य तथा सर्वमान्य नीति-नियमों से काम नहीं चलता; और उनके लिये अनेक अपवाद उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे बिकट समय पर साधारण मनुष्यों से ले कर बड़े बड़े पंडितों की भी यह जानने की स्वाभा-

विक इच्छा होती है, कि कार्य-अकार्य की व्यवस्था – अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य धर्म का निर्णय – करने के लिये कोई चिरस्थायी नियम अथवा युक्ति है या नहीं। यह बात सच है, कि शास्त्रों में दुर्भिक्ष जैसे संकट के समय 'आपद्धर्म' कहकर कुछ सुविधाएं दी गई हैं। उदाहरणार्थ, स्मृतिकारों ने कहा है, कि यदि आपत्काल में ब्राह्मण किसी का भी अन्न ग्रहण कर ले, तो वह दोषी नहीं होता; और उषस्तिच क्रायण के इसी तरह बर्ताव करने की कथा भी छांदोग्योपनिषद् (याज्ञ. ३. ४१; छां. १. १०.) में है; परन्तु इसमें और उक्त कठिनाइयों में बहुत भेद है। दुर्भिक्ष जैसे आपत्काल में शास्त्रधर्म और भूख, प्यास आदि इन्द्रियवृत्तियों के बीच में ही झगड़ा हुआ करता है। उस समय हमको इन्द्रियाँ एक ओर खींचा करती हैं और शास्त्रधर्म दूसरी ओर खींचा करता है। परन्तु जिन कठिनाइयों का वर्णन ऊपर किया गया है, उनमें से बहुतेरी ऐसी हैं, कि उस समय इन्द्रिय-वृत्तियों का और शास्त्र का कुछ भी विरोध नहीं होता; किन्तु ऐसे दो धर्मों में परस्पर-विरोध उत्पन्न हो जाता है, जिन्हें शास्त्रों ही ने विहित कहा है। और फिर उस समय सूक्ष्म विचार करना पड़ता है, कि किस बात का स्वीकार किया जावें। यद्यपि कोई मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार इनमें से कुछ बातों का निर्णय प्राचीन सत्पुरुषों के ऐसे ही समय पर किये हुए बर्ताव से कर सकता है, तथापि अनेक मौके ऐसे होते हैं, कि उनमें बड़े बड़े बुद्धिमानों का भी मन चक्कर में पड़ जाता है। कारण यह है, कि जितना जितना अधिक विचार किया जाता है, उतनी ही अधिक उपपत्तियाँ और तर्क उत्पन्न होते हैं; और अंतिम निर्णय असंभव-सा हो जाता है। जब उचित निर्णय होने नहीं पाता तब अधर्म या अपराध हो जाने की भी संभावना होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर मालूम होता है, कि धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्म का विवेचन एक स्वतंत्र शास्त्र ही है, जो न्याय तथा व्याकरण से भी अधिक गहन है। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में 'नीतिशास्त्र' शब्द का उपयोग प्रायः राजनीतिशास्त्र ही के विषय में किया गया है; और कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेचन को 'धर्मशास्त्र' कहते हैं। परन्तु आजकल 'नीति' शब्द ही में कर्तव्य अथवा सदाचरण का भी समावेश किया जाता है; इसलिये हम ने वर्तमान पद्धति के अनुसार, इस ग्रंथ में धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्म के विवेचन ही को 'नीतिशास्त्र' कहा है। नीति, कर्म-अकर्म या धर्म-अधर्म के विवेचन का यह शास्त्र बड़ा गहन है; यह भाव प्रकट करने ही के लिये "सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य" – अर्थात् धर्म या व्यावहारिक नीतिधर्म का स्वरूप सूक्ष्म है – यह वचन महाभारत में कई जगह उपयुक्त हुआ है। पाँच पांडवों ने मिल कर अकेली द्रौपदी के साथ विवाह कैसे किया! द्रौपदी के वस्त्रहरण के समय भीष्म-द्रोण आदि सत्पुरुष शून्यहृदय होकर चुपचाप क्यों बैठे रहे! दुष्ट दुर्योधन की ओर से युद्ध करते समय भीष्म और द्रोणाचार्य ने अपने पक्ष का

समर्थन करने के लिये जो यह सिद्धान्त बतलाया, कि "“अर्थस्य पुरुषो दासः दासस्त्वर्थो न कस्यचित्” – पुरुष अर्थ (सम्पत्ति) का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं हो सकता" – (म. भा. भी. ४३. ३५) वह सच है या झूठ ? यदि सेवा-धर्म कुत्ते की वृत्ति के समान निन्दनीय माना है – जैसे ‘सेवा श्ववृत्तिराख्याता’ (मनु. ४०६), तो अर्थ के दास हो जाने के बदले भीष्म आदिकों ने दुर्योधन की सेवा ही का त्याग क्यों नहीं कर दिया ? इनके समान और भी अनेक प्रश्न होते हैं, जिनका निर्णय करना बहुत कठिन है; क्योंकि इनके विषय में प्रसंग के अनुसार भिन्न भिन्न मनुष्यों के भिन्न भिन्न अनुमान या निर्णय हुआ करते हैं। यही नहीं समझना चाहिये, कि धर्म के तत्त्व सिर्फ़ सूक्ष्म ही हैं – “सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य” – (म. भा. १०. ७०); किन्तु महाभारत (वन. २०८. २) में यह भी कहा है, कि “बहुशाखा ह्यनन्तिका” – अर्थात् उसकी शाखाएँ भी अनेक हैं, और उससे निकलनेवाले अनुभव भी भिन्न भिन्न हैं। तुलाधार और जाजलि के संवाद में धर्म का विवेचन करते समय तुलाधार भी यही कहता है, कि “सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिन्हवः” – अर्थात् धर्म बहुत सूक्ष्म और चक्कर में डालनेवाला होता है। इसलिये वह समझ में नहीं आता (शां. २६१. ३७)। महाभारतकार व्यासजी इन सूक्ष्म प्रसंगों को अच्छी तरह जानते थे; इसलिये उन्होंने यह समझा देने के उद्देश ही से अपने ग्रंथ में अनेक भिन्न भिन्न कथाओं का संग्रह किया है, कि प्राचीन समय के सत्पुरुषों ने ऐसे कठिन मौक़ों पर कैसा बर्ताव किया था। परन्तु शास्त्र-पद्धति से सब विषयों का विवेचन करके उसका सामान्य रहस्य महाभारत सरीखे धर्मग्रंथ में कहीं बतला देना आवश्यक था। इस रहस्य या मर्म का प्रतिपादन – अर्जुन की कर्तव्य-मूढता को दूर करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने पहले जो उपदेश दिया था, उसी के आधार पर – व्यासजी ने भगवद्गीता में किया है। इससे ‘गीता’ महाभारत का रहस्योपनिषद् और शिरोभूषण हो गई है। और महाभारत गीता के प्रतिपादित मूलभूत कर्मतत्त्वों का उदाहरणसहित विस्तृत व्याख्यान हो गया है। उस बात की ओर उन लोगों को अवश्य ध्यान देना चाहिये; जो यह कहा करते हैं, कि महाभारत ग्रंथ में ‘गीता’ पीछे से घुसेड़ दी गई है। हम तो यही समझते हैं, कि यदि गीता की कोई अपूर्वता या विशेषता है, तो वह यही है, कि जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। कारण यह है, कि यद्यपि केवल मोक्षशास्त्र अर्थात् वेदान्त का प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् आदि, तथा अहिंसा आदि सदाचार के सिर्फ़ नियम बतानेवाले स्मृति आदि अनेक ग्रंथ हैं; तथापि वेदान्त के गहन तत्त्वज्ञान के आधार पर ‘कार्याकार्यव्यवस्थिति’ करनेवाला, गीता के समान कोई दूसरा प्राचीन ग्रंथ संस्कृत साहित्य में देख नहीं पड़ता। गीताभक्तों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि ‘कार्याकार्य-व्यवस्थिति’ शब्द गीता ही (१६. २४) में प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द हमारी

मनगढ़ंत नहीं है। भगवद्गीता ही के समान योगवासिष्ठ में भी वसिष्ठमुनि ने श्रीरामचन्द्रजी को ज्ञान-मूलक प्रवृत्तिमार्ग ही का उपदेश किया है। परन्तु यह ग्रंथ गीता के बाद बना है; और उसमें गीता ही का अनुकरण किया है। अतएव ऐसे ग्रंथों से गीता की उस अपूर्वता या विशेषता में – जो ऊपर कही गई है – कोई बाधा नहीं होगी।

तीसरा प्रकरण

कर्मयोगशास्त्र

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।*

— गीता २. ५०

यदि किसी मनुष्य को किसी शास्त्र के जानने की इच्छा पहले ही से न हो, तो वह उस शास्त्र के ज्ञान को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे अधिकार-रहित मनुष्य को उस शास्त्र की शिक्षा देना मानों चलनी में दूध दुहना ही है। शिष्य को तो इस शिक्षा से कुछ लाभ होता नहीं; परन्तु गुरु को भी निरर्थक श्रम करके समय नष्ट करना पड़ता है। जैमिनी और बादरायण के सूत्रों के आरंभ में इसी कारण से 'अथातो धर्मजिज्ञासा' और 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' कहा हुआ है। जैसे ब्रह्मोपदेश मुमुक्षुओं को और धर्मोपदेश धर्मेच्छुओं को देना चाहिये; वैसे ही कर्मशास्त्रोपदेश उसी मनुष्य को देना चाहिये, जिसे यह जानने की इच्छा या जिज्ञासा हो, कि संसार में कर्म कैसे करना चाहिये। इसी लिये हमने पहले प्रकरण में, 'अथातो' कह कर, दूसरे प्रकरण में 'कर्मजिज्ञासा' का स्वरूप और कर्मयोगशास्त्र का महत्त्व बतलाया है। जब तक पहले ही से इस बात का अनुभव न कर लिया जाय, कि अमुक काम में अमुक रुकावट है, तब तक उस रुकावट से छुटकारा पाने की शिक्षा देनेवाले शास्त्र का महत्त्व ध्यान में नहीं आता; और महत्त्व को न जानने से केवल रटा हुआ शास्त्र समय पर ध्यान में रहता भी नहीं है। यही कारण है, कि जो सद्गुरु है, वे पहले यह देखते हैं, कि शिष्य के मन में जिज्ञासा है या नहीं; और यदि जिज्ञासा न हो, तो वे पहले उसी को जागृत करने का प्रयत्न किया करते हैं। गीता में कर्मयोगशास्त्र का विवेचन इसी पद्धति से किया गया है। जब अर्जुन के मन में यह शंका आई, कि जिस लड़ाई में मेरे हाथ से पितृवध और गुरुवध होगा, तथा जिसमें अपने सब बंधुओं का नाश हो जायगा, उसमें शामिल होना उचित है या अनुचित; और जब वह युद्ध से पराङ्मुख हो कर संन्यास लेने को तैयार हुआ; और जब भगवान् के इस सामान्य युक्तिवाद से भी उसके मन का समाधान नहीं हुआ, कि 'समय पर किये जानेवाले कर्म का त्याग करना मूर्खता और दुर्बलता का सूचक है; इससे तुमको स्वर्ग तो मिलेगा ही नहीं, उलटी दुष्कीर्ति अवश्य होगी।' तब श्रीभगवान् ने पहले "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं

* "इसलिये तू योग का आश्रय ले। कर्म करने की जो रीति, चतुराई या कुशलता है उसे योग कहते हैं।" यह 'योग' शब्द की व्याख्या अर्थात् लक्षण है। इसके संबंधमें अधिक विचार इसी प्रकरण में आगे चल कर किया है।

प्रज्ञावादांश्च भाषसे " – अर्थात् जिस बात का शोक नहीं करना चाहिये, उसी का तो तू शोक कर रहा है; और साथ साथ ब्रह्मज्ञान की भी बड़ी बड़ी बातें छाँट रहा है – कह कर अर्जुन का कुछ थोड़ा-सा उपहास किया; और फिर उसको कर्म के ज्ञान का उपदेश दिया। अर्जुन की शंका कुछ निराधार नहीं थी। गत प्रकरण में हमने यह दिखलाया है, कि अच्छे अच्छे पंडितों को भी कभी कभी " क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ? " यह प्रश्न चक्कर में डाल देता है। परन्तु कर्म-अकर्म की चिन्ता में अनेक अड़चनें आती हैं। इसलिये कर्म को छोड़ देना उचित नहीं है। विचारवान् पुरुषों को ऐसी युक्ति 'अर्थात्' योग का स्वीकार करना चाहिये, जिससे सांसारिक कर्मों का लोप तो होने न पावे, और कर्माचरण करनेवाला किसी पाप या बंधन में भी न फँसे; – यह कह कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहले यही उपदेश दिया है, 'तस्माद्योगाय युज्यस्व' – अर्थात् तू भी इसी युक्ति का स्वीकार कर। यही 'योग' कर्मयोगशास्त्र है। और जब कि यह बात प्रकट है, कि अर्जुन पर आया हुआ संकट कुछ लोक-विलक्षण या अनोखा नहीं था – ऐसे अनेक छोटे-बड़े संकट संसार में सभी लोगों पर आया करते हैं – तब तो यह बात आवश्यक है, कि इस कर्मयोगशास्त्र का जो विवेचन भगवद्गीता में किया गया है, उसे हर एक मनुष्य सीखे; किसी शास्त्र के प्रतिपादन में कुछ मुख्य मुख्य और गूढ अर्थ को प्रकट करनेवाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अतएव उनके सरल अर्थ को पहले जान लेना चाहिये; और यह भी देख लेना चाहिये, कि उस शास्त्र के प्रतिपादन की मूलशैली कैसी है। नहीं तो फिर उसके समझने में कई प्रकार की आपत्तियाँ और बाधाएँ होती हैं। इसलिये कर्मयोगशास्त्र के कुछ मुख्य मुख्य शब्दों के अर्थ की परीक्षा यहाँ पर की जाती है।

सब से पहला शब्द 'कर्म' है। 'कर्म' शब्द 'कृ' धातु से बना है। उसका अर्थ 'करना, व्यापार, हलचल' होता है; और इसी सामान्य अर्थ में गीता में उसका उपयोग हुआ है – अर्थात् यही अर्थ गीता में विवक्षित है। ऐसा कहने का कारण यही है, कि मीमांसाशास्त्र में और अन्य स्थानों पर भी इस शब्द के जो संकुचित अर्थ दिये गये हैं, उनके कारण पाठकों के मन में कुछ भ्रम उत्पन्न न होने पावे। किसी भी धर्म को लीजिये; उसमें ईश्वर-प्राप्ति के लिये कुछ-न-कुछ कर्म करने को बतलाया ही रहता है। प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार देखा जाय, तो यज्ञ-याग ही वह कर्म है; जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। वैदिक ग्रंथों में यज्ञ-याग की विधि बताई गई है; परन्तु इसके विषय में कहीं कहीं परस्पर-विरोधी वचन भी पाये जाते हैं। अतएव उनकी एकता और मेल दिखलाने के ही लिये जैमिनी के पूर्वमीमांसाशास्त्र का प्रचार होने लगा। जैमिनी के मतानुसार वैदिक और श्रौत यज्ञ-याग करना ही प्रधान और प्राचीन धर्म है। मनुष्य कुछ करता है, वह सब यज्ञ के लिये करता है। यदि उसे धन कमाना है, तो यज्ञ के लिये

और धान्य-संग्रह करना है, तो यज्ञ ही के लिये (म. भा. शां. २६. २५)। जब कि यज्ञ करने की आज्ञा वेदों ही ने दी है, तब यज्ञ के लिये मनुष्य कुछ भी कर्म करे; वह उसको बंधक नहीं होगा। वह कर्म यज्ञ का एक साधन है – वह स्वतंत्र रीति से साध्य वस्तु नहीं है। इसलिये यज्ञ से जो फल मिलनेवाला है, उसी में उस कर्म का भी समावेश हो जाता है – उस कर्म का कोई अलग फल नहीं होता। परन्तु यज्ञ के लिये किये गये ये कर्म यद्यपि स्वतंत्र फल देनेवाले नहीं हैं, तथापि स्वयं यज्ञ से स्वर्गप्राप्ति (अर्थात् मीमांसकों के मतानुसार एक प्रकार की सुखप्राप्ति) होती है; और इस स्वर्गप्राप्ति के लिये ही यज्ञकर्ता मनुष्य बड़े चाव से यज्ञ करता है। इसी से स्वयं यज्ञकर्म 'पुरुषार्थ' कहलाता है; क्योंकि जिस वस्तु पर किसी मनुष्य की प्रीति होती है और जिसे पाने की उसके मन में इच्छा होती है; उसे 'पुरुषार्थ' कहते हैं (जै. सू. ४. १. १ और २)। यज्ञ का पर्यायवाची एक दूसरा 'क्रतु' शब्द है। इसलिये 'यज्ञार्थ' के बदले 'क्रत्वर्थ' भी कहा करते हैं। इस प्रकार सब कर्मों के दो वर्ग हो गये : एक 'यज्ञार्थ' (क्रत्वर्थ) कर्म, अर्थात् जो स्वतंत्र रीति से फल नहीं देते, अतएव अबंधक हैं; और दूसरे 'पुरुषार्थ' कर्म, अर्थात् जो पुरुष को लाभकारी होने के कारण बंधक हैं। संहिता में इन्द्र आदि देवताओं के स्तुति-संबंधी सूक्त हैं, तथापि मीमांसकगण कहते हैं, कि सब श्रुतिग्रन्थ यज्ञ आदि कर्मों ही के प्रतिपादक हैं। क्योंकि उनका विनियोग यज्ञ के समय में ही किया जाता है। इन कर्मठ, याज्ञिक या केवल कर्मवादियों का कहना है, कि वेदोक्त यज्ञ-याग आदि कर्म करने से ही स्वर्ग-प्राप्ति होती है, नहीं तो नहीं होती। चाहे ये यज्ञ-याग अज्ञानता से किये जाये या ब्रह्मज्ञान से। यद्यपि उपनिषदों में ये यज्ञ ग्राह्य माने गये हैं, तथापि इनकी योग्यता ब्रह्मज्ञान से कम ठहराई गई है। इसलिये निश्चय किया गया है, कि यज्ञ-याग से स्वर्गप्राप्ति भले ही हो जाय; परन्तु इनके द्वारा मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्षप्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञान ही की नितान्त आवश्यकता है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में जिन यज्ञ-याग आदि काम्य कर्मों का वर्णन किया गया है – "वेद-वादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः" (गी. २.४२) – वे ब्रह्मज्ञान के बिना किये जानेवाले उपर्युक्त यज्ञ-याग आदि कर्म ही हैं। इसी तरह यह भी मीमांसकों ही के मत का अनुकरण है, कि "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः" (गी. ३. ९) अर्थात् यज्ञार्थ किये गये कर्म बंधक नहीं हैं; शेष सब कर्म बंधक हैं। इन यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मों के अतिरिक्त, अर्थात् श्रौत कर्मों के अतिरिक्त और भी चातुर्वर्ण्य के भेदानुसार दुसरे आवश्यक कर्म मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में वर्णित हैं; जैसे क्षत्रिय के लिये युद्ध और वैश्य के लिये वाणिज्य। पहले पहल इन वर्णाश्रम-कर्मों का प्रतिपादन स्मृति-ग्रन्थों में किया गया था। इसलिये इन्हें 'स्मार्त कर्म' या 'स्मार्त यज्ञ' भी कहते हैं। इन श्रौत और स्मार्त कर्मों के सिवा

और भी धार्मिक कर्म हैं; जैसे व्रत, उपवास आदि। इन का विस्तृत प्रतिपादन पहले पहल सिर्फ़ पुराणों में किया गया है । इसालिये इन्हें 'पौराणिक कर्म' कह सकेंगे। इन सब कर्मों के और भी तीन – नित्य, नैमित्तिक और काम्य – भेद किये गये हैं। स्नान, संध्या आदि जो हमेशा किये जानेवाले कर्म हैं, उन्हें नित्यकर्म कहते हैं। इनके करने से कुछ विशेष फल अथवा अर्थ की सिद्धि नहीं होती; परन्तु न करने से दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं, जिन्हें पहले किसी कारण के उपस्थित हो जाने से करना पड़ता है; जैसे अनिष्ट ग्रहों की शान्ति, प्रायश्चित्त आदि। जिसके लिये हम शान्ति और प्रायश्चित्त करते हैं, वह निमित्त कारण यदि पहले न हो गया, तो हमें नैमित्तिक कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं। जब हम कुछ विशेष इच्छा रख कर उसकी सफलता के लिये शास्त्रानुसार कोई कर्म करते हैं, तब उसे काम्य कर्म कहते हैं; जैसे वर्षा होने के लिये या पुत्रप्राप्ति के लिये यज्ञ करना। नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के सिवा भी कर्म हैं; जैसे मदिरापान इत्यादि, जिन्हें शास्त्रों ने त्याज्य कहा है। इसलिये ये कर्म निषिद्ध कहलाते हैं। नित्य कर्म कौन कौन हैं, नैमित्तिक कौन कौन हैं और काम्य तथा निषिद्ध कर्म कौन कौन हैं – ये सब बातें धर्मशास्त्रों में निश्चित कर दी गई हैं। यदि कोई किसी धर्मशास्त्री से पूछे कि अमुक कर्म पुण्यप्रद है या पापकारक। तो वह सब से पहले इस बात का विचार करेगा, कि शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार वह कर्म यज्ञार्थ है, या पुरुषार्थ; नित्य है, या नैमित्तिक; अथवा काम्य है, या निषिद्ध; और इन बातों पर विचार करके फिर वह अपना निर्णय करेगा। परन्तु भगवद्गीता की दृष्टि उस से भी व्यापक और विस्तीर्ण है। मान लीजिये, कि अमुक एक कर्म शास्त्रों में निषिद्ध नहीं माना गया है; अथवा वह विहित कर्म ही कहा गया है। जैसे युद्ध के समय क्षात्रधर्म ही अर्जुन के लिये विहित कर्म था। तो इतने ही से यह सिद्ध नहीं होता, कि हमें वह कर्म हमेशा करते ही रहना चाहिये; अथवा उस कर्म का करना हमेशा श्रेयस्कर ही होगा। यह बात पिछले प्रकरण में कही गई है, कि कहीं कहीं तो शास्त्र की आज्ञाएँ भी परस्पर-विरुद्ध होती हैं। ऐसे समय में मनुष्य को किस मार्ग का स्वीकार करना चाहिये, इस बात का निर्णय करने के लिये कोई युक्ति है या नहीं? यदि है तो वह कौन-सी? बस, यही गीता का मुख्य विषय है। इस विषय में कर्म के उपर्युक्त अनेक भेदों पर ध्यान देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यज्ञ-याग आदि वैदिक कर्मों तथा चातुर्वर्ण्य के कर्मों के विषय में मीमांसकों ने जो सिद्धान्त किये हैं, वे गीता में प्रतिपादित कर्मयोग से कहाँ तक मिलते हैं, यह दिखाने के लिये प्रसंगानुसार गीता में मीमांसकों के कथन का भी कुछ विचार किया गया है; और अंतिम अध्याय (गी. १८. ६) में इस पर भी विचार किया है, कि ज्ञानी पुरुष को यज्ञ-याग आदि कर्म करना चाहिये या नहीं। परन्तु गीता के मुख्य प्रतिपाद्य

विषय का क्षेत्र इससे भी व्यापक है। इसलिये गीता में 'कर्म' शब्द का 'केवल श्रौत अथवा स्मार्त कर्म' इतना ही संकुचित अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये; किंतु उससे अधिक व्यापक रूप में लेना चाहिये। सारांश, मनुष्य जो कुछ करता है – जैसा खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना, लेना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और ध्यान करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञयाग करना, खेती और व्यापारधंधा करना, इच्छा करना, निश्चिय करना, चुप रहना इत्यादि इत्यादि – ये सब भगवद्गीता के अनुसार 'कर्म' ही हैं; चाहे वह कर्म कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो (गीता. ५. ८. ९)। और तो क्या, जीना-मरना भी कर्म ही है। मौक़ा आने पर यह भी विचार पडता है, कि 'जीना या मरना' इन दो कर्मों में से किस का स्वीकार किया जावे? इस विचार के उपस्थित होने पर कर्म शब्द का अर्थ 'कर्तव्य कर्म' अथवा 'विहित कर्म' हो जाता है (गी. ४. १६)। मनुष्य के कर्म के विषय में यहाँ तक विचार हो चुका। अब इसके आगे बढ़ कर सब चर-अचर सृष्टि के भी – अचेतन वस्तु के भी – व्यापार में 'कर्म' शब्द ही का उपयोग होता है। इस विषयका विचार आगे कर्म-विपाक-प्रक्रिया में किया जायगा।

कर्म शब्द से भी अधिक भ्रम-कारक शब्द 'योग' है। आजकल इस शब्द का रूढार्थ 'प्राणायामादिक साधनों से चित्तवृत्तियों या इन्द्रियों का निरोध करना' अथवा 'पातञ्जल सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग' है। उपनिषदों में भी इसी अर्थ से इस शब्द का प्रयोग हुआ है (कठ. ६. ११)। परंतु ध्यान में रखना चाहिये, कि यह संकुचित अर्थ भगवद्गीता में विवक्षित नहीं है। 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है; जिसका अर्थ 'जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति' इत्यादि होता है। और ऐसी स्थिति की प्राप्ति के 'उपाय, साधन, युक्ति या कर्म' को भी योग कहते हैं। यही सब अर्थ अमरकोश (३. ३. २२) में इस तरह से दिये हुए हैं – 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु।' फलित ज्योतिष में कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हों, तो उन ग्रहों का 'योग' इष्ट या अनिष्ट कहलाता है; और 'योगक्षेम' पद में 'योग' शब्द का अर्थ 'अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना' लिया गया है (गी. ९. २२)। भारतीय युद्ध के समय द्रोणाचार्य को अजेय देख कर श्रीकृष्ण ने कहा है, कि 'एको हि योगोऽस्य भवेद्वधाय' (म. भा. द्रो. १८१. ३१) अर्थात् द्रोणाचार्य को जितने का एक ही 'योग' (साधन या युक्ति) है; और आगे चल कर उन्होंने यह भी कहा है, कि हमने पूर्वकाल में धर्म की रक्षा के लिये जरासंध आदि राजाओं को 'योग' ही से कैसे मारा था। उद्योगपर्व (अ. १७२) में कहा गया है, कि जब भीष्म ने अम्बा, अम्बिका

और अम्बलिका को हरण किया, तब अन्य राजा लोग ' योग योग ' कह कर उनका पीछा करने लगे थे। महाभारत में 'योग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थानों पर हुआ है। गीता में 'योग,' 'योगी' अथवा योग शब्द से बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार आये हैं; परन्तु चार-पाँच स्थानों के सिवा (देखो गी. ६. १२ और २३) योग शब्द से ' पातंजल योग ' अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ़ ' युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल ' यही अर्थ कुछ हेर-फेर से सारी गीता में पाये जाते हैं। अतएव कह सकते हैं, कि गीताशास्त्र के व्यापक शब्दों में 'योग' भी एक शब्द है; परन्तु योग शब्द के उक्त सामान्य अर्थों से ही – जैसे साधन, कुशलता, युक्ति आदि से ही – काम नहीं चल सकता। क्योंकि वक्ता इच्छा के अनुसार यह साधन संन्यास का हो सकता है; कर्म और चित्त-निरोध का हो सकता है; और मोक्ष का अथवा और भी किसी का हो सकता है। उदाहरणार्थ, कहीं कहीं गीता में अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि निर्माण करने की ईश्वरी कुशलता और अद्भुत सामर्थ्य को 'योग' कहा गया है (गी. ७. २५; ९. ५; १०. ७; ११. ८) और इसी अर्थ में भगवान् को 'योगेश्वर' कहा है। (गी. १८. ७५)। परन्तु यह कुछ गीता के 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है। इसलिये, यह बात स्पष्ट रीति से प्रकट कर देने के लिये 'योग' शब्द से किस विशेष प्रकार की कुशलता, साधन, युक्ति अथवा उपाय को गीता में विवक्षित समझना चाहिये। उस ग्रन्थ ही में योग शब्द की यह निश्चित व्याख्या की गई है – " योगः कर्मसु कौशलम् " (गी. २. ५०) अर्थात् कर्म करने की किसी विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैली को योग कहते हैं। शांकर-भाष्य में भी ' कर्मसु कौशलम् ' का यही अर्थ लिया गया है – ' कर्म में स्वभावसिद्ध रहनेवाले बंधन को तोड़ने की युक्ति '। यदि सामान्यतः देखा जाय, तो एक ही कर्म को करने के लिये अनेक 'योग' और 'उपाय' होते हैं। परन्तु उनमें से जो उपाय या साधन उत्तम हो उसी को 'योग' कहते हैं। जैसे द्रव्य उपार्जन करना एक कर्म है। इसके अनेक उपाय या साधन हैं : जैसे चोरी करना, जालसाजी करना, भीक माँगना, सेवा करना, ऋण लेना, मेहनत करना आदि। यद्यपि धातु के अर्थानुसार, इनमें से हर एक को 'योग' कह सकते हैं, तथापि यथार्थ में 'द्रव्यप्राप्ति-योग' उसी उपाय को कहते हैं, जिससे हम अपनी ' स्वतंत्रता रख कर मेहनत करते हुए द्रव्य प्राप्त कर सकें। '

जब स्वयं भगवान् ने 'योग' शब्द की निश्चित और स्वतंत्र व्याख्या कर दी है (योगः कर्मसु कौशलम्–अर्थात् कर्म करने की एक प्रकार की विशेष युक्ति को योग कहते हैं), तब सच पूछो, तो इस शब्द के मुख्य अर्थ के विषय में कुछ भी शंका नहीं रहनी चाहिये; परन्तु स्वयं भगवान् की बतलाई हुई इस व्याख्या पर ध्यान न दे कर गीता का माथितार्थ भी मनमाना निकाला है। अतएव इस भ्रम

को दूर करने के लिये 'योग' शब्द का कुछ और भी स्पष्टीकरण होना चाहिये। यह शब्द पहले पहल गीता के दूसरे अध्याय में आया है; और वहीं इसका स्पष्ट अर्थ भी बतला दिया है। पहले सांख्यशास्त्र के अनुसार भगवान् ने अर्जुन को यह समझा दिया, कि युद्ध क्यों करना चाहिये; इसके बाद उन्हों ने कहा, कि 'अब हम तुझे योग के अनुसार उपपत्ति बतलाते हैं' (गी. २. ३६)। और फिर इसका वर्णन किया है, कि जो लोग हमेशा यज्ञ-यागादि काम्य कर्मों में निमग्न रहते हैं उनकी बुद्धि फलाशा से कैसी व्यग्र हो जाती है (गी. २.४१–४६)। इसके पश्चात् उन्होंने यह उपदेश दिया है, कि बुद्धि को अव्यग्र, स्थिर या शान्त रख कर, 'आसक्ति को छोड़ दे; परन्तु कर्मों को छोड़ देने के आग्रह में न पड़'; और योगस्थ हो कर कर्मों का आचरण कर' (गी. २. ४८)। यहीं पर 'योग' शब्द का यह स्पष्ट अर्थ भी कह दिया है, कि 'सिद्धि और असिद्धि दोनों में सम-बुद्धि रखने को योग कहते हैं।' इसके बाद यह कह कर, कि 'फल की आशा से कर्म करने की अपेक्षा समबुद्धि का यह योग ही श्रेष्ठ है'; (गी. २. ४९) और बुद्धि की समता हो जाने पर कर्म करनेवाले को कर्मसंबंधी पाप-पुण्य की बाधा नहीं होती। इसलिये तू इस 'योग' को प्राप्त कर।' तुरंत ही योग का यह लक्षण फिर भी बतलाया है, कि 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गी. २. ५०)। इससे सिद्ध होता है, कि पाप-पुण्य से अलिप्त रह कर कर्म करने की जो समत्वबुद्धिरूप विशेष युक्ति पहले बतलाई गई है, वही 'कौशल' है; और इसी कुशलता अर्थात् युक्ति से कर्म करने को गीता में 'योग' कहा है। इसी अर्थ को अर्जुन ने आगे चलकर "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन·" (गी. ६. ३३) इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया है। इसके संबंध में, कि ज्ञानी मनुष्य को इस संसार में कैसे चलना चाहिये, श्रीशंकराचार्य के पूर्व ही प्रचलित हुए वैदिक धर्म के अनुसार दो मार्ग है: एक मार्ग यह है, कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर सब कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग कर दें; और दूसरा यह, कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्मों को न छोड़ें – उनको जन्म भर ऐसी युक्ति के साथ करता रहें, कि उनके पाप-पुण्य की बाधा न होने पावे। इन्हीं दो मार्गों को गीता में संन्यास और कर्मयोग कहा है (गी. २. ५)। संन्यास कहते हैं त्याग को, और योग कहते हैं मेल को। अर्थात् कर्म के त्याग और कर्म के मेल ही के उक्त दो भिन्न भिन्न मार्ग हैं। इन्हीं दो भिन्न मार्गों को लक्ष्य करके आगे (गी. ५. ४) 'सांख्ययोगी' (सांख्य और योग) ये संक्षिप्त नाम भी दिये गये है। बुद्धि को स्थिर करने के लिये पातञ्जलयोग-शास्त्र के आसनों का वर्णन छठवे अध्याय में है सही; परन्तु वह किसके लिये है? तपस्वी के लिये नहीं; किन्तु वह कर्मयोगी – अर्थात् युक्तिपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्य – को 'समता' की युक्ति सिद्ध करने के लिये बतलाया गया है। नहीं तो फिर 'तपस्विभ्योऽधिको योगी' इस वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। इसी तरह इस अध्याय के अन्त

(६. ४६) में अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है, कि ' तस्माद्योगी भवार्जुन ' उसका अर्थ ऐसा नहीं हो सकता, कि ' हे अर्जुन ! तू पातंजल योग का अभ्यास करनेवाला बन जा। ' इसलिये उक्त उपदेश का अर्थ " योगस्थः कुरु कर्माणि " (२. ४८), " तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् " (गी. २. ५०), " योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत " (४. ४२) इत्यादि वचनों के अर्थ के समान ही होना चाहिये। अर्थात् उसका यही अर्थ लेना उचित है, कि " हे अर्जुन ! तू युक्ति से कर्म करनेवाला योगी अर्थात् कर्मयोगी हो। " क्योंकि यह कहना ही सम्भव नहीं, कि " तू पातञ्जल योग का आश्रय लेकर युद्ध के लिये तैयार रह। " इसके पहले ही साफ़ साफ़ कहा गया है, कि ' कर्मयोगेण योगिनाम् ' (गी. ३. ३) अर्थात् योगी पुरुष कर्म करनेवाले होते है। भारत के (म. भा. शां. ३४८. ५६) नारायणीय अथवा भागवतधर्म के विवेचन में भी कहा गया है, कि इस धर्म के लोग अपने कर्मों का त्याग किये बिना ही युक्तिपूर्वक कर्म करके (सुप्रयुक्तेन कर्मणा) परमेश्वर की प्राप्ति कर लेते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि 'योगी' और 'कर्मयोगी' दोनों शब्द गीता में समानार्थक हैं; और इनका अर्थ ' युक्ति से कर्म करनेवाला ' होता है; तथा बड़े भारी 'कर्मयोग' शब्द का प्रयोग करने के बदले, गीता और महाभारत में छोटे-से 'योग' शब्द का ही अधिक उपयोग किया गया है। " मैंने तुझे जो यह योग बतलाया है, इसी को पूर्वकाल में विवस्वान् से कहा था (गी. ४. १); और विवस्वान् ने मनु को बतलाया था; परन्तु उस योग के नष्ट हो जाने पर फिर वही योग आज तुझसे कहना पड़ा " – इस अवतरण में भगवान् ने जो 'योग' शब्द का तीन बार उच्चारण किया है, उस में पातञ्जल योग का विवक्षित होना नहीं पाया जाता; किन्तु ' कर्म करने की किसी प्रकार की विशेष युक्ति, साधन या मार्ग ' अर्थ ही लिया जा सकता है। इसी तरह जब संजय कृष्ण-अर्जुन संवाद को गीता में 'योग' कहता है (गी. १८. ७५) तब भी यही अर्थ पाया जाता है। श्रीशंकराचार्य स्वयं संन्यास-मार्गवाले थे। तो भी उन्होंने अपने गीता-भाष्य के आरंभ में ही वैदिकधर्म के दो भेद–प्रवृत्ति और निवृत्ति–बतलाये हैं; और 'योग' शब्द का अर्थ श्रीभगवान् की की हुई व्याख्या के अनुसार कभी 'सम्यग्दर्शनोपायकर्मानुष्ठानम्' (गी. ४. ४२) और कभी ' योगः युक्तिः ' (गी. १०. ७) किया है। इसी तरह महाभारत में भी 'योग' और 'ज्ञान' दोनों शब्दों के विषय में स्पष्ट लिखा है, कि " प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षम् " (म. भा. अश्व. ४३. २५)। अर्थात् योग का अर्थ प्रवृत्ति-मार्ग और ज्ञान का अर्थ संन्यास या निवृत्तिमार्ग है। शान्तिपर्व के अन्त में, नारायणीयोपाख्यान में 'सांख्य' और 'योग' शब्द तो इसी अर्थ में अनेक बार आये हैं; और इसका भी वर्णन किया गया है, कि ये दोनों मार्ग सृष्टि के आरम्भ में क्यों और कैसे निर्माण किये गये (म. भा. शां. ३४० और ३४८)। पहले

प्रकरण में महाभारत से जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्टतया मालूम हो गया है, कि यही नारायणीय अथवा भागवतधर्म भगवद्गीता का प्रतिपाद्य तथा प्रधान विषय है। इसलिये कहना पड़ता है, कि 'सांख्य' और 'योग' शब्दों का जो प्राचीन और पारिभाषिक अर्थ (सांख्य = निवृत्ति; योग = प्रवृत्ति) नारायणीय धर्म में दिया गया है, वही अर्थ गीता में भी विवक्षित है। यदि इसमें किसी को शंका हो, तो गीता में दी हुई इस व्याख्या से – 'समत्वं योग उच्यते' या 'योगः कर्मसु कौशलम्' – तथा उपर्युक्त 'कर्मयोगेण योगिनाम्' इत्यादि गीता के वचनों से उस शंका का समाधान हो सकता है। इसलिये अब यह निर्विवाद सिद्ध है, कि गीता में 'योग' शब्द प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् 'कर्मयोग' के अर्थ ही में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक धर्म-ग्रंथों में कौन कहे, यह 'योग' शब्द, पाली और संस्कृत भाषाओं के बौद्धधर्मग्रंथों में भी, इसी अर्थ में प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ, संवत् ३३५ के लगभग लिखे गये 'मिलिंदप्रश्न' नामक पाली-ग्रन्थ में 'पुब्बयोगो' (पूर्वयोग) शब्द आया है; और वहीं उसका अर्थ 'पुब्बकम्म' (पूर्वकर्म) किया गया है (मि. प्र. १. ४)। इसी तरह अश्वघोष कविकृत – जो शालिवाहन शक के आरम्भ में हो गया है – 'बुद्धचरित' नामक संस्कृत काव्य के पहले सर्ग के पचासवे श्लोक में यह वर्णन है :–

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।

अर्थात् "ब्राह्मणों को योगविधि की शिक्षा देने में राजा जनक आचार्य (उपदेष्टा) हो गये। इनके पहले यह आचार्यत्व किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ था।" यहाँ पर 'योग-विधि' का अर्थ निष्काम-कर्मयोग की विधि ही समझना चाहिये। क्योंकि गीता आदि अनेक ग्रन्थ मुक्त कंठ से कह रहे हैं, कि जनकजी के बर्ताव का यही रहस्य है; और अश्वघोष ने अपने 'बुद्धचरित' (९, १९ और २०) में यह दिखलाने ही के लिये, कि 'गृहस्थाश्रम में रह कर भी मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है' जनक का उदाहरण दिया है। जनक के दिखलाये हुए मार्ग का नाम 'योग' है; और यह बात बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है। इसलिये गीता के 'योग' शब्द का भी यही अर्थ लगाना चाहिये। क्योंकि गीता के कथनानुसार (गी. ३. २०) जनक का ही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है। सांख्य और योगमार्ग के विषय में अधिक विचार आगे किया जायगा। प्रस्तुत प्रश्न यही है, कि गीता में 'योग' शब्द का उपयोग किस अर्थ में किया गया है।

जब एक बार यह सिद्ध हो गया, कि गीता में 'योग' का प्रधान अर्थ कर्मयोग और 'योगी' का प्रधान अर्थ कर्मयोगी हैं, तो फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि भगवद्गीता का प्रतिपाद्य क्या है। स्वयं भगवान् अपने उपदेश को 'योग' कहते हैं (गी. ४. १–३); बल्कि छठवे (६. ६३) अध्याय में अर्जुन ने और गीता के अन्तिम उपसंहार (१८. ७५) में संजय ने भी गीता के उपदेश

को 'योग' ही कहा है। इसी तरह गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में, जो अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प हैं, उनमें भी साफ़ साफ़ कह दिया है, कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'योगशास्त्र' है। परन्तु जान पड़ता है, कि उक्त संकल्प के शब्दों के अर्थ पर भी टीकाकार ने ध्यान नहीं दिया। आरम्भ के दो पदों – 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' – के बाद इस संकल्प में दो शब्द 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' और भी जोड़े गये हैं। पहले दो शब्दों का अर्थ है – "भगवान् से गाये गये उपनिषद् में"; और पिछले दो शब्दों का अर्थ 'ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र अर्थात् कर्मयोग-शास्त्र' है, जो कि इस गीता का विषय है। ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान एक ही बात है; और इसके प्राप्त हो जानेपर ज्ञानी पुरुष के लिये दो निष्ठाएँ या मार्ग खुले हुए हैं (गी. ३. ३)। एक सांख्य अथवा संन्यास मार्ग– अर्थात् वह मार्ग जिसमें ज्ञान होने पर कर्म करना छोड़ कर विरक्त रहना पड़ता है; और दूसरा योग अथवा कर्ममार्ग – अर्थात् वह मार्ग, जिसमें कर्मों का त्याग न करके ऐसी युक्ति से नित्य कर्म करते रहना चाहिये, कि जिससे मोक्ष-प्राप्ति में कुछ भी बाधा न हो। पहले मार्ग का दूसरा नाम 'ज्ञाननिष्ठा' भी है, जिसका विवेचन उपनिषदों में अनेक ऋषियों ने और अन्य ग्रंथकारों ने भी किया है। परन्तु ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत कर्मयोग का या योगशास्त्र का तात्त्विक विवेचन भगवद्गीता के सिवा अन्य ग्रन्थों में नहीं है। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है, कि अध्याय-समाप्ति-दर्शक संकल्प गीता की सब प्रतियों में पाया जाता है; और इससे प्रकट होता है, कि गीता की सब टीकाओं के रचे जाने के पहले ही उसकी रचना हुई होगी। इस संकल्प के रचयिता ने इस संकल्प में 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इन दो पदों को व्यर्थ ही नहीं जोड दिया है; किन्तु उसने गीताशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की अपूर्वता दिखाने ही के लिये उक्त पदों को उस संकल्प में आधार और हेतुसहित स्थान दिया है। अतः इस बात का भी सहज निर्णय हो सकता है, कि गीता पर अनेक सांप्रदायिक टीकाओं के होने के पहले गीता का तात्पर्य कैसे और क्या समझा जाता था। यह हमारे सौभाग्य की बात है, कि इस कर्मयोग का प्रतिपादन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ने किया है, जो इस योगमार्ग के प्रवर्तक और सब योगों के साक्षात् ईश्वर (= योग + ईश्वर) हैं; और लोकहित के लिये उन्हों ने अर्जुन को उसको बतलाया है। गीता के 'योग' और 'योगशास्त्र' शब्दों से हमारे 'कर्मयोग' और 'कर्मयोगशास्त्र' शब्द कुछ बड़े हैं सही; परन्तु अब हमने कर्मयोगशास्त्र सरीखा बड़ा नाम ही इस ग्रन्थ और प्रकरण को देना इसलिये पसंद किया है, कि जिसमें गीता के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में कुछ भी संदेह न रह जावे।

एक ही कर्म को करने के जो अनेक योग, साधन या मार्ग हैं, उनमें से सर्वोत्तम और शुद्ध मार्ग कौन है; उसके अनुसार नित्य आचरण किया जा सकता

है या नहीं; नहीं किया जा सकता, तो कौन कौन अपवाद उत्पन्न होते हैं, और वे क्यों उत्पन्न होते हैं; जिस मार्ग को हमने उत्तम मान लिया है, वह उत्तम क्यों है; जिस मार्ग को हम बुरा समझते हैं, वह बुरा क्यों है; यह अच्छेपन या बुरेपन किसके द्वारा या किस आधार पर ठहराया जा सकता है; अथवा इस अच्छेपन या बुरेपन का रहस्य क्या है – इत्यादि बातें जिस शास्त्र के आधार से निश्चित की जाती हैं, उसको 'कर्मयोगशास्त्र' या गीता के संक्षिप्त रूपानुसार 'योगशास्त्र' कहते हैं। 'अच्छा' और 'बुरा' दोनों साधारण शब्द हैं। इन्हीं के समान अर्थ में कभी कभी शुभ-अशुभ, हितकर-अहितकर, श्रेयस्कर-अश्रेयस्कर, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म इत्यादि शब्दों के उपयोग हुआ करता है। कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय-अन्याय इत्यादि शब्दों का भी अर्थ वैसा ही होता है। तथापि इन शब्दों का उपयोग करनेवालों के सृष्टि-रचनाविषयक मत भिन्न भिन्न होने के कारण 'कर्मयोग'-शास्त्र के निरूपण के पन्थ भी भिन्न भिन्न हो गये हैं। किसी भी शास्त्र को लीजिये; उसके विषयों की चर्चा साधारणतः तीन प्रकारसे की जाती है। (१) इस जड सृष्टि के पदार्थ ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि वे हमारी इन्द्रियों को गोचर होते हैं। इसके परे उनमें और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से उनके विषय में विचार करने की एक पद्धति है, जिसे आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य को देवता न मान कर केवल पाँचभौतिक जड पदार्थों का एक गोला मानें; और उष्णता, प्रकाश, वजन, दूरी, और आकर्षण इत्यादि उसके केवल गुणधर्मों ही की परीक्षा करें; तो उसे सूर्य का आधिभौतिक विवेचन कहेंगे। दूसरा उदाहरण पेड़ का लीजिये। उसका विचार न करके, कि पेड़ के पत्ते निकलना, फूलना, फलना आदि क्रियाएँ किस अंतर्गत शक्ति के द्वारा होती है, जब केवल बाहरी दृष्टि से विचार किया जाता है, कि जमीन में बीज बोने से अंकुर फुटते हैं, फिर वे बढ़ते हैं; और उसी के पत्ते, शाखा, फूल इत्यादि दृश्य विकार प्रकट होते हैं, तब उसे पेड़ का आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। रसायन-शास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र, विद्युच्छास्त्र इत्यादि आधुनिक शास्त्रों का विवेचन इसी ढंग का होता है। और तो क्या, आधिभौतिक पंडित यह भी माना करते हैं, कि उक्त रीति से किसी वस्तु के दृश्य गुणों का विचार कर लेने पर उनका काम पूरा हो जाता है – सृष्टि के पदार्थों का इससे अधिक विचार करना निष्फल है। (२) जब उक्त दृष्टि को छोड़ कर इस बात का विचार किया जाता है, कि जड सृष्टि के पदार्थों के मूल्य में क्या है; क्या, इन पदार्थों का व्यवहार केवल उनके गुण-धर्मों ही से होता है, या उसके लिये किसी तत्त्व का आधार भी है; केवल आधिभौतिक विवेचन से ही अपना काम नहीं चलता। हमको कुछ आगे पैर बढ़ाना है। उदाहरणार्थ, जब हम यह मानते हैं, कि यह पाँचभौतिक सूर्य नामक एक देव का अधिष्ठान है; और इसी के द्वारा इस अचेतन गोले (सूर्य) के

सब व्यापार या व्यवहार होते रहते हैं, तब उसको उस विषय का आधिदैविक विवेचन कहते हैं। इस मत के अनुसार यह माना जाता है, कि पेड़ में, पानी में, हवा में अर्थात् सब पदार्थों में, अनेक देव हैं; जो उन जड तथा अचेतन पदार्थों से भिन्न तो हैं, किन्तु उनके व्यवहारों को वही चलाते हैं। (३) परन्तु जब यह माना जाता है, कि जड सृष्टि के हजारों जड पदार्थों में हजारों स्वतंत्र देवता नहीं हैं; किन्तु बाहरी सृष्टि के सब व्यवहारों को चलानेवाली, मनुष्य के शरीर में आत्मस्वरूप से रहनेवाली, और मनुष्य को सारी सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करा देनेवाली एक ही चित्-शक्ति है, जो कि इंद्रियातीत है और जिसके द्वारा ही इस जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है; तब उस विचार-पद्धति को आध्यात्मिक विवेचन कहते हैं। उदाहरणार्थ, अध्यात्मवादियों का मत है, कि सूर्य-चन्द्र आदि का व्यवहार, यहाँ तक कि वृक्षों के पत्तों का हिलना भी, इसी अचिन्त्य शक्ति की प्रेरणा से हुआ करता है। सूर्य-चन्द्र आदि में या अन्य स्थानों में भिन्न भिन्न तथा स्वतंत्र देवता नहीं हैं। प्राचीन काल से किसी भी विषय का विवेचन करने के लिये तीन मार्ग प्रचलित हैं; और इनका उपयोग उपनिषद्-ग्रन्थों में भी किया गया है। उदाहरणार्थ, ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं या प्राण श्रेष्ठ है, इस बात का विचार करते समय, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में एक बार उक्त इन्द्रियों के अग्नि आदि देवताओं को और दूसरी बार उनके सूक्ष्म रूपों (अध्यात्म) को ले कर उनके बलाबल का विचार किया गया है (बृ. १. ५. २१ और २२; छां. १. २ और ३; कौषी. २. ८); और, गीता के सातवे अध्याय के अन्त में तथा आठवे के आरंभ में ईश्वर के स्वरूप का जो विचार बतलाया गया है, वह भी इसी दृष्टि से किया गया है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' (गी. १०. ३२) इस वाक्य के अनुसार हमारे शास्त्रकारों ने उक्त तीन मार्गों में से, आध्यात्मिक विवरण को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु आजकल उपर्युक्त तीन शब्दों (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) के अर्थ को थोड़ा-सा बदल कर प्रसिद्ध आधिभौतिक फ्रेंच पंडित कोंट* ने आधिभौतिक विवेचन को ही अधिक महत्त्व दिया है।

* फ्रान्स देश में ऑगस्ट कोंट (Auguste Comte) नामक एक बड़ा पंडित गतशताब्दी में हो चुका है। इसने समाजशास्त्रपर एक बहुत बड़ा ग्रंथ लिखकर बतलाया है, कि समाजरचना का शास्त्रीय रीति से किस प्रकार विवेचन करना चाहिये। अनेक शास्त्रों की आलोचना करके इसने यह निश्चित किया है, कि किसी भी शास्त्र को लो, उसका विवेचन पहले पहल Theological पद्धति में किया जाता है; फिर Metaphysical पद्धति से होता है; और अन्त में उसको Positive स्वरूप मिलता है। उन्हीं तीन पद्धतियों को हमने इस ग्रन्थ में आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक ये तीन प्राचीन नाम दिये हैं। ये पद्धतियाँ कुछ कोंट की निकाली हुई नहीं हैं; ये सब पुरानी ही हैं

उसका कहना है, कि सृष्टि के मूल-तत्त्व को खोजते रहने से कुछ लाभ नहीं; यह तत्त्व अगम्य है। अर्थात् इसको समझ लेना कभी भी संभव नहीं। इसलिये इसकी कल्पित नींव पर किसी शास्त्र की इमारत को खड़ा कर देना न तो संभव है और न उचित। असभ्य और जंगली मनुष्यों ने पहले पहल जब पेड़, बादल और ज्वालामुखी पर्वत आदि को देखा, तब उन लोगों ने अपने भोलेपनसे इन सब पदार्थों को देवता ही मान लिया। यह कोंट के मतानुसार, 'आधिदैविक' विचार हो चुका; परन्तु मनुष्यों ने उक्त कल्पनाओं को शीघ्र ही त्याग दिया; वे समझने लगे कि इन सब पदार्थों में कुछ-न-कुछ आत्मतत्त्व अवश्य भरा हुआ है। कोंट के मतानुसार मानवी ज्ञान की उन्नति की वह दूसरी सीढ़ी है। इसे वह 'आध्यात्मिक' कहता है; परन्तु जब इस रीति से सृष्टि का विचार करने पर भी प्रत्यक्ष उपयोगी शास्त्रीय ज्ञान की कुछ वृद्धि नहीं हो सकी, तब अन्त में मनुष्य सृष्टि के पदार्थों के दृश्य गुण-धर्मों ही का और अधिक विचार करने लगा; जिससे वह रेल और तार सरीखे उपयोगी आविष्कारों को ढूँढ़ कर सृष्टि पर अपना अधिक प्रभाव जमाने लग गया है। इस मार्ग को कोंट ने 'आधिभौतिक' नाम दिया है। उसने निश्चित किया है, कि किसी भी शास्त्र या विषय का विवेचन करने के लिये अन्य मार्गों की अपेक्षा यही आधिभौतिक मार्ग अधिक श्रेष्ठ और लाभकारी है। कोंट के मतानुसार समाजशास्त्र या कर्मयोगशास्त्र का तात्त्विक विचार करने के लिये इसी आधिभौतिक मार्ग का अवलम्ब करना चाहिये। इस मार्ग का अवलम्ब करके इस पंडित ने इतिहास की आलोचना की; और सब व्यवहारशास्त्रों का यही मथितार्थ निकाला है, कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म यही है, कि वह समस्त मानव-जाति पर प्रेम रख कर सब लोगों के कल्याण के लिये सदैव प्रयत्न करता रहे। मिल और स्पेन्सर आदि अंग्रेज़ पंडित उसी मत के पुरस्कर्ता कहे जा सकते हैं। इसके उलटे कान्ट, हेगेल, शोपेनहर आदि जर्मन तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने, नीतिशास्त्र के लिये इस आधिभौतिक पद्धति को अपूर्ण माना है। हमारे वेदान्तियों की बाई अध्यात्मबुद्धि से ही नीति के समर्थन करने के मार्ग को आजकल उन्होंने यूरोप में फिर भी स्थापित किया है। इसके विषय में और अधिक लिखा जायगा।

एक ही अर्थ विवक्षित होने पर भी 'अच्छा और बुरा' के पर्यायवाची भिन्न भिन्न शब्दों का – जैसे 'कार्य-अकार्य' और 'धर्म-अधर्म' का – उपयोग क्यों होने लगा? इसका कारण यही है, कि विषय-प्रतिपादन का मार्ग या दृष्टि प्रत्येक की भिन्न भिन्न होती है। अर्जुन के सामने यह प्रश्न था, कि जिस युद्ध में भीष्म,

---

तथापि उसने उनका ऐतिहासिक क्रम नई रीति से बाँधा है; और उनमें आधिभौतिक (Positive) पद्धति को ही श्रेष्ठ बतलाया है; बस, इतना ही कोंट का नया शोध है। कोंट के अनेक ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हो गया है।

द्रोण आदि का वध करना पड़ेगा, उसमें शामिल होना उचित है या नहीं (गी. २. ७)। यदि इसी प्रश्न का उत्तर देने का मौक़ा किसी आधिभौतिक पंडित पर आता, तो वह पहले इस बात का विचार करता, कि भारतीय युद्ध से स्वयं अर्जुन को दृश्य हानि-लाभ कितना होगा; और कुल समाज पर उसका क्या परिणाम होगा। यह विचार करके तब उसने निश्चय किया होता, कि युद्ध करना 'न्याय्य' है या 'अन्याय्य'। इसका कारण यह है, कि किसी कर्म के अच्छेपन या बुरेपन का निर्णय करते समय ये आधिभौतिक पंडित यही सोचा करते हैं, कि इस संसार में उस कर्म का आधिभौतिक परिणाम अर्थात् प्रत्यक्ष बाह्य परिणाम क्या हुआ या होगा – ये लोग इस आधिभौतिक कसौटी के सिवा और किसी साधन या कसौटी को नहीं मानते। परन्तु ऐसे उत्तर से अर्जुन का समाधान होना संभव नहीं था। उसकी दृष्टि उससे भी अधिक व्यापक थी। उसे केवल अपने सांसारिक हित का विचार नहीं करना था; किन्तु उसे पारलौकिक दृष्टि से यह भी विचार कर लेना था, कि इस युद्ध का परिणाम मेरे आत्मा पर श्रेयस्कर होगा या नहीं। उसे ऐसी बातों पर कुछ भी शंका नहीं थी, कि युद्ध में भीष्म-द्रोण आदिकों का वध होने पर तथा राज्य मिलने पर मुझे ऐहिक सुख मिलेगा या नहीं; और मेरा अधिकार लोगों को दुर्योधन से अधिक सुखदायक होगा या नहीं। उसे यही देखना था, कि मैं जो कर रहा हूँ वह 'धर्म' है या 'अधर्म'; अथवा 'पुण्य' है या 'पाप'; और गीता का विवेचन भी इसी दृष्टि से किया गया है। केवल गीता में ही नहीं; किन्तु कई स्थानों पर महाभारत में भी कर्म-अकर्म का जो विवेचन है, वह पारलौकिक अर्थात् अध्यात्मदृष्टि से ही किया गया है। और वहाँ किसी भी कर्म का अच्छेपन या बुरेपन दिखलाने के लिये प्रायः सर्वत्र 'धर्म' और 'अधर्म' दो ही शब्दों का उपयोग किया गया है। परन्तु 'धर्म' और उसका प्रतियोग 'अधर्म' ये दोनों शब्द अपने व्यापक अर्थ के कारण कभी कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते हैं। इसलिये यहाँ पर इस बात की कुछ अधिक मीमांसा करना आवश्यक है की कर्मयोगशास्त्र में इन शब्दों का उपयोग मुख्यतः किस अर्थ में किया जाता है।

नित्य व्यवहार में 'धर्म' शब्द का उपयोग केवल 'पारलौकिक सुख का मार्ग' इसी अर्थ में किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं, कि 'तेरा कौन-सा धर्म है?' तब उससे हमारे पूछने का यही हेतु होता है, कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिये किस मार्ग – वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी, या पारसी – से चलता है; और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्ति के लिये साधनभूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि धर्मसूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया हैं; परन्तु 'धर्म' शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं हैं। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि

सांसारिक नीति-बंधनों को भी 'धर्म' कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो, तो पारलौकिक धर्म को 'मोक्षधर्म' अथवा सिर्फ़ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल 'धर्म' कहा करते हैं। उदाहरणार्थ चतुर्विध पुरुषों की गणना करते समय हम लोग 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' कहा करते हैं। इसके पहले शब्द 'धर्म' में ही यदि मोक्ष का समावेश हो जाता, तो अन्त में मोक्ष को पृथक् पुरुषार्थ बतलाने की आवश्यकता न रहती। अर्थात् यह कहना पड़ता है, कि 'धर्म' पद से इस स्थान पर संसार के सैकड़ों नीतिधर्म ही शास्त्रकारों को अभिप्रेत हैं। उन्हीं को हम लोग आजकल कर्तव्यकर्म, नीति, नीतिधर्म अथवा सदाचरण कहते हैं; परन्तु प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में 'नीति' अथवा 'नीतिशास्त्र' शब्दों का उपयोग विशेष करके राजनीति ही के लिये किया जाता है। इसलिये पुराने ज़माने में कर्तव्यकर्म अथवा सदाचार के सामान्य विवेचन को 'नीतिप्रवचन' न कह कर 'धर्मप्रवचन' कहा करते थे। परन्तु 'नीति' और 'धर्म' दो शब्दों का यह पारिभाषिक भेद सभी संस्कृत-ग्रंथों में नहीं माना गया है। इसलिये हमने भी इस ग्रन्थ में 'नीति', 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्दों का उपयोग एक ही अर्थ में किया है; और मोक्ष का विचार जिन स्थानों पर करना है, उन प्रकरणों के 'अध्यात्म' और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतंत्र नाम रखे हैं। महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है; और जिस स्थान में कहा गया है, कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है,' उस स्थान में धर्म शब्द से कर्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्थाशास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है; तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्तिपर्व के उत्तरार्ध में 'मोक्षधर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म शब्द का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है। और भगवद्गीता में भी जब भगवान् अर्जुन से यह कह कर लड़ने के लिये कहते हैं, कि 'स्वधर्ममपि चाऽवेक्ष्य' (गी. २. ३१) तब – और इसके बाद 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (गी. ३. ३५) इस स्थान पर भी – 'धर्म' शब्द 'इस लोक के चातुर्वर्ण्य के धर्म' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पुराने ज़माने के ऋषियों ने श्रम-विभागरूप चातुर्वर्ण्य-संस्था इसलिये चलाई थी, कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे, और समाज का सभी दिशाओं से संरक्षण और पोषण भली भाँति होता रहे। यह बात भिन्न है, कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये; अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूलकर वे केवल नामधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये। इसमें संदेह नहीं, कि आरम्भ में

यह व्यवस्था समाजधारणार्थ ही की गई थी। और यदि चारों वर्णों में से कोई भी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य छोड़ दें, यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थानपूर्ति दुसरे लोगों से न की जाय, तो कुल समाज उतना ही पंगु हो कर धीरे धीरे नष्ट भी होने लग जाता है; अथवा वह निकृष्ट अवस्था में तो अवश्य ही पहुँच जाता है। यद्यपि यह बात सच है, कि यूरोप में ऐसे अनेक समाज हैं, जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के बिना ही हुआ है; तथापि स्मरण रहे, कि उन देशों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था चाहे न हो; परन्तु चारों वर्णों के सब धर्म जाति-रूप से नहीं तो गुण-विभागरूप ही से जागृत अवश्य रहते हैं। सारांश, जब हम धर्म शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टि से करते हैं, तब हम यही देखा करते हैं कि, सब समाज का धारण और पोषण कैसे होता है। मनु ने कहा है – 'असुखोदर्क' अर्थात् जिसका परिणाम दुःखकारक होता है, उस धर्म को छोड़ देना (मनु. ४. १७६) और शान्तिपर्व के सत्यानृताध्याय (शां. १०९. १२) में धर्म-अधर्म का विवेचन करते हुए भीष्म और उनके पूर्व कर्णपर्व में श्रीकृष्ण कहते हैं –

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

" धर्म शब्द धृ (= धारण करना) धातु से बना है। धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई हैं। यह निश्चय किया गया है, कि जिससे (सब प्रजा का) धारण होता है, वही धर्म है " (म. भा. कर्ण. ६९. ५९)। यदि यह धर्म छट जाय, तो समझ लेना चाहिये, कि समाज के सारे बंधन भी टूट गये; और यदि समाज के बंधन टूटे, तो आकर्षणशक्ति के बिना आकाश में सूर्यादि ग्रहमालाओं की जो दशा हो जाती है, अथवा समुद्र में मल्लाह के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है। इसलिये उक्त शोचनीय अवस्था में पड़कर समाज को नाश से बचाने के लिये व्यासजी ने कई स्थानों पर कहा है, कि यदि अर्थ या द्रव्य पाने की इच्छा हो, तो ' धर्म के द्वारा ' अर्थात् समाज की रचना को न बिगाड़ते हुए प्राप्त करो; और यदि काम आदि वासनाओं को तृप्त करना हो, तो वह भी ' धर्म से ही ' करो। महाभारत के अन्त में यही कहा है कि :-

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येषः न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

" अरे ! भुजा उठा कर मैं चिल्ला रहा हूँ; (परन्तु) कोई भी नहीं सुनता ! धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, (इसलिये) इस प्रकार के धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते हो ? " अब इससे पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह जम जायगी, कि महाभारत को जिस धर्म-दृष्टि से पाँचवा वेद अथवा 'धर्मसंहिता' मानते हैं, उस 'धर्मसंहिता' शब्द के 'धर्म' शब्द का मुख्य अर्थ क्या है। यही

कारण है, कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों पारलौकिक अर्थ के प्रतिपादक ग्रन्थों के साथ ही – धर्मग्रन्थ के नाते से – ' नारायणं नमस्कृत्य ' इन प्रतीक शब्दों के द्वारा – महाभारत का भी समावेश ब्रह्मयज्ञ के नित्यपाठ में कर दिया है।

धर्म-अधर्म के उपर्युक्त निरूपण को सुन कर कोई यह प्रश्न करे, कि यदि तुम्हें ' समाज-धारण ' और दूसरे प्रकरण के सत्यानृतविवेक में कथित 'सर्वभूतहित' ये दोनों तत्त्व मान्य हैं, तो तुम्हारी दृष्टि में और आधिभौतिक दृष्टि में भेद ही क्या है? क्योंकि ये दोनों तत्त्व बाह्यतः प्रत्यक्ष दिखनेवाले और आधिभौतिक ही हैं। इस प्रश्न का विस्तृत विचार अलग प्रकरणों में किया गया है। यहाँ इतना ही कहना बस है, कि यद्यपि हमको यह तत्त्व मान्य है, कि समाज-धारणा ही धर्म का मुख्य बाह्य उपयोग है, तथापि हमारे मत की विशेषता यह है, कि वैदिक अथवा अन्य सब धर्मों का जो परम उद्देश आत्म-कल्याण या मोक्ष है, उस पर भी हमारी दृष्टि बनी है। समाज-धारण को लीजिये, चाहे सर्वभूतहित ही को, यदि ये बाह्योपयोगी तत्त्व हमारे आत्म-कल्याण के मार्ग में बाधा डालें, तो हमें इनकी जरूरत नहीं। हमारे आयुर्वेद-ग्रन्थ यदि यह प्रतिपादन करते हैं, कि वैद्यकशास्त्र भी शरीररक्षा के द्वारा मोक्षप्राप्ति का साधन होने के कारण संग्रहणीय है, तो यह कदापि संभव नहीं, कि जिस शास्त्र में इस महत्त्व के विषय का विचार किया गया है, कि सांसारिक व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये, उस कर्मयोगशास्त्र को हमारे शास्त्रकार आध्यात्मिक मोक्षज्ञान से अलग बतलावें। इसलिये हम समझते हैं, कि जो कर्म हमारे मोक्ष अथवा हमारी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो, वही पुण्य है, वही धर्म और वही शुभकर्म है; और जो कर्म उसके प्रतिकूल वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है। यही कारण है, कि हम 'कर्तव्य-अकर्तव्य', 'कार्य-अकार्य' शब्दों के बदले 'धर्म' और 'अधर्म' शब्दों का ही (यद्यपि वे दो अर्थ के, अतएव कुछ संदिग्ध हों, तो भी) अधिक उपयोग करते हैं। यद्यपि बाह्य-सृष्टि के व्यावहारिक कर्मों अथवा व्यापारों का विचार करना ही प्रधान विषय हो, तो भी उक्त कर्मों के बाह्य परिणाम के विचार के साथ ही साथ यह विचार भी हम लोग हमेशा किया करते हैं, कि ये व्यापार हमारे आत्मा के कल्याण के अनुकूल है या प्रतिकूल। यदि आधिभौतिकवादी से कोई यह प्रश्न करे, कि ' मैं अपना हित छोड़ कर लोगों का हित क्यों करूं? ' तो वह इसके सिवा और क्या समाधानकारक उत्तर दे सकता है, कि ' यह तो सामान्यतः मनुष्य-स्वभाव ही है। ' हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि इससे परे पहुँची हुई है; और उस व्यापक आध्यात्मिक दृष्टि ही से महाभारत में कर्मयोगशास्त्र का विचार किया गया है; एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वेदान्त का निरूपण भी इतने ही के लिये किया गया है। प्राचीन यूनानी पंडितों की भी यही राय है, कि 'अत्यन्त हित' अथवा ' सद्गुण की पराकाष्ठा ' के समान मनुष्य का कुछ-न-कुछ परम उद्देश

कल्पित करके फिर उसी दृष्टि से कर्म-अकर्म का विवेचन करना चाहिये। और ॲरिस्टॉटलने अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ (१. ७. ८) में कहा है, कि आत्मा के हित में ही इन सब बातों का समावेश हो जाता है। तथापि इस विषय में आत्मा के हित के लिये जितनी प्रधानता देनी चाहिये थी, उतनी ॲरिस्टॉटल ने दी नहीं है। हमारे शास्त्रकारों में यह बात नहीं है। उन्होंने निश्चित किया है, कि आत्मा का कल्याण अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्था ही प्रत्येक मनुष्य का पहला और परम उद्देश है। अन्य प्रकार के हितों की अपेक्षा उसी को प्रधान जानना चाहिये; और उसी के अनुसार कर्म-अकर्म का विचार करना चाहिये। अध्यात्म-विद्या को छोड़ कर कर्म-अकर्म का विचार करना ठीक नहीं है। जान पड़ता है, कि वर्तमान समय में पश्चिमी देशों के कुछ पंडितों ने भी कर्म-अकर्म के विवेचन की इसी पद्धति को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, जर्मन तत्त्वज्ञानी कान्ट ने पहले 'शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि की मीमांसा' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ को लिख कर फिर उसकी पूर्ति के लिये 'व्यावहारिक (वासनात्मक) बुद्धि की मीमांसा' नाम का नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ लिखा है,* और इंग्लेंड में भी ग्रीन ने अपने 'नीतिशास्त्र के उपोद्घात' का सृष्टि के मूलभूत आत्मतत्त्व से ही आरम्भ किया है! परन्तु इन ग्रन्थों के बदले केवल आधिभौतिक पंडितों के ही नीतिग्रन्थ आजकल हमारे यहाँ अंग्रेजी शालाओं में पढ़ाये जाते हैं; जिसका परिणाम यह दीख पड़ता है, कि गीता में बतलाये गये कर्मयोगशास्त्र के मूलतत्त्वों का – हम लोगों में अंग्रेजी सीखे हुअे बहुतेरे विद्वानों को भी – स्पष्ट बोध नहीं होता।

उक्त विवेचन से ज्ञात हो जायगा, कि व्यावहारिक नीतिबंधनों के लिये अथवा समाज-धारणा की व्यवस्था के लिये हम 'धर्म' शब्द का उपयोग क्यों करते हैं। महाभारत, भगवद्गीता आदि संस्कृत-ग्रन्थों में, तथा भाषा-ग्रन्थों में भी, व्यावहारिक कर्तव्य अथवा नियम के अर्थ में धर्म शब्द का हमेशा उपयोग किया जाता है। कुलधर्म और कुलाचार, दोनों शब्द समानार्थक समझे जाते हैं। भारतीय युद्ध में एक समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी ने निगल लिया था; उसको उठा कर ऊपर लाने के लिये जब कर्ण अपने रथ से नीचे उतरा, तब अर्जुन उसका वध करने के लिये उद्यत हुआ। यह देख कर कर्ण ने कहा, "निःशस्त्र शत्रु को मारना धर्मयुद्ध नहीं है।" इसे सुन कर श्रीकृष्ण ने कर्ण को कई पिछली बातों का स्मरण दिलाया; जैसे कि द्रौपदी का वस्त्रहरण कर लिया गया था, सब लोगों ने मिल कर अकेले अभिमन्यु का वध कर डाला था, इत्यादि। और प्रत्येक प्रसंग में यह

* कान्ट एक जर्मन तत्त्वज्ञानी था। इसे अर्वाचीन तत्त्वज्ञानशास्त्र का जनक समझते हैं। इसके *Critique of Pure Reason* (शुद्ध बुद्धि की मीमांसा) और *Critique of Practical Reason* (वासनात्मक बुद्धि की मीमांसा) ये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ग्रीन के ग्रन्थ का नाम *Prolegomena to Ethics* है।

प्रश्न किया है, कि 'हे कर्ण! उस समय तेरा धर्म कहाँ गया था?' इन सब बातों का वर्णन महाराष्ट्र-कवि मोरोपंत ने किया है। और महाभारत में भी इस प्रसंग पर 'क्व ते धर्मस्तदा गतः' प्रश्न में 'धर्म' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। तथा अन्त में कहा गया है, कि जो इस प्रकार अधर्म करे उसके साथ उसी तरह का बर्ताव करना ही उसको उचित दण्ड देना है। सारांश, क्या संस्कृत और क्या भाषा, सभी ग्रन्थों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग उन सब नीति-नियमों के बारे में किया गया है, जो समाज-धारणा के लिये शिष्टजनों के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाये गये हैं। इसलिये उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रंथ में किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर नीति के उन नियमों अथवा 'शिष्टाचार' को धर्म की बुनियाद कह सकते हैं, जो समाज-धारणा के लिये शिष्टजनों के द्वारा प्रचलित किये गये हों; और जो सर्वमान्य हो चुके हों। और, इसलिये महाभारत (अनु. १०४. १५७) में एवं स्मृति-ग्रन्थों में 'आचारप्रभवो धर्मः' अथवा 'आचारः परमो धर्मः' (मनु. १. १०८), अथवा धर्म का मूल बतलाते समय 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु. २. १२) इत्यादि वचन कहे हैं। परन्तु कर्मयोगशास्त्र में इतने ही से काम नहीं चल सकता; इस बात का भी पूरा और मार्मिक विचार करना पड़ता है, कि उक्त आचार की प्रवृत्ति ही क्यों हुई – इस आचार की प्रवृत्ति ही का कारण क्या है।

'धर्म' शब्द की दूसरी एक और व्याख्या प्राचीन ग्रंथों में दी गई है। उसका भी यहाँ थोड़ा विचार करना चाहिये। यह व्याख्या मीमांसकों की है: "चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै. सू. १. १. २)। किसी अधिकारी पुरुष का यह कहना अथवा आज्ञा करना कि 'तू अमुक कर' अथवा 'मत कर' 'चोदना' यानी प्रेरणा है। जब तक इस प्रकार कोई प्रबंध नहीं कर दिया जाता, तब तक कोई भी काम किसी को भी करने की स्वतंत्रता होती है। इसका आशय यही है, कि पहले पहल निर्बंध या प्रबंध के कारण धर्म निर्माण हुआ। धर्म की यह व्याख्या कुछ अंश में, प्रसिद्ध अंग्रेज़ ग्रंथकार हॉब्स के मत से मिलती है। असभ्य तथा जंगली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का आचरण, समय समय पर उत्पन्न होनेवाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के अनुसार हुआ करता है। परन्तु धीरे धीरे कुछ समय के बाद यह मालूम होने लगता है, कि इस प्रकार का मनमाना बर्ताव श्रेयस्कर नहीं है; और यह विश्वास होने लगता है, कि इंद्रियों के स्वाभाविक व्यापारों की कुछ मर्यादा निश्चित करके उसके अनुसार बर्ताव करने ही में सब लोगों का कल्याण है। तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओं का पालन कायदे के तौर पर करने लगता है; जो शिष्टाचार से, अन्य रीति से, सुदृढ हो जाया करती हैं। जब इस प्रकार की मर्यादाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब उन्हीं का एक शास्त्र बन जाता है। पूर्व समय में विवाहव्यवस्था का प्रचार नहीं था। पहले पहल उसे श्वेतकेतु ने चलाया;

और पिछले प्रकरण में बतलाया गया है, कि शुक्राचार्य ने मदिरापान को निषिद्ध ठहराया। यह न देख कर, कि इन मर्यादाओं को नियुक्त करने में श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्य का क्या हेतु था; केवल किसी एक बात पर ध्यान दे कर, कि इन मर्यादाओं के निश्चित करने का काम या कर्तव्य इन लोगों को करना पड़ा; धर्म शब्द की 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' व्याख्या बनाई गई है। धर्म भी हुआ तो पहले उसका महत्त्व किसी व्यक्ति के ध्यान में आता है; और तभी उसकी प्रवृत्ति होती है। 'खाओ-पीओ, चैन करो' ये बातें किसी को सिखलानी नहीं पडतीं; क्योंकि ये इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म ही हैं। मनुजी ने जो कहा है, कि "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" (मनु. ५. ५६) – अर्थात् मांस भक्षण करना अथवा मद्यपान और मैथुन करना कोई सृष्टिकर्म-विरुद्ध दोष नहीं है – उसका तात्पर्य भी यही है। ये सब बातें मनुष्य ही के लिये नहीं, किन्तु प्राणिमात्र के लिये स्वाभाविक हैं – 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्।' समाज-धारण के लिये अर्थात् सब लोगों के सुख के लिये इस स्वाभाविक आचरण का उचित प्रतिबंध करना ही धर्म है। महाभारत (शां. २९४. २९) में भी कहा है :–

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।

अर्थात् "आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं के लिये एक ही समान स्वाभाविक हैं। मनुष्यों और पशुओं में कुछ भेद है तो केवल धर्म का (अर्थात् इन स्वाभाविक वृत्तियों को मर्यादित करने का)। जिस मनुष्य में यह धर्म नहीं है, वह पशु के समान ही है।" आहारादि स्वाभाविक वृत्तियों को मर्यादित करने के विषय में भागवत का श्लोक पिछले प्रकरण में दिया गया है। इसी प्रकार भगवद्गीता में भी जब अर्जुन से भगवान् कहते हैं (गी. ३. ३४) –

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

"प्रत्येक इंद्रिय में अपने उपभोग्य अथवा त्याज्य पदार्थ के विषय में, जो प्रीति अथवा द्वेष होता है, वह स्वभावसिद्ध है। इनके वश में हमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि राग और द्वेष दोनों हमारे शत्रु हैं" – तब भगवान् भी धर्म का वही लक्षण स्वीकार करते हैं, जो स्वाभाविक मनोवृत्तियों को मर्यादित करने के विषय में ऊपर दिया गया है। मनुष्य की इन्द्रियाँ उसे पशु के समान आचरण करने के लिये कहा करती हैं; और उसकी बुद्धि उसके विरुद्ध दिशा में खींचा करती है। इस कलहाग्नि में जो लोग अपने शरीर में संचार करनेवाले पशुत्व का यज्ञ करके कृतकृत्य (सफल) होते हैं, उन्हें ही सच्चा याज्ञिक कहना चाहिये; और वे ही धन्य भी हैं।

धर्म को 'आचार-प्रभव' कहिये, 'धारणात्' धर्म मानिये अथवा 'चोदना-लक्षण' धर्म समझिये; धर्म की यानी व्यावहारिक नीतिबंधनों की, कोई भी व्याख्या लीजिये; परन्तु जब धर्म-अधर्म का संशय उत्पन्न होता है, तब उसका निर्णय करने के लिये उपर्युक्त तीनों लक्षणों का कुछ उपयोग नहीं होता। पहली व्याख्या से सिर्फ़ यह मालूम होता है, कि धर्म का मूलस्वरूप क्या है; उसका बाह्य उपयोग दूसरी व्याख्या से मालूम होता है; और तीसरी व्याख्या से यही बोध होता है, कि पहले पहल किसी ने धर्म की मर्यादा निश्चित कर दी है। परन्तु अनेक आचारों में भेद पाया जाता है; एक ही कर्म के अनेक परिणाम होते हैं; और अनेक ऋषियों की आज्ञा अर्थात् 'चोदना' भी भिन्न भिन्न है। इन कारणों से संशय के समय धर्म-निर्णय के लिये किसी दूसरे मार्ग को ढूँढ़ने की आवश्यकता होती है। यह मार्ग कौन-सा है? यही प्रश्न यक्ष ने युधिष्ठिर से किया था। उस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया है कि –

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

"यदि तर्क को देखे तो वह चंचल है, अर्थात् जिसकी बुद्धि जैसी तीव्र होती है, वैसे ही अनेक प्रकार के अनेक अनुमान तर्क से निष्पन्न हो जाते हैं। श्रुति अर्थात् वेदाज्ञा देखी जाय, तो वह भी भिन्न भिन्न है; और यदि स्मृतिशास्त्र को देखें तो ऐसा एक भी ऋषि नहीं है, जिसका वचन अन्य ऋषियों की अपेक्षा अधिक प्रमाण-भूत समझा जाय। अच्छा, (इस व्यावहारिक) धर्म का मूलतत्त्व देखा जाय, तो वह भी अंधकार में छिपा गया है अर्थात् वह साधारण मनुष्यों की समझ में नहीं आ सकता। इसलिये महाजन जिस मार्ग से गये हों, वही (धर्म का) मार्ग है" (म. भा. वन. ३१२. ११५)। ठीक है! परन्तु महाजन किस को कहना चाहिये? उसका अर्थ 'बड़ा अथवा बहुतसा जनसमूह' नहीं हो सकता। क्योंकि जिन साधारण लोगों के मन में धर्म-अधर्म की शंका भी उत्पन्न नहीं होती, उनके बतलाये मार्ग से जाना मानो कठोपनिषद् में वर्णित "अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः" – वाली नीति ही को चरितार्थ करना है। अब यदि महाजन का अर्थ 'बड़े बड़े सदाचारी पुरुष' लिया जाय – और यही अर्थ उक्त श्लोक में अभिप्रेत है – तो उन महाजनों के आचरण में भी एकता कहाँ है? निष्पाप श्रीरामचन्द्र ने अग्निद्वारा शुद्ध हो जाने पर भी अपनी पत्नी का त्याग केवल लोकापवाद के लिये किया; और सुग्रीव को अपने पक्ष में मिलने के लिये उससे 'तुल्यारि-मित्र' – अर्थात् जो तेरा शत्रु वही मेरा शत्रु; और जो तेरा मित्र वही मेरा मित्र, इस प्रकार संधि करके बेचारे वाली का वध किया; यद्यपि उसने श्रीरामचन्द्र का कुछ अपराध नहीं किया था। परशुराम ने तो पिता की आज्ञा से प्रत्यक्ष अपनी

माता का शिरच्छेद कर डाला। यदि पाण्डवों का आचरण देखा जाय तो पाँचों की एक ही स्त्री थी। स्वर्ग के देवताओं को देखें तो कोई अहल्या का सतीत्व भ्रष्ट करनेवाला है, और कोई (ब्रह्मा) मृगरूप से अपनी ही कन्या का अभिलाष करने के कारण रुद्र के बाण से विद्ध हो कर आकाश में पड़ा हुआ है (ऐ.ब्रा. ३. ३३)। इन्हीं बातों को मन में ला कर 'उत्तररामचरित' नाटक में भवभूति ने लव के मुख से कहलाया है, कि ' वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः ' – इन वृद्धों के कृत्यों का बहुत विचार नहीं करना चाहिये। अंग्रेजी में शैतान का इतिहास लिखनेवाले एक ग्रन्थकार ने लिखा है, कि शैतान के साथियों और देवदूतों के झगड़ों का हाल देखने से मालूम होता है, कि कई बार देवताओं ने ही दैत्यों को कपटजाल में फँसा लिया है। इसी प्रकार कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् (कौषी. ३. १ और ऐ. ब्रा. ७. २८ देखो) में इन्द्र प्रतर्दन से कहता है, कि " मैंने वृत्र को (यद्यपि वह ब्राह्मण था) मार डाला; अरुन्मुख संन्यासियों के टुकड़े टुकड़े करके भेड़ियों को (खाने के लिये) दिये; और अपनी कई प्रतिज्ञाओं का भंग करके प्रल्हाद के नातेदारों और गोत्रजों का तथा पौलोम और कालखंज नामक दैत्यों का वध किया। (इससे) मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ – ' तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते ! ' " यदि कोई कहे, " कि तुम्हें इन महात्माओं के बुरे कर्मों की ओर ध्यान देने का कुछ भी कारण नहीं है; जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् (१. ११. २) में बतलाया है; उनके जो कर्म अच्छे हों, उन्हीं का अनुकरण करो; और सब छोड़ दो। उदाहरणार्थ, परशुराम के समान पिता की आज्ञा पालन करो; परन्तु माता की हत्या मत करो "; तो वही पहला प्रश्न फिर भी उठता है, कि बुरा कर्म और भला कर्म समझने के लिये साधन है क्या? इसलिये अपनी करनी का उक्त प्रकार से वर्णन कर इन्द्र प्रतर्दन से फिर कहता है, " जो पूर्ण आत्मज्ञानी है, उसे मातृवध, पितृवध, भ्रूणहत्या अथवा स्तेय (चोरी) इत्यादि किसी भी कर्म का दोष नहीं लगता। इस बात को भली भाँति समझ ले; और फिर यह भी समझ ले, कि आत्मा किसे कहते हैं – ऐसा करने से तेरे सारे संशयों की निवृत्ति हो जायगी। " इसके बाद इन्द्र ने प्रतर्दन को आत्मविद्या का उपदेश दिया। सारांश यह है, कि " महाजनो येन गतः स पन्थाः " यह युक्ति यद्यपि सामान्य लोगों के लिये सरल है, तो भी सब बातों में इससे निर्वाह नहीं हो सकता; और अन्त में महाजनों के आचरण का सच्चा तत्त्व कितना भी गूढ हो, तो आत्मज्ञान में घुस कर विचारवान् पुरुषों को उसे ढूँढ़ निकालना ही पड़ता है। ' न देवचरितं चरेत् ' – देवताओं के केवल बाहरी चरित्र के अनुसार आचरण नहीं करना चाहिये – इस उपदेशका रहस्य भी यही है। इसके सिवा कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये कुछ लोगों ने एक और सरल युक्ति बतलाई है। उनका कहना है, कि कोई भी सद्गुण हो, उसकी अधिकता न होने देने के लिये हमें हमेशा यत्न करते रहना चाहिये; क्योंकि इस

अधिकता से ही अन्त में सद्गुण दुर्गुण बन बैठता है। जैसे, देना सचमुच सद्गुण है; परंन्तु 'अतिदानाद्बलिर्बद्धः' – दान की अधिकता होने से ही राजा बलि फँस गया। प्रसिद्ध यूनानी पण्डित ॲरिस्टॉटल ने अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ में कर्म-अकर्म के निर्णय की यही युक्ति बतलाई है; और स्पष्टतया दिखलाया है, कि प्रत्येक सद्गुण की अधिकता होने पर दुर्दशा कैसे हो जाती है। कालिदास ने भी रघुवंश में वर्णन किया है, कि केवल शूरता व्याघ्र सरीखे श्वापद का क्रूर काम है, और केवल नीति भी डरपोकपन है; इसलिये अतिथि राजा तलवार और राजनीति के योग्य मिश्रण से अपने राज्य का प्रबन्ध करता था (रघु. १७. ४७)। भर्तृहरि ने भी कुछ गुण-दोषों का वर्णन कर कहा है, कि यदि जादा बोलना वाचालता का लक्षण है, और कम बोलना घुम्मापन है; जादा खर्च करें तो उडाऊ और कम करें तो कंजूस, आगे बढ़ें तो दुःसाहसी और पीछे हटें तो ढीला, अतिशय आग्रह करें तो जिद्दी और न करें तो चंचल, जादा खुशामद करें तो नीच और ऐंठ दिखलावें तो घमंडी है; परन्तु इस प्रकार की स्थूल कसौटी से अन्त तक निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि, 'अति' किसे कहते हैं और 'नियमित' किसे कहते हैं – इसका भी तो कुछ निर्णय होना चाहिये न; तथा, यह निर्णय कौन किस प्रकार करे? किसी एक को अथवा किसी एक मौके पर जो बात 'अति' होगी वही दूसरे को, अथवा दूसरे मौके पर कम हो जायगी। हनुमानजी को पैदा होते ही सूर्य को पकड़ने के लिये उड्डान मारना कोई कठिन काम नहीं मालूम पड़ा (वा. रामा. ७. ३५); परन्तु यही बात औरों के लिये कठिन क्या असंभव जान पड़ती है। इसलिये जब धर्म-अधर्म के विषय में संदेह उत्पन्न हो, तब प्रत्येक मनुष्य को ठीक वैसा ही निर्णय करना पड़ता है, जैसा श्येन ने राजा शिबी से कहा है –

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्॥

अर्थात् परस्पर-विरुद्ध धर्मों का तारतम्य अथवा लघुता और गुरुता देख कर ही, प्रत्येक मौके पर, अपनी बुद्धि के द्वारा सच्चे धर्म अथवा कर्म का निर्णय करना चाहिये (म. भा. वन. १३१. ११, १२ और मनु. ९. २९९ देखो)। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता, कि इतने ही से धर्म-अधर्म के सार-असार का विचार करना ही शंका के समय, धर्म-निर्णय की एक सच्ची कसौटी है। क्योंकि व्यवहार में अनेक बार देखा जाता है, कि अनेक पंडित लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सार-असार का विचार भी भिन्न भिन्न प्रकार से किया करते हैं; और एक ही बात की नीत्तिमत्ता का निर्णय भी भिन्न रीति से किया करते हैं। यही अर्थ उपर्युक्त 'तर्कोऽप्रतिष्ठः'

वचन में कहा गया है। इसलिये अब हमें यह जानना चाहिये, कि धर्म-अधर्म-संशय के इन प्रश्नों का अचूक निर्णय करने के लिये अन्य कोई साधन या उपाय है या नहीं; यदि हैं तो कौन-से हैं; और यदि अनेक उपाय हों तो उनमें श्रेष्ठ कौन है। बस, इस बात का निर्णय कर देना ही शास्त्र का काम है। शास्त्र का यही लक्षण भी है, कि 'अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्' – अर्थात् अनेक शंकाओं के उत्पन्न होने पर, सब से पहले उन विषयों के मिश्रण को अलग कर दें, जो समझ में नहीं आ सकते हैं; फिर उसके अर्थ को सुगम और स्पष्ट कर दें; जो बातें आँखों से दीख न पड़ती हों उनका, अथवा आगे होनेवाली बातों का भी यथार्थ ज्ञान करा दें। जब हम इस बात को सोचते हैं, कि ज्योतिषशास्त्रके सीखने से आगे होनेवाले ग्रहणों का भी सब हाल मालूम हो जाता है, तब उक्त लक्षण के 'परोक्षार्थस्य दर्शकम्' इस दूसरे भाग की सार्थकता अच्छी तरह दीख पड़ती है। परन्तु अनेक संशयों का समाधान करने के लिये पहले यह जानना चाहिये, कि वे कौन-सी शंकाएँ हैं। इसी लिये प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथकारों की यह रीति है, कि किसी भी शास्त्र का सिद्धान्तपक्ष बतलाने के पहले उस विषय में जितने पक्ष हो गये हों, उनका विचार करके उनके दोष और उनकी न्यूनताएँ दिखलाई जाती हैं। इसी रीति का स्वीकार गीता में कर्म-अकर्म-निर्णय के लिये प्रतिपादन किया हुआ सिद्धान्त-पक्षीय योग अर्थात् युक्ति बतलाने के पहले, इसी काम के लिये जो अन्य युक्तियाँ पंडित लोक बतलाया करते हैं, उनका भी अब हम विचार करेंगे। यह बात सच है, कि ये युक्तियाँ हमारे यहाँ पहले विशेष प्रचार में न थीं; विशेष करके पश्चिमी पंडितों ने ही वर्तमान समय में उनका प्रचार किया है; परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि उनकी चर्चा इस ग्रन्थ में न की जावे। क्योंकि न केवल तुलना ही के लिये, किन्तु गीता के आध्यात्मिक कर्मयोग का महत्त्व ध्यान में आने के लिये इन युक्तियों को – संक्षेप में भी क्यों न हो – जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

चौथा प्रकरण

आधिभौतिक सुखवाद

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्। *

– महाभारत, शान्ति. १३९. ६१

मनु आदि शास्त्रकारों ने 'अहिंसा सत्यमस्तेयं' इत्यादि जो नियम बनाये हैं उनका कारण क्या है, वे नित्य हैं कि अनित्य, उनकी व्याप्ति कितनी है, उनका मूलतत्त्व क्या है, यदि इनमें से कोई दो परस्परविरोधी धर्म एक ही समयमें आ पड़े तो किस मार्ग का स्वीकार करना चाहिये, इत्यादि प्रश्नों का निर्णय ऐसी सामान्य युक्तियों से नहीं हो सकता, जो 'महाजनो येन गतः स पंथाः' या 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' आदि वचनों से सूचित होती हैं। इसलिये अब यह देखना चाहिये, कि इन प्रश्नों का उचित निर्णय कैसे हो; और श्रेयस्कर मार्ग के निश्चित करने के लिये निर्भ्रान्त युक्ति क्या है; अर्थात् यह जानना चाहिये, कि परस्पर-विरुद्ध धर्मों की लघुता और गुरुता – न्यूनाधिक महत्ता – किस दृष्टि से निश्चित की जावे। अन्य शास्त्रीय प्रतिपादनों के अनुसार कर्म-अकर्म-विवेचनसंबंधी प्रश्नों की भी चर्चा करने के तीन मार्ग है; जैसे आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इनके भेदों का वर्णन पिछले प्रकरण में कर चुके हैं – हमारे शास्त्रकारों के मतानुसार आध्यात्मिक मार्ग ही इन सब मार्गोंमें श्रेष्ठ है; परन्तु अध्यात्ममार्ग का महत्त्वपूर्ण रीति से ध्यान में जँचने के लिये दूसरे दो मार्गों का भी विचार करना आवश्यक है; इसलिये पहले इस प्रकरण में कर्म-अकर्म-परीक्षा के आधिभौतिक मूलतत्त्वों की चर्चा की गई है। जिन आधिभौतिक शास्त्रों की आजकल बहुत उन्नति हुई है, उनमें व्यक्त पदार्थों के बाह्य और दृश्य गुणों ही का विचार विशेषता से किया जाता है। इसलिये जिन लोगों ने आधिभौतिक शास्त्रों के अध्ययन ही में अपनी उम्र बिता दी है और जिनको इस शास्त्र की विचारपद्धति का अभिमान है, उन्हें बाह्य परिणामों के ही विचार करने की आदत-सी पड़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है, कि उनकी तत्त्वज्ञानदृष्टि थोड़ी-बहुत संकुचित हो जाती है; और किसी भी बात का विचार करते समय वे लोग आध्यात्मिक, पारलौकिक, अव्यक्त या अदृश्य कारणों को विशेष महत्त्व नहीं देते। परन्तु यद्यपि वे लोग उक्त कारण से आध्यात्मिक और पारलौकिक दृष्टि को छोड़ दें, तथापि उन्हें यह मानना पड़ेगा, कि मनुष्य के सांसारिक व्यवहारों को सरलतापूर्वक चलाने और लोकसंग्रह करने के लिये नीति-नियमों की अत्यन्त

* "दुःख से सभी छड़कते हैं और सुख की इच्छा सभी करते हैं।"

आवश्यकता है। इसी लिये हम देखते हैं, कि उन पंडितों को भी कर्मयोगशास्त्र बहुत महत्त्व का मालूम होता है, कि जो लोग पारलौकिक विषयों पर अनास्था रखते हैं, या जिन लोगों का अव्यक्त अध्यात्मज्ञान में (अर्थात् परमेश्वर में भी) विश्वास नहीं है। ऐसे पंडितों ने पश्चिमी देशों में इस बात की बहुत चर्चा की है – और वह चर्चा अब तक जारी है – कि केवल आधिभौतिक शास्त्र की रीति से (अर्थात् केवल सांसारिक दृश्य युक्तिवाद से ही) कर्म-अकर्म-शास्त्र की उपपत्ति दिखलाई जा सकती है या नहीं। इस चर्चा से उन लोगों ने यह निश्चय किया है, कि नीतिशास्त्र का विवेचन करने में अध्यात्मशास्त्र की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। किसी कर्म के भले या बुरे होने का निर्णय उस कर्म के बाह्य परिणामों से – जो प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं – किया जाना चाहिये; और ऐसा ही किया भी जाता है। क्योंकि, मनुष्य जो जो कर्म करता है, वह सब सुख के लिये या दुःख-निवारणार्थ ही किया करता है। और तो क्या 'सब मनुष्यों का सुख' ही ऐहिक परमोद्देश है; और यदि सब कर्मों का अंतिम दृश्य फल इस प्रकार निश्चित है, तो नीति-निर्णय का सच्चा मार्ग यही होना चाहिये, कि सब कर्मों की नीतिमत्ता निश्चित की जावे। जब कि व्यवहार में किसी वस्तु का भला-बुरापन केवल बाहरी उपयोग ही से निश्चित किया जाता है, – जैसे, जो गाय छोटे सींगोंवाली और सीधी हो कर भी अधिक दूध देती है, वही अच्छी समझी जाती है – तब इसी प्रकार जिस कर्म से सुख-प्राप्ति या दुःख-निवारणात्मक बाह्य फल अधिक हो, उसी को नीति की दृष्टि से भी श्रेयस्कर समझना चाहिये। जब हम लोगों को केवल बाह्य और दृश्य परिणामों की लघुता-गुरुता देख कर नीतिमत्ता के निर्णन करने की यह सरल और शास्त्रीय कसौटी प्राप्त हो गई है, तब उसके लिये आत्म-अनात्म के गहरे विचार-सागर में चक्कर खाते रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"* – पास ही में मधु मिल जाय तो मधुमक्खी के छत्ते की खोज के लिये जंगल में क्यों जाना चाहिये? किसी भी कर्म के केवल बाह्य फल को देख कर नीति और अनीति का निर्णय करनेवाले उक्त पक्ष को हमने 'आधिभौतिक सुखवाद' कहा है। क्यों कि नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये इस मत के अनुसार जिन सुख-दुःखों का विचार किया जाता है, वे सब प्रत्यक्ष दिखलानेवाले, और केवल बाह्य अर्थात् बाह्य पदार्थों का इंद्रियों के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होनेवाले, यानी आधिभौतिक हैं; और यह पंथ भी सब संसार का केवल आधिभौतिक दृष्टि से विचार करनेवाले पंडितों से ही चलाया

---

* कुछ लोग इस श्लोक में 'अर्क' शब्दसे 'आक या मदार' के पेड़ का भी अर्थ लेते हैं। परंतु ब्रह्मसूत्र ३. ४. ३. के शांकरभाष्य की टीका में आनन्दगिरि ने 'अर्क' शब्द का अर्थ 'समीप' किया है। इस श्लोक का दूसरा चरण यह है – "सिद्धस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्।"

गया है। इसका विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में करना असंभव है – भिन्न भिन्न ग्रन्थ-कारों के मतों का सिर्फ़ सारांश देने के लिये ही एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखना पड़ेगा। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोगशास्त्र का स्वरूप और महत्त्व पूरी तौर से ध्यान में आ जाने के लिये नीतिशास्त्र के इस आधिभौतिक पंथ का जितना स्पष्टीकरण अत्यावश्यक है, उतना ही संक्षिप्त रीति से इस प्रकरण में एकत्रित किया गया है। इससे अधिक बातें जानने के लिये पाठकों को पश्चिमी विद्वानों के मूलग्रन्थ ही पढ़ना चाहिये। ऊपर कहा गया है, कि परलोक के विषय में आधिभौतिकवादी उदासीन रहा करते हैं; परन्तु इसका यह मतलब नहीं है, कि इस पंथ के सब विद्वान् लोग स्वार्थसाधक, अपस्वार्थी अथवा अनीतिमान् हुआ करते हैं। यदि इन लोगों में पारलौकिक दृष्टि नहीं है तो न सही। ये मनुष्य के कर्तव्य के विषय में यही कहते हैं, कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी ऐहिक दृष्टि ही को – जितनी बन सके उतनी – व्यापक बना कर समूचे जगत् के कल्याण के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह अंतःकरण से पूर्ण उत्साह के साथ उपदेश करनेवाले कोन्ट, मिल, स्पेन्सर आदि सात्त्विक वृत्ति के अनेक पंडित इस पन्थ में हैं; और उनके ग्रन्थ अनेक प्रकार के उदात्त और प्रगल्भ विचारों से भरे रहने के कारण सब लोगों के पढ़ने योग्य हैं। यद्यपि कर्मयोगशास्त्र के पन्थ भिन्न हैं, तथापि जब तक 'संसार का कल्याण' यह बाहरी उद्देश छूट नहीं गया है तब तक भिन्न रीति से नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करनेवाले किसी मार्ग या पन्थ का उपहास करना अच्छी बात नहीं है। अस्तु; आधिभौतिकवादियों में इस विषय पर मतभेद है, कि नैतिक कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये जिस आधिभौतिक बाह्य सुख का विचार करना है वह किसका है? स्वयं अपना है या दूसरे का; एक ही व्यक्ति का है, या अनेक व्यक्तियों का? अब संक्षेप में इस बात का विचार किया जायगा, कि नये और पुराने सभी आधिभौतिक-वादियों के मुख्यतः कितने वर्ग हो सकते हैं, और उनके ये पन्थ कहाँ तक उचित अथवा निर्दोष हैं।

इनमें से पहला वर्ग केवल स्वार्थ-सुखवादियों का है। उस पन्थ का कहना है, कि परलोक और परोपकार सब झूठ है। आध्यात्मिक धर्मशास्त्रों को चालाक लोगों ने अपना पेट भरने के लिये लिखा है। इस दुनिया में स्वार्थ ही सत्य है, और जिस उपाय से स्वार्थ सिद्ध हो सके, अथवा जिसके द्वारा स्वयं अपने आधिभौतिक सुख की वृद्धि हो उसी को न्याय्य, प्रशस्त या श्रेयस्कर समझना चाहिये। हमारे हिंदुस्थान में बहुत पुराने समय में चार्वाक ने बड़े उत्साह से इस मत का प्रतिपादन किया था और रामायण में जाबालि ने अयोध्याकांड के अन्त में श्रीरामचंद्रजी को जो कुटिल उपदेश दिया है वह, तथा महाभारत में वर्णित कणिकनीति (म. भा. आ. १४२) भी इसी मार्ग की है। चार्वाक का मत है, कि जब पञ्चमहाभूत एकत्र होते हैं, तब उसके मिलाप से आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है; और देह

के जलने पर उसके साथ साथ वह भी जल जाता है। इसलिये विद्वानों का कर्तव्य है, कि आत्मविचार के झंझट में न पड़ कर जब तक यह शरीर जीवित अवस्था में है, तब तक 'ऋण ले कर भी त्योहार मनावें' – 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' – क्योंकि मरने पर कुछ नहीं है। चार्वाक हिन्दुस्थान में पैदा हुआ था, इसलिये उसने घृत ही से अपनी तृष्णा बुझा ली। नहीं तो उक्त सूत्र का रूपान्तर 'ऋणं कृत्वा सुरां पिबेत्' हो गया होता। कहाँ का धर्म और कहाँ का परोपकार! इस संसार में जितने पदार्थ परमेश्वर ने, – शिव, शिव! भूल हो गई। परमेश्वर आया कहाँ से? – इस संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब मेरे ही उपयोग के लिये हैं। उनका दूसरा कोई भी उपयोग नहीं दिखाई पड़ता – अर्थात् है ही नहीं! मैं मरा कि दुनिया डूबी! इसलिये जब तक मैं जीता हूँ, तब तक आज यह तो कल वह; इस प्रकार सब कुछ अपने अधीन करके अपनी सारी काम-वासनाओं को तृप्त कर लूँगा। यदि मैं तप करूँगा, अथवा कुछ दान दूँगा तो वह सब मैं अपने महत्त्व को बढ़ाने ही के लिये करूँगा; और यदि मैं राजसूय या अश्वमेध यज्ञ करूँगा, तो उसे मैं यही प्रकट करने के लिये करूँगा, कि मेरी सत्ता या अधिकार सर्वत्र अबाधित है। सारांश, इस जगत् का मैं ही केन्द्र हूँ; और केवल यही सब नीतिशास्त्रों का रहस्य है। बाकी सब झूठ है। ऐसे ही आसुरी मताभिमानियों का वर्णन गीता के सोलहवें अध्याय में किया गया है – 'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी' (गीता १६. १४) – मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगनेवाला; और मैं ही सिद्ध बलवान् और सुखी हूँ। यदि श्रीकृष्ण के बदले जाबालि के समान इस पथवाला कोई आदमी अर्जुन को उपदेश करने के लिये होता, तो वह पहले अर्जुन के कान मल कर यह बतलाता, कि "अरे तू मूर्ख तो नहीं है? लड़ाई में सब को जीत कर अनेक प्रकार के राजभोग और विलासों के भोगने का यह बढ़िया मौका पाकर भी तू 'यह करूँ कि वह करूँ?' इत्यादि व्यर्थ भ्रम में कुछ-का-कुछ बक रहा है। यह मौका फिरसे मिलने का नहीं। कहाँ के आत्मा और कहाँ के कुटुम्बियों के लिये बैठा है। उठ तैयार हो; सब लोगों को ठोक-पीट कर सीधा कर दे; और हस्तिनापुर के साम्राज्य का सुख से निष्कंटक उपभोग कर! इसी में तेरा परम कल्याण है। स्वयं अपने दृश्य तथा ऐहिक सुख के सिवा इस संसार में और रखा क्या है?" परन्तु अर्जुन ने इस घृणित, स्वार्थ-साधक और आसुरी उपदेश की प्रतीक्षा नहीं की – उसने पहले ही श्रीकृष्ण से कह दिया कि :–

> **एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।**
> **अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥**

"पृथ्वी का ही क्या, परन्तु यदि तीनों लोकों का राज्य (इतना बड़ा विषय-सुख) भी (इस युद्ध के द्वारा) मुझे मिल जाय, तो भी मैं कौरवों को मारना नहीं

चाहता। चाहे वे मेरी भले ही गर्दन उड़ा दें!" (गी. १. ३५)। अर्जुन ने पहले ही से जिस स्वार्थपरायण और आधिभौतिक सुखवाद का इस तरह निषेध किया है, उस आसुरी मत का केवल उल्लेख करना ही उसका खंडन करना कहा जा सकता है। दूसरों के हित-अनहित की कुछ भी परवाह न करके सिर्फ़ अपने खुद के विषयोपभोगसुख को परम-पुरुषार्थ मान कर नीतिमत्ता और धर्म को गिरा देनेवाले आधिभौतिकवादियों की यह अत्यन्त कनिष्ठ श्रेणी कर्मयोगशास्त्र के सब ग्रन्थकारों के द्वारा और सामान्य लोगों के द्वारा भी बहुत ही अनीति की, त्याज्य और गर्ह्य मानी गई है। अधिक क्या कहा जाय, यह पन्थ नीतिशास्त्र अथवा नीतिविवेचन के नाम को भी पात्र नहीं है। इसलिये इसके बारे में अधिक विचार न करके आधिभौतिकसुखवादियों के दूसरे वर्ग की ओर ध्यान देना चाहिये।

खुल्लमखुल्ला या प्रकट स्वार्थ संसार में चल नहीं सकता। क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, कि यद्यपि आधिभौतिक विषयसुख प्रत्येक को इष्ट होता है; तथापि जब हमारा सुख अन्य लोगों के सुखोपभोग में बाधा डालता है, तब वे लोग बिना विघ्न किये नहीं रहते। इसलिये दूसरे कई आधिभौतिक पण्डित प्रतिपादन किया करते हैं, कि यद्यपि स्वयं अपना सुख या स्वार्थ-साधन ही हमेशा उद्देश है, तथापि सब लोगों को अपने ही समान रियायत दिये बिना सुख का मिलना सम्भव नहीं है। इसलिये अपने सुख के लिये ही दूरदर्शिता के साथ अन्य लोगों के सुख की ओर भी ध्यान देना चाहिये। इन आधिभौतिकवादियों की गणना हम दूसरे वर्ग में करते हैं। बल्कि यह कहना चाहिये, कि नीति की आधिभौतिक उपपत्ति का यथार्थ आरम्भ यहीं से होता है। क्योंकि इस वर्ग के लोग चार्वाक के मतानुसार यह नहीं कहते, कि समाज-धारण के लिये नीति के बन्धनों की कुछ आवश्यकता ही नहीं है। किंतु इन लोगों ने अपनी विचारदृष्टि से इस बात का कारण बतलाया है, कि सभी लोगों को नीति का पालन क्यों करना चाहिये। इनका कहना यह है, कि यदि इस बात का सूक्ष्म विचार किया जाय, कि संसार में अहिंसा-धर्म कैसे निकला और लोग उसका पालन क्यों करते हैं, तो यही मालूम होगा, कि ऐसे स्वार्थमूलक भय के सिवा उसका कुछ दूसरा आदिकारण नहीं है, जो इस वाक्य से प्रकट होता है – "यदि मैं लोगों को मारूँगा तो वे मुझे भी मार डालेंगे; और फिर मुझे अपने सुखों से हात धोना पड़ेगा।" अहिंसा-धर्म के अनुसार ही अन्य सब धर्म भी इसी या ऐसे ही स्वार्थमूलक कारणों से प्रचलित हुए हैं। हमें दुःख हुआ, तो हम रोते हैं; और दूसरों को हुआ, तो हमें दया आती है। क्यों? इसी लिये न, कि हमारे मन में यह डर पैदा होता है, कि कहीं भविष्य में हमारी भी ऐसी ही दुःखमय अवस्था न हो जाय। परोपकार, उदारता, दया, ममता, कृतज्ञता, नम्रता, मित्रता इत्यादि जो गुण लोगों के सुख के लिये आवश्यक मालूम होते हैं, वे सब – यदि उनका मूलस्वरूप देखा जाय तो – अपने ही दुःखनिवारणार्थ हैं।

कोई किसी की सहायता करता है, या कोई किसी को दान देता है। क्यों? इसी लिये न कि जब हम पर भी आ बितेगी, तब वे हमारी सहायता करेंगे। हम अन्य लोगों को इसलिये प्यार पर रखते हैं, कि वे भी हमपर प्यार करें। और कुछ नहीं तो हमारे मन में अच्छा कहलाने का स्वार्थमूलक हेतु अवश्य रहता है। परोपकार और परार्थ दोनों शब्द केवल भ्रान्तिमूलक हैं। यदि कुछ सच्चा है तो स्वार्थ; और स्वार्थ कहते हैं अपने लिये सुख-प्राप्ति या अपने दुःखनिवारण को। माता बच्चे को दूध पिलाती है; इसका कारण यह नहीं है, कि वह बच्चे पर प्रेम रखती हो; सच्चा कारण तो वही है, कि उसके स्तनों में दूध के भर जाने से उसे जो दुःख होता है, उसे कम करने के लिये – अथवा भविष्य में यही लड़का मुझे प्यार करके सुख देगा इस स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही -- वह बच्चे को दूध पिलाती है। इस बात को दूसरे वर्ग के आधिभौतिकवादी मानते हैं, कि स्वयं अपने ही सुख के लिये भी क्यों न हो, परन्तु भाविष्य पर दृष्टि रख कर ऐसे नीतिधर्म का पालन करना चाहिये, कि जिससे दूसरों को भी सुख हो। बस, यही इस मत में और चार्वाक के मत में भेद है। तथापि चार्वाक-मत के अनुसार इस मत में भी यह माना जाता है, कि मनुष्य केवल विषय-सुखरूप स्वार्थ के साँचे में ढला हुआ एक पुतला है; इंग्लैंड में हॉब्स और फ्रान्स में हेल्वेशियस ने इस मत का प्रतिपादन किया है। परन्तु इस मत के अनुयायी अब न तो इंग्लैंड में ही और न कहीं बाहर ही अधिक मिलेंगे। हॉब्स के नीतिधर्म की इस उपपत्ति के प्रसिद्ध होने पर बटलर सरीखे* विद्वानों ने उसका खंडन करके सिद्ध किया, कि मनुष्य-स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है; स्वार्थ के समान ही उसमें जन्म से ही भूतदया, प्रेम, कृतज्ञता आदि सद्गुण भी कुछ अंश में रहते हैं। इसलिये किसी का व्यवहार या कर्म का नैतिक दृष्टि से विचार करते समय केवल स्वार्थ या दूरदर्शी स्वार्थ की ओर ही ध्यान न दे कर मनुष्य-स्वभाव के दो स्वाभाविक गुणों (अर्थात् स्वार्थ और परार्थ) की ओर नित्य ध्यान देना चाहिये। जब हम देखते हैं, कि व्याघ्र सरीखे क्रूर जानवर भी अपने बच्चों की रक्षा के लिये प्राण देने को तयार हो जाते हैं, तब हम यह कभी नहीं कह सकते, कि मनुष्य के हृदय में प्रेम और परोपकारबुद्धि जैसे सद्गुण केवल स्वार्थ ही से उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध होता है, कि धर्म-अधर्म की परीक्षा केवल दूरदर्शी स्वार्थ से करना शास्त्र की दृष्टि से भी उचित नहीं है। यह बात हमारे प्राचीन पंडितों को भी अच्छी तरह से मालूम थी, कि केवल संसार में लिप्त रहने के कारण जिस मनुष्य की बुद्धि शुद्ध नहीं रहती है, वह मनुष्य जो कुछ

* हॉब्स का मत उसके *Leviathan* नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है, तथा बटलर का मत उसके *Sermon on Human Nature* नामक निबन्ध में है। हेल्वेशियस की पुस्तक का सारांश मोर्ले ने अपने *Diderot* विषयक ग्रन्थ (*Vol. II, Chap. V*) में दिया है।

परोपकार के नाम से करता है, वह बहुधा अपने ही हित के लिये करता है। महाराष्ट्र में तुकाराम महाराज एक बड़े भारी भगवद्भक्त हो गये हैं। वे कहते हैं, कि " बहू दिखलाने के लिये तो रोती है सास के हित के लिये; परन्तु हृदय का भाव कुछ और ही रहता है।" बहुत से पंडित तो हेल्वेशियस से भी आगे बढ़ गये हैं। उदाहरणार्थ, " मनुष्य की स्वार्थप्रवृत्ति तथा परार्थप्रवृत्ति भी दोषमय होती हैं " – ' प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ' इस गौतम-न्यायसूत्र (१.१.१८) के आधार पर ब्रह्मसूत्र भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने जो कुछ कहा है (वे. सू. शां. भा. २. २. ३), उस पर टीका करते हुए आनंदगिरि लिखते हैं, कि ' जब हमारे हृदय में कारुण्यवृत्ति जागृत होती है, और हमको उससे दुःख होता है, तब उस दुःख को हटाने के लिये हम अन्य लोगों पर दया और परोपकार किया करते हैं। ' आनंदगिरि की यही युक्ति प्रायः हमारे सब संन्यासमार्गीय ग्रन्थों में पाई जाती है; जिससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न दीख पड़ता है, कि सब कर्म स्वार्थमूलक होने के कारण त्याज्य हैं। परन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् (२. ४. ४. ५) में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी का जो संवाद दो स्थानों पर है, उसमें इसी युक्तिवाद का उपयोग एक दूसरी ही अद्भुत रीति से किया गया है। मैत्रेयी ने पूछा, ' हम अमर कैसे ?' इस प्रश्न का उत्तर देते समय याज्ञवल्क्य उससे कहते हैं, " हे मैत्रेयी ! स्त्री अपने पति को पति ही के लिये नहीं चाहती; किन्तु वह अपनी आत्मा के लिये उसे चाहती है। इसी तरह हम अपने पुत्र से उसके हितार्थ प्रेम नहीं करते; किन्तु हम स्वयं अपने ही लिये उसपर प्रेम करते हैं*। द्रव्य, पशु और अन्य वस्तुओं के लिये भी यही न्याय उपयुक्त है। ' आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ' – अपने आत्मा के प्रीत्यर्थ ही सब पदार्थ हमें प्रिय लगते हैं। और, यदि इस तरह सब प्रेम आत्ममूलक है, तो क्या हमको सब से पहले यह जानने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये, कि आत्मा (हम) क्या है ? " यह कह कर अन्त में याज्ञवल्क्य ने यही उपदेश दिया है, " आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः " – अर्थात् " सब से पहले यह देखो, कि आत्मा कौन है; फिर उसके विषय में सुनो और उसका मनन तथा ध्यान करो। " इस उपदेश के अनुसार एक बार आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहचान होने पर सब जगत् आत्ममय देख पड़ने लगता है; और स्वार्थ तथा परार्थ का भेद ही मन में रहने नहीं पाता। याज्ञवल्क्य का

---

* "What say you of natural affection ? Is that also a species of self-love ? Yes; All is self-love. *Your* children are loved only because they are yours. *Your* friend for a like reason. And *Your* country engages you only so far as it has a connection with *Yourself*." ह्यूम ने भी इसी युक्तिवाद का उल्लेख अपने *Of the Dignity or Meanness of Human Nature* नामक निबन्ध में किया है। स्वयं ह्यूम का मत इससे भिन्न है।

यह युक्तिवाद दिखनेमें तो हॉब्स के मतानुसार ही है; परन्तु यह बात भी किसी से छिपी नहीं है, कि इन दोनों से निकाले गये अनुमान एक दूसरे के विरुद्ध हैं। हॉब्स स्वार्थ ही को प्रधान मानता है; और सब पदार्थों को दूरदर्शी स्वार्थ का ही एक स्वरूप मान कर वह कहता है, कि इस संसार में स्वार्थ के सिवा और कुछ नहीं। याज्ञवल्क्य 'स्वार्थ' शब्द के 'स्व' (अपना) पद के आधार पर दिखलाते हैं, कि अध्यात्मदृष्टि से अपने एक ही आत्मा में सब प्राणियों का, और सब प्राणियों में ही अपने आत्मा का, अविरोध भाव से समावेश कैसे होता है। यह दिखला कर उन्होंने स्वार्थ और परार्थ में दीखनेवाले द्वैत के झगड़े की जड़ ही को काट डाला है। याज्ञवल्क्य के उक्त मत और संन्यासमार्गीय मत पर अधिक विचार आगे किया जायगा। यहाँ पर याज्ञवल्क्य आदिकों के मतों का उल्लेख यही दिखलाने के लिये किया गया है, कि "सामान्य मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वार्थ-विषयक अर्थात् आत्मसुख-विषयक होती है" – इस एक ही बात को थोड़ा-बहुत महत्त्व दे कर, अथवा इसी एक बात को सर्वथा अपवाद-रहित मान कर, हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने उसी बात से हॉब्स के विरुद्ध दुसरे अनुमान कैसे निकाले हैं।

जब यह बात सिद्ध हो चुकी, कि मनुष्य का स्वभाव केवल स्वार्थमूलक अर्थात् तमोगुणी या राक्षसी नहीं है – जैसा कि अंग्रेज़ ग्रन्थकार हॉब्स और फ्रेंच पंडित हेल्वेशियस कहते हैं – किन्तु मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ के साथ ही परोपकार-बुद्धि की सात्त्विक मनोवृत्ति भी जन्म से पाई जाती है। अर्थात् जब यह सिद्ध हो चुका, कि परोपकार केवल दूरदर्शी स्वार्थ नहीं है, तब स्वार्थ अर्थात् स्वसुख और परार्थ अर्थात् दूसरों का सुख, इन दोनों तत्त्वों पर समदृष्टि रख कर कार्य-अकार्य-व्यवस्था-शास्त्र की रचना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यही आधिभौतिक-वादियों का तीसरा वर्ग है। इस पक्ष में भी यह आधिभौतिक मत मान्य है, कि स्वार्थ और परार्थ दोनों सांसारिक सुखवाचक हैं, सांसारिक सुख के परे कुछ भी नहीं है। भेद केवल इतना ही है, कि इन पंथ के लोग स्वार्थबुद्धि के समान ही परार्थबुद्धि को भी स्वाभाविक मानते हैं। इसलिये वे कहते हैं, कि नीति का विचार करते समय स्वार्थ के समान परार्थ की ओर ध्यान देना चाहिये। सामान्यतः स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न नहीं होता; इसलिये मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब प्रायः समाज के भी हित का होता है। यदि किसी ने धनसंचय किया, तो उससे समस्त समाज का भी हित होता है; क्योंकि, अनेक व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं; और यदि उस समाज की प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की हानि न कर अपना अपना लाभ करने लगे, तो उससे कुल समाज का हित ही होगा। अतएव इस पन्थ के लोगों ने निश्चित किया है, कि अपने सुख की ओर दुर्लक्ष करके यदि कोई मनुष्य लोकहित का कुछ काम कर सके, तो ऐसा करना उसका कर्तव्य होगा। परन्तु इस पक्ष के लोग परार्थ की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते; किन्तु

वे यही कहते हैं, कि हर समय अपनी बुद्धि के अनुसार इस बात का विचार करते रहो, कि स्वार्थ श्रेष्ठ है या परार्थ। इसका परिणाम यह होता है, कि जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न होता है, तब इस प्रश्न का निर्णय करते समय बहुधा मनुष्य स्वार्थ ही की ओर अधिक झुक जाया करता है, कि लोक-सुख के लिये अपने कितने सुख का त्याग करना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि स्वार्थ और परार्थ को एक समान प्रबल मान लें, तो सत्य के लिये प्राण देने और राज्य खो देने की बात तो दूर ही रही; परन्तु इस पन्थ के मत से यह भी निर्णय नहीं हो सकता, कि सत्य के लिये द्रव्य की हानि सहना चाहिये या नहीं। यदि कोई उदार मनुष्य परार्थ के लिये प्राण दे दें, तो इस पंथवाले कदाचित् उसकी स्तुति कर देंगे; परन्तु जब यह मौक़ा स्वयं अपने ही ऊपर आ जायगा, तब स्वार्थ-परार्थ दोनों ही का आश्रय करनेवाले ये लोग स्वार्थ की ओर ही अधिक झुकेंगे। ये लोग, हॉब्स के समान परार्थ को एक प्रकार का दूरदर्शी स्वार्थ नहीं मानते; किन्तु ये समझते हैं, कि हम स्वार्थ और परार्थ को तराज़ू में तोल कर उनके तारतम्य अर्थात् उनकी न्यूनाधिकता का विचार करके बड़ी चतुराई से अपने स्वार्थ का निर्णय किया करते हैं। अतएव ये लोग अपने मार्ग को 'उदात्त' या 'उच्च' स्वार्थ (परन्तु है तो स्वार्थ ही) कह कर उसकी बड़ाई मारते फिरते हैं;* परन्तु देखिये, भर्तृहरि ने क्या कहा है :-

> **एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।**
> **सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये॥**
> **तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।**
> **ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥**

"जो अपने लाभ को त्याग कर दूसरों का हित करते हैं वे ही सच्चे सत्पुरुष हैं। स्वार्थ को न छोड़ कर जो लोग लोकहित के लिये प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष सामान्य हैं; और अपने लाभ के लिये जो दूसरों का नुकसान करते हैं वे नीच, मनुष्य नहीं हैं – उनको मनुष्याकृति राक्षस समझना चाहिये। परन्तु एक प्रकार के मनुष्य और भी है, जो लोकहित का निरर्थक नाश किया करते हैं – मालूम नहीं पड़ता कि ऐसे मनुष्यों को क्या नाम दिया जाय" (भर्तृ. नी. श. ७४)। इसी तरह राजधर्म की उत्तम स्थिति का वर्णन करते समय कालिदास ने भी कहा है :-

> **स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः।**
> **प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव॥**

अर्थात् "तू अपने सुख की परवाह न करके लोकहित के लिये प्रतिदिन कष्ट उठाया करता है! अथवा तेरी व्रत्ति (पेशा) ही यही है" (शाकुं. ५. ७)। भर्तृहरि या

* अंग्रेजी में इसे enlightened self-interest कहते हैं। हमने enlightened का भाषान्तर 'उदात्त' या 'उच्च' शब्दों से किया है।

कालिदास यह जानना नहीं चाहते थे, कि कर्मयोगशास्त्र में स्वार्थ और परार्थ को स्वीकार करके उन दोनों तत्त्वों के तारतम्य-भाव से धर्म-अधर्म या कर्म-अकर्म का निर्णय कैसे करना चाहिये; तथापि परार्थ के लिये स्वार्थ छोड़ देनेवाले पुरुषों को उन्होंने जो प्रथम स्थान दिया है, वही नीति की दृष्टि से भी न्याय्य है। इस पर इस पन्थ के लोगों का यह कहना है, कि "यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से परार्थ श्रेष्ठ है, तथापि परम सीमा की शुद्ध नीति की ओर न देख कर हमें सिर्फ़ यही निश्चित करना है, कि साधारण व्यवहार में 'सामान्य' मनुष्यों को कैसे चलना चाहिये। और इसलिये हम 'उच्च स्वार्थ' को जो अग्रस्थान देते हैं, वही व्यावहारिक दृष्टि से उचित है!"* परन्तु हमारी समझ के अनुसार इस युक्तिवाद से कुछ लाभ नहीं है। बाज़ार में जितने माप-तौल नित्य उपयोग में लाये जाते हैं, उनमें थोड़ा-बहुत फ़र्क रहता ही है; बस, यही कारण बतला कर यदि प्रमाणभूत सरकारी माप-तौल में भी कुछ न्यूनाधिकता रखी जाय, तो क्या इनके खोटे-पन के लिये हम अधिकारियों को दोष नहीं देंगे? इसी न्याय का उपयोग कर्मयोगशास्त्र में भी किया जा सकता है। नीति-धर्म के पूर्ण शुद्ध और नित्य स्वरूप का शास्त्रीय निर्णय करने के लिये ही नीतिशास्त्र की प्रवृत्ति हुई है; और इस काम को यदि नीतिशास्त्र नहीं करेगा, तो हम उसको निष्फल कह सकते हैं। सिज्विक का यह कथन सत्य है, कि 'उच्च स्वार्थ' सामान्य मनुष्यों का मार्ग है। भर्तृहरि का मत भी ऐसा ही है। परन्तु यदि इस बात की खोज की जाय, कि पराकाष्ठा की नीतिमत्ता के विषय में उक्त सामान्य लोगों ही का क्या मत है; तो यह मालूम होगा, कि सिज्विक ने उच्च स्वार्थ को जो महत्त्व दिया है, वह भूल है। क्योंकि साधारण लोग भी यही कहते हैं, कि निष्कलंक नीति के तथा सत्पुरुषों के आचरण के लिये यह कामचलाऊ मार्ग श्रेयस्कर नहीं है। इसी बात का वर्णन भर्तृहरि ने उक्त श्लोक में किया है।

आधिभौतिक सुख-वादियों के तीन वर्गों का अब तक वर्णन किया गया :- (१) केवल स्वार्थी; (२) दूरदर्शी स्वार्थी; और (३) उभयवादी अर्थात् उच्च स्वार्थी। इन तीन वर्गों के मुख्य दोष भी बतला दिये गये हैं; परन्तु इतने ही से सब आधिभौतिक पंथ पूरा नहीं हो जाता। उसके आगे का – और सब आधिभौतिक पंथों में श्रेष्ठ पंथ वह है – जिसमें कुछ सात्त्विक तथा आधिभौतिक पण्डितों†

* Sidgwick's *Methods of Ethics*, Book I. Chap. II. § 2, pp. 18–29; also Book IV. Chap. IV. § 3 p. 474. यह तीसरा पंथ कुछ सिज्विक का निकाला हुआ नहीं है; सामान्य सुशिक्षित अंग्रेज लोग प्रायः इसी पन्थ के अनुयायी हैं। इसे Common-sense morality कहते हैं।

† बेन्थेम, मिल आदि पंडित इस पंथ के अगुआ हैं। Greatest good of the greatest number का हमने 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' यह भाषान्तर किया है।

ने यह प्रतिपादन किया है, कि " एक ही मनुष्य के सुख को न देख कर – किन्तु सब मनुष्यजाति के आधिभौतिक सुख-दुःख के तारतम्य को देख कर ही – नैतिक कार्य-अकार्य का निर्णय करना चाहिये । " एक ही कृत्य से, एक ही समय में, समाज के या संसार के सब लोगों को सुख होना असम्भव है। कोई एक बात किसी को सुखकारक मालूम होती है, तो वही दूसरे को दुःखदायक हो जाती है। परन्तु जैसे घुघ्घू को प्रकाश नापसन्द होने के कारण कोई प्रकाश ही को त्याज्य नहीं कहता; उसी तरह यदि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय को कोई बात लाभदायक मालूम न हो, तो कर्मयोगशास्त्र में भी यह नहीं कहा जा सकता, कि वह सभी लोगों को हितावह नहीं है। और, इसी लिये ' सब लोगों का सुख ' इन शब्दों का अर्थ भी ' अधिकांश लोगों का अधिक सुख ' कहना पड़ता है। इस पंथ के मत का सारांश यह है, कि " जिससे अधिकांश लोगों का अधिक सुख हो, उसी बात को नीति की दृष्टि से उचित और ग्राह्य मानना चाहिये; और उसी प्रकार का आचरण करना इस संसार में मनुष्य का सच्चा कर्तव्य है। " आधिभौतिक सुखवादियों का उक्त तत्त्व आध्यात्मिक पंथ को मंजूर है। यदि यह कहा जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं, कि आध्यात्मिक-वादियों ने ही इस तत्त्व को अत्यन्त प्राचीन काल में ढूँढ निकाला था। और भेद इतना ही है, कि अब आधिभौतिकवादियों ने उसका एक विशिष्ट रीति से उपयोग किया है। तुकाराम महाराज ने कहा है, कि ' संतजनों की विभूतियाँ केवल जगत् के कल्याण के लिये हैं – वे लोग परोपकार करने में अपने शरीर को कष्ट दिया करते हैं। ' अर्थात् इस तत्त्व की सचाई और योग्यता के विषय में कुछ भी संदेश नहीं है। स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में ही, पूर्णयोगयुक्त अर्थात् कर्मयोगयुक्त ज्ञानी पुरुषों के लक्षणों का वर्णन करते हुए, यह बात दो बार स्पष्ट कही गई है, कि वे लोग ' सर्वभूतहिते रताः ' अर्थात् सब प्राणियों का कल्याण करने ही में निमग्न रहा करते हैं (गी. ५. २४; १२. ४)। इस बात का पता दूसरे प्रकरण में दिये हुए महाभारत के ' यद्भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा ' वचन से स्पष्टतया चलता है, कि धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये हमारे शास्त्रकार इस तत्त्व को हमेशा ध्यान में रखते थे; परन्तु हमारे शास्त्रकारों के कथनानुसार ' सर्वभूतहित ' को ज्ञानी पुरुषों के आचरण का बाह्य लक्षण समझ कर धर्म-अधर्म का निर्णय करने के किसी विशेष प्रसंग पर स्थूलमान से उस तत्त्व का उपयोग करना एक बात है; और उसी को नीतिमत्ता का सर्वस्व मान कर – दूसरी किसी बात पर विचार न करके – केवल इसी नींव पर नीतिशास्त्र का भव्य भवन निर्माण करना दूसरी बात है। इन दोनों में बहुत भिन्नता है। आधिभौतिक पंडित दुसरे मार्ग को स्वीकार करके प्रतिपादन करते हैं, कि नीतिशास्त्र का अध्यात्मविद्या से कुछ भी संबंध नहीं है। इसलिये अब यह देखना चाहिये, कि उनका कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है। 'सुख' और 'हित' दोनों शब्दों के अर्थ

में बहुत भेद है। परन्तु यदि इस भेद पर भी ध्यान न दें, और ‘ सर्वभूत ’ का अर्थ ‘ अधिकांश लोगों का अधिक सुख ’ मान लें, और कार्य-अकार्य-निर्णय के काम में केवल इसी तत्त्व का उपयोग करें; तो यह साफ़ दीख पड़ेगा, कि बड़ी बड़ी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। मान लीजिये, कि इस तत्त्व का कोई आधिभौतिक पंडित अर्जुन को उपदेश देने लगता, तो वह अर्जुन से क्या कहता? यही न, कि यदि युद्ध में जय मिलने पर अधिकांश लोगों का अधिक सुख होना संभव है, तो भीष्म पितामह को भी मार कर युद्ध करना तेरा कर्तव्य है। दीखने को तो यह उपदेश बहुत सीधा और सहज दीख पड़ता है; परन्तु कुछ विचार करने पर इसकी अपूर्णता और अड़चन समझ में आ जाती है। पहले यही सोचिये, कि अधिक यानी कितना? पांडवों की सात अक्षौहिणियाँ थीं और कौरवों की ग्यारह। इसलिये यदि पांडवों की हार हुई होती, तो कौरवों को सुख हुआ होता। क्या, उसी युक्ति-वाद से पांडवों का पक्ष अन्याय्य कहा जा है? भारतीय युद्ध ही की बात कौन कहे; और भी अनेक अवसर ऐसे हैं, कि जहाँ नीति का निर्णय केवल संख्या से कर बैठना बड़ी भारी भूल है। व्यवहार में सब लोग यही समझते हैं, कि लाखों दुर्जनों को सुख होने की अपेक्षा एक ही सज्जन को जिससे सुख हो, वही सच्चा सत्कार्य है। इस समझ को सच बतलाने के लिये एक ही सज्जन के सुख को लाख दुर्जनों के सुख की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् मानना पड़ेगा; और ऐसा करने पर ‘ अधिकांश लोगों का अधिक बाह्य सुख ’ वाला (जो कि नीतिमत्ता की परीक्षा का एकमात्र साधन माना गया है) सिद्धान्त उतना ही शिथिल हो जायगा। इसलिये कहना पड़ता है, कि लोक-संख्या की न्यूनाधिकता का नीतिमत्ता के साथ कोई नित्य-संबंध नहीं हो सकता। यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है, कि कभी कभी जो बात साधारण लोगों को सुखदायक मालूम होती है, वही बात किसी दूरदर्शी पुरुष को परिणाम में सब के लिये हानिप्रद दीख पड़ती है। उदाहरणार्थ, साक्रेटीज और ईसामसीह को ही लीजिये। दोनों अपने अपने मत को परिणाम में कल्याणकारक समझ कर ही अपने देशबंधुओं को उसका उपदेश करते थे; परन्तु इनके देशबंधुओं ने इन्हें ‘ समाज के शत्रु ’ समझ कर मौत की सज़ा दी। इस विषय में ‘ अधिकांश लोगों का अधिक सुख ’ इसी तत्त्व के अनुसार उस समय लोगों ने और उनके नेताओं ने मिल कर आचरण किया था; परन्तु अब इस समय हम यह नहीं कह सकते, कि उन लोगों का बर्ताव न्याययुक्त था। सारांश, यदि ‘ अधिकांश लोगों के अधिक सुख ’ को ही क्षण भर के लिये नीति का मूलतत्त्व मान लें, तो भी उससे ये प्रश्न हल नहीं हो सकते, कि लाखों-करोड़ों मनुष्यों का सुख किसमें है। उसका निर्णय कौन और कैसे करे? साधारण अवसरों पर निर्णय करने का यह काम उन्हीं लोगों को सौंप दिया जा सकता है, कि जिनके बारे में सुख-दुःख का प्रश्न उपस्थित हो। परन्तु साधारण

अवसर में इतना प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। और जब विशेष कठिनाई का कोई समय आता है, तब साधारण मनुष्यों में यह जानने की दोषरहित शक्ति नहीं रहती, कि हमारा सुख किस बात में है। ऐसी अवस्था में यदि इन साधारण और अधिकारी लोगों के हाथ नीति का यह अकेला तत्त्व 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' लग जाय, तो वही भयानक परिणाम होगा; जो सैतान के हाथ में मशाल देने से होता है। यह बात उक्त दोनों उदाहरणों (साक्रेटीज और क्राइस्ट) से भली भाँति प्रकट हो जाती है। इस उत्तर में कुछ जान नहीं, कि 'नीतिधर्म का हमारा तत्त्व शुद्ध और सच्चा है; मूर्ख लोगों ने उसका दुरुपयोग किया तो हम क्या कर सकते हैं!' कारण यह है, कि यद्यपि तत्त्व शुद्ध और सच्चा हो, तथापि उसका उपयोग करने के अधिकारी कौन हैं, वे उनका उपयोग कब और कैसे करते हैं, इत्यादि बातों की मर्यादा भी, उसी तत्त्व के साथ देनी चाहिये। नहीं तो सम्भव है, कि हम अपने को साक्रेटीज के सदृश नीति-निर्णय करने में समर्थ मान कर अर्थ का अनर्थ कर बैठें।

केवल संख्या की दृष्टि से नीति का उचित निर्णय नहीं हो सकता; और इस बात का निश्चय करने के लिये कोई भी बाहरी साधन नहीं है, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किस में है। इन दो आक्षेपों के सिवा इस पन्थ पर और भी बड़े बड़े आक्षेप किये जा सकते हैं। जैसे, विचार करने पर यह अपने आप ही मालूम हो जायगा, कि किसी काम के केवल बाहरी परिणाम से ही उसको न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना बहुधा असम्भव हो जाता है। हम लोग किसी घड़ी को उसके ठीक ठीक समय बतलाने न बतलाने पर, अच्छी या खराब कहा करते हैं। परन्तु इसी नीति का उपयोग मनुष्य के कार्यों के सम्बध में करने के पहले हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये, कि मनुष्य, घड़ी के समान कोई यंत्र नहीं हैं। यह बात सच है, कि सब सत्पुरुष जगत् के कल्याणार्थ प्रयत्न किया करते हैं। परन्तु इससे यह उलटा अनुमान निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता, कि जो कोई लोक-कल्याण के लिये प्रयत्न करता है, वह प्रत्येक साधु ही है। यह भी देखना चाहिये, कि मनुष्य का अंतःकरण कैसा है। यंत्र और मनुष्य में यदि कुछ भेद है तो यही, कि एक हृदयहीन है, और दूसरा हृदययुक्त है; और इसी लिये अज्ञान से या भूल से किये गये अपराध को क़ायदे में क्षम्य मानते हैं। तात्पर्य, कोई काम अच्छा है या बुरा, धर्म है या अधर्म, नीति का है अथवा अनीति का, इत्यादि बातों का सच्चा निर्णय उस काम के केवल बाहरी फल या परिणाम – अर्थात् वह अधिकांश लोगों को अधिक सुख देगा, कि नहीं इतने ही – से नहीं किया जा सकता। उसीके साथ साथ यह भी जानना चाहिये, कि उस काम को करनेवाले की बुद्धि, वासना या हेतु कैसा है। एक समय की बात है, कि अमेरिका के एक बड़े शहर में सब लोगों के सुख और उपयोग के लिये ट्रामवे की बहुत आवश्यकता थी। परन्तु सरकारी

अधिकारियों की आज्ञा पाये बिना ट्रामवे नहीं बनाई जा सकती थी। सरकारी मंजूरी मिलने में बहुत देरी हुई। तब ट्रामवे के व्यवस्थापक ने अधिकारियों को रिश्वत दे कर जल्द ही मंजूरी ले ली। ट्रामवे बन गई और उससे शहर के सब लोगों को सुभीता और फायदा हुआ। कुछ दिनों के बाद रिश्वत की बात प्रकट हो गई; और उस व्यवस्थापक पर फौज़दारी मुकदमा चलाया गया। पहली ज्यूरी (पंचायत) का एकमत नहीं हुआ; इसलिये दूसरी ज्यूरी चुनी गई। दूसरी ज्यूरी ने व्यवस्थापक को दोषी ठहराया। अतएव उसे सज़ा दी गई। इस उदाहरण में 'अधिक लोगों के अधिक सुख'-वाले नीतितत्त्व से काम चलने का नहीं। क्योंकि, यद्यपि 'घूस देने से ट्रामवे बन गई' यह बाहरी परिणाम अधिक लोगों को अधिक सुखदायक था; तथापि इतने ही से घूस देना न्याय्य हो नहीं सकता।* दान करने को अपना धर्म (दातव्य) समझ कर निष्काम-बुद्धि से दान करना, और कीर्ति के लिये तथा अन्य फल की आशा से दान करना, इन दो कृत्यों का बाहरी परिणाम यद्यपि एक-सा हो, तथापि श्रीमद्भगवद्गीता में पहले दान को सात्त्विक और दूसरे को राजस कहा है (गी. १७. २०. २१)। और यह भी कहा गया है, कि यदि वही दान कुपात्रों को दिया जाय, तो वह तामस अथवा गर्ह्य है। यदि किसी गरीब ने एक-आध धर्म-कार्य के लिये चार पैसे दिये और किसी अमीर ने उसी के लिये सौ रुपये दिये, तो लोगों में दोनों की नैतिक योग्यता एक ही समझी जाती है। परन्तु यदि केवल 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' किसमें है, इसी बाहरी साधनद्वारा विचार किया जाय, तो ये दोनों दान नैतिक दृष्टि से समान योग्यता के नहीं कहे जा सकते। 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' इस आधिभौतिक नीति-तत्त्व में जो बहुत बड़ा दोष है, वह यही है, कि इसमें कर्ता के मन के हेतु या भाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। और यदि अन्तःस्थ हेतु पर ध्यान दें, तो इस प्रतिज्ञा से विरोध खड़ा हो जाता है, कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख ही नीतिमत्ता की एकमात्र कसौटी है। क़ायदा-क़ानून बनानेवाली सभा अनेक व्यक्तियों के समूह से बनी होती है। इसलिये उक्त मत के अनुसार इस सभा के बनाये हुए कायदों या नियमों की योग्यता-अयोग्यता पर विचार करते समय यह जानने की कुछ आवश्यकता ही नहीं, कि सभासदों के अंतःकरणों में कैसा भाव था – हम लोगों को अपना निर्णय केवल इस बाहरी विचार के आधार पर कर लेना चाहिये, कि इनके कायदों से अधिकों को अधिक सुख हो सकेगा या नहीं। परन्तु, उक्त उदाहरण से यह साफ़ साफ़ ध्यान में आ सकता है, कि सभी स्थानों में यह न्याय उपयुक्त हो नहीं सकता। हमारा यह कहना नहीं है, कि 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख या हित'-वाला

* यह उदाहरण डॉक्टर पॉल केरस की *The Ethical Problem* pp. 58, 59 2nd Ed.) नामक पुस्तक से लिया गया है।

तत्त्व बिलकुल ही निरुपयोगी है। केवल बाह्य परिणामों का विचार करने के लिये उससे बढ़ कर दूसरा तत्त्व कहीं नहीं मिलेगा। परन्तु हमारा यह कथन है, कि जब नीति की दृष्टि से किसी बात को न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना हो, तब केवल बाह्य परिणामों को देखने से काम नहीं चल सकता। उसके लिये और भी कई बातों पर विचार करना पड़ता है। अतएव नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये पूर्णतया इसी तत्त्व पर अवलम्बित नहीं रह सकते। इसलिये इससे भी अधिक निश्चित और निर्दोष तत्त्व को खोज निकालना आवश्यक है। गीता में जो यह कहा गया है, कि 'कर्म की अपेक्षा से बुद्धि श्रेष्ठ है' (गी. २. ४९) उसका भी यही अभिप्राय है। यदि केवल बाह्य कर्मों पर ध्यान दें, तो वे बहुधा भ्रामक होते हैं। 'स्नान-संध्या, तिलक-माला' इत्यादि बाह्य कर्मों के होते हुए भी 'पेट में क्रोधाग्नि' का भड़कते रहना असम्भव नहीं है; परन्तु यदि हृदय का भाव शुद्ध हो, तो बाह्य कर्मों का कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। सुदामा के 'मुट्ठी भर चावल' सरीखे अत्यन्त अल्प बाह्य कर्म की धार्मिक और नैतिक योग्यता, अधिकांश लोगों को अधिक सुख देनेवाले हजारों मन अनाज के बराबर ही समझी जाती है। इसी लिये प्रसिद्ध जर्मन तत्त्वज्ञानी कान्ट* ने कर्म के बाह्य और दृश्य परिणामों के तारतम्य-विचार को गौण माना है। एवं नीतिशास्त्र के अपने विवेचन का प्रारम्भ कर्ता की शुद्ध बुद्धि (शुद्ध भाव) ही से किया है। यह नहीं समझना चाहिये, कि आधिभौतिक सुखवाद की यह न्यूनता बड़े बड़े आधिभौतिकवादियों के ध्यान में नहीं आई। ह्यूम† ने स्पष्ट लिखा है – जब कि मनुष्य का कर्म (काम या कार्य) ही उसके शील का द्योतक है; और इसी लिये जब लोगों में वही नीतिमत्ता का दर्शक भी माना जाता है; तब केवल बाह्य परिणामों ही से उस कर्म को प्रशंसनीय या गर्हणीय मान लेना असम्भव है। यह बात मिल साहब को भी मान्य है, कि "किसी कर्म की नीतिमत्ता कर्ता के हेतुपर अर्थात् वह उसे जिस बुद्धि या भाव से करता है, उस पर पूर्णतया अवलंबित रहती है।" परन्तु अपने पक्षमण्डन के लिये मिल साहब ने यह युक्ति भिड़ाई है, कि "जब तक बाह्य कर्मों में कोई भेद नहीं होता, तब तक कर्म की नीतिमत्ता

---

* Kant's *Theory of Ethics*, (trans. by Abbott) 6th Ed. p. 6.

† "For as actions are objects of our moral sentiment, so far only as they are indications of the internal character, passions and affections, it is impossible that they can give rise either to praise or blame, where they proceed not from these principles, but are derived altogether from external objects." – Hume's *Inquiry concerning Human Understanding*, *Section* VIII, Part II (p. 368 of Hume's *Essays* – The World Library Edition).

में कुछ फ़र्क नहीं हो सकता। चाहे कर्ता के मन में उस काम को करने की वासना किसी भी भाव से हुई हो "।* मिल की इस युक्ति में सांप्रदायिक आग्रह दीख पड़ता है; क्योंकि बुद्धि या भाव में भिन्नता होने के कारण यद्यपि दो कर्म दीखने में एक ही से हों, तो भी वे तत्त्वतः एक ही योग्यता के कभी नहीं हो सकते। और इसी लिये मिल साहब की कही हुई 'जब तक (बाह्य) कर्मों में भेद नहीं होता, इत्यादि' मर्यादा को ग्रीन साहब‡ निर्मल बतलाते हैं। गीता का भी यह अभिप्राय है। इसका कारण गीता में यह बतलाया गया है, कि यदि एक ही धर्म-कार्य के लिये दो मनुष्य बराबर धनप्रदान करें, तो भी – अर्थात् दोनों के बाह्य कर्म एकसमान होने पर भी – दोनों की बुद्धि या भाव की भिन्नता के कारण एक दान सात्त्विक और दूसरा राजस या तामस भी हो सकता है। इस विषय पर अधिक विचार पूर्वी और पश्चिमी मतों की तुलना करते समय करेंगे। अभी केवल इतना ही देखना है, कि कर्म के केवल बाहरी परिणाम पर ही अवलंबित रहने के कारण, आधिभौतिक सुखवाद की श्रेष्ठ श्रेणी भी, नीति-निर्णय के काम में कैसी अपूर्ण सिद्ध हो जाती है; और इसे सिद्ध करने के लिये हमारी समझ में मिल साहब की युक्ति काफ़ी है।

'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' – वाले आधिभौतिक पन्थ में सब से भारी दोष यह है, कि उसमें कर्ता की बुद्धि या भाव का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। मिल साहब के लेख ही से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि उस (मिल) की युक्ति को सच मान कर भी इस तत्त्व का उपयोग सब स्थानों पर एकसमान नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह केवल बाह्य फल के अनुसार नीति का निर्णय करता है, अर्थात् उसका उपयोग किसी विशेष मर्यादा के भीतर ही किया जा सकता है; या यों कहिये कि वह एकदेशीय है। इसके सिवा इस मत पर एक और भी आक्षेप किया जा सकता है, कि स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ क्यों और कैसे श्रेष्ठ है? – इस प्रश्न की कुछ भी उपपत्ति न बतला कर ये लोग इस तत्त्व को सच मान लिया करते हैं। फल यह होता है, कि उच्च स्वार्थ की बेरोक वृद्धि होने लगती है। यदि स्वार्थ और परार्थ दोनों बातें मनुष्य के जन्म से ही रहती हैं, अर्थात् स्वाभाविक हैं; तो प्रश्न होता है, कि मैं स्वार्थ की अपेक्षा लोगों के सुख को अधिक महत्त्वपूर्ण क्यों समझूँ? यह उत्तर तो संतोषदायक हो ही नहीं सकता,

---

* "Morality of the action depends entirely upon the intention, that is upon what the agent *will to do*. But the motive, that is the feeling which makes him will so to do, when makes no difference in the act, makes none in the morality." Mill's *Utilitarianism*, p. 27.

‡ Green's *Prolegomena to Ethics*, § 299 note p. 348. 5th Cheaper Edition.

कि तुम अधिकांश लोगों के अधिक सुख को देख कर ऐसा करो। क्योंकि मूल प्रश्न ही यह है, कि मैं अधिकांश लोगों के अधिक सुख के लिये यत्न क्यों करूँ? यह बात सच है, कि अन्य लोगों के हित में अपना भी हित सम्मिलित रहता है। इसलिये यह प्रश्न हमेशा नहीं उठता; परन्तु आधिभौतिक पन्थ के उक्त तीसरे वर्ग की अपेक्षा इस अन्तिम (चौथे) वर्ग में यही विशेषता है, कि इस आधिभौतिक पन्थ के लोग यह मानते हैं, कि जब स्वार्थ और परार्थ में विरोध खड़ा हो जाय, तब उच्च स्वार्थ का त्याग करके परार्थ-साधन ही के लिये यत्न करना चाहिये। इस पन्थ की उक्त विशेषता की कुछ भी उपपत्ति नहीं दी गई है। इस अभाव को ओर एक विद्वान् आधिभौतिक पंडित का ध्यान आकर्षित हुआ। उसने छोटे कीड़ों से लेकर मनुष्य तक सब सजीव प्राणियों के व्यवहारों का खूब निरीक्षण किया; और अन्त में उसने यह सिद्धान्त निकाला, कि जब कि छोटे कीड़ों से लेकर मनुष्यों तक में यही गुण अधिकाधिक बढ़ता और प्रकट होता चला आ रहा है, कि वे स्वयं अपने ही समान अपनी सन्तानों और जातियों की रक्षा करते हैं; और किसी को दुःख न देते हुए अपने बन्धुओं की यथासम्भव सहायता करते हैं; तब हम कह सकते हैं, कि सजीव सृष्टि के आचरण का यही – परस्पर-सहायता का गुण – प्रधान नियम है। सजीव सृष्टि में यह नियम पहले पहल सन्तानोत्पादक और सन्तान के लालन-पालन के बारे में दीख पड़ता है। ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म कीड़ों की सृष्टि को देखने से – कि जिसमें स्त्री-पुरुष का कुछ भेद नहीं है – ज्ञात होगा – कि एक कीड़े की देह बढ़ते बढ़ते फूट जाती है; और उससे दो कीड़े बन जाते हैं। अर्थात् यही कहना पड़ेगा, कि सन्तान के लिये – दूसरे के लिये – यह कीड़ा अपने शरीर को भी त्याग देता है। इसी तरह सजीव सृष्टि में इस कीड़े से ऊपर के दर्जे के स्त्री-पुरुषात्मक प्राणी भी अपनी अपनी सन्तान के पालन-पोषण के लिये स्वार्थ-त्याग करने में आनन्दित हुआ करते हैं। यही गुण बढ़ते बढ़ते मनुष्यजाति के असभ्य और जंगली समाज में भी इस रूप में पाया जाता है, कि लोग न केवल अपनी सन्तानों की रक्षा करने में – किन्तु अपने जाति-भाइयों की सहायता करने में – भी सुख से प्रवृत्त हो जाते हैं। इसलिये मनुष्य को – जो कि सजीव सृष्टि का शिरोमणि है – स्वार्थ के समान परार्थ में भी सुख मानते हुए, सृष्टि के उपर्युक्त नियम की उन्नति करने तथा स्वार्थ और परार्थ के वर्तमान विरोध को समूल नष्ट करने के उद्योग में लगे रहना चाहिये। बस, इसी में उसकी इतिकर्तव्यता है।* यह युक्तिवाद बहुत ठीक है; परन्तु यह तत्त्व कुछ नया नहीं है,

* यह उपपत्ति स्पेन्सर के *Data of Ethics* नामक ग्रन्थ में दी हुई है। स्पेन्सर ने मिल को एक पत्र लिख कर स्पष्ट कह दिया था, कि मेरे और आपके मत में क्या भेद है। उस पत्र के अवतरण उक्त ग्रन्थ में दिये गये हैं। pp. 57, 123. Also see Bain's *Mental and Moral* Science, pp. 721, 722 (Ed. 1875).

कि परोपकार करने का सद्गुण मूक सृष्टि में भी पाया जाता है। इसलिये उसे परमावधि तक पहुँचाने के प्रयत्न में ज्ञानी मनुष्यों को सदैव लगे रहना चाहिये। इस तत्त्व में विशेषता सिर्फ़ यही है, कि आजकल आधिभौतिक शास्त्रों के ज्ञान की बहुत वृद्धि होने के कारण इस तत्त्व की आधिभौतिक उपपत्ति उत्तम रीति से बतलाई गई है। यद्यपि हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि आध्यात्मिक है, तथापि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कहा है कि :–

अष्टादशपुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

" परोपकार करना पुण्यकर्म है और दूसरों को पीड़ा देना पापकर्म है। वह यही अठारह पुराणों का सार है।" भर्तृहरि ने भी कहा है, कि " स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एकः सतां अग्रणिः " – परार्थ ही को जिस मनुष्य ने अपना स्वार्थ बना लिया है, वही सब सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है। अच्छा, अब यदि छोटे कीड़ों से मनुष्य तक की सृष्टि की उत्तरोत्तर क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियों को देखें, तो एक और भी प्रश्न उठता है। वह यह है – क्या, मनुष्यों में केवल परोपकारबुद्धि ही का उत्कर्ष हुआ है, या इसी के साथ उनमें स्वार्थ-बुद्धि, दया, उदारता, दूरदृष्टि, तर्क, शूरता, धृति, क्षमा, इंद्रियनिग्रह इत्यादि अनेक अन्य सात्त्विक सद्गुणों की भी वृद्धि हुई है? जब इस पर विचार किया जाता है, तब कहना पड़ता है, कि अन्य सब सजीव प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में सभी सद्गुणों का उत्कर्ष हुआ है। इन सब सात्त्विक गुणों के समूह को 'मनुष्यत्व' नाम दीजिये। अब यह बात सिद्ध हो चुकी, कि परोपकार की अपेक्षा मनुष्यत्व को हम श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसी अवस्था में किसी कर्म की योग्यता-अयोग्यता या नीतिमत्ता का निर्णय करने के लिये उस कर्म की परीक्षा केवल परोपकार ही की दृष्टि से नहीं की जा सकती – अब उस काम की परीक्षा मनुष्यत्व की दृष्टिसे ही – अर्थात् मनुष्यजाति में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जिन जिन गुणों का उत्कर्ष हुआ है, उन सब को ध्यान में रख कर ही – की जानी चाहिये। अकेले परोपकार को ध्यान में रख कर कुछ-न-कुछ निर्णय कर लेने के बदले अब तो यही मानना पड़ेगा, कि जो कर्म सब मनुष्यों के 'मनुष्यत्व' या 'मनुष्यपन' को शोभा दें, या जिस कर्म से मनुष्यत्व की वृद्धि हो, वही सत्कर्म और वही नीति-धर्म है। यदि एक बार इस व्यापक दृष्टि को स्वीकार कर लिया जाय, तो 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' उक्त दृष्टि का एक अत्यन्त छोटा भाग हो जायगा – इस मत में कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं रह जायगा, कि सब कर्मों के धर्म-अधर्म या नीतिमत्ता का विचार केवल 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' तत्त्व के अनुसार किया जाना चाहिये – और तब तो धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये मनुष्यत्व ही का विचार करना अवश्य होगा। और जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगेंगे, कि 'मनुष्यपन' या 'मनुष्यत्व' का यथार्थ स्वरूप क्या

है, तब हमारे मन में याज्ञवल्क्य के अनुसार ' आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ' यह विषय आप-ही-आप उपस्थित हो जायगा। नीतिशास्त्र का विवेचन करनेवाले एक अमेरिकन ग्रंथकार ने इस समुच्चयात्मक मनुष्य के धर्म को ही 'आत्मा' कहा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह मालूम हो जायगा, कि केवल स्वार्थ या अपनी ही विषय-सुख की कनिष्ठ श्रेणी से बढ़ते बढ़ते आधिभौतिक सुखवादियों को भी परोपकार की श्रेणी तक और अन्त में मनुष्यत्व की श्रेणी तक कैसे आना पड़ता है। परन्तु मनुष्यत्व के विषय में भी आधिभौतिकवादियों के मन में प्रायः सब लोगों के बाह्य विषय-सुख ही की कल्पना प्रधान होती है। अतएव आधिभौतिक-वादियों की यह अंतिम श्रेणी भी – जिसमें अन्तःसुख और अन्तःशुद्धि का कुछ विचार नहीं किया जाता – हमारे अध्यात्मवादी शास्त्रकारों के मतानुसार निर्दोष नहीं है। यद्यपि इस बात को साधारणतया मान भी ले, कि मनुष्य का सब प्रयत्न सुख-प्राप्ति, तथा दुःख-निवारण के ही लिये हुआ करता है; तथापि जब तक पहले इस बात का निर्णय न हो जाय, कि सुख किसमें है – आधिभौतिक अर्थात् सांसारिक विषयभोग ही में है, अथवा और किस में है – तब तक कोई भी आधि-भौतिक पक्ष ग्राह्य नहीं समझा जा सकता। इस बात को आधिभौतिकसुखवादी भी मानते हैं, कि शारीरिक सुख से मानसिक सुख की योग्यता अधिक है। पशु को जितने सुख मिल सकते हैं, वे सब किसी मनुष्य को दे कर उससे पूछो कि ' क्या, तुम पशु होना चाहते हो ? ' तो वह कभी इस बात के लिये राजी न होगा। इसी तरह, ज्ञानी पुरुषों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि तत्त्वज्ञान के गहन विचारों से बुद्धि में जो एक प्रकार की शान्ति उत्पन्न होती है, उसकी योग्यता सांसारिक सम्पत्ति और बाह्योपयोग से हजार गुनी बढ़ कर है। अच्छा, यदि लोक-मत को देखें, तो भी यही ज्ञात होगा, कि नीति का निर्णय करना केवल संख्या पर अव-लम्बित नहीं है। लोग जो कुछ किया करते हैं, वह सब केवल आधिभौतिक सुख के ही लिये नहीं किया करते – वे आधिभौतिक सुख ही को अपना परम उद्देश नहीं मानते। बल्कि हम लोग यही कहा करते हैं, कि बाह्यसुखों की कौन कहे, विशेष प्रसंग आने पर अपनी जान की भी परवाह नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे समय में आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार जिन सत्य आदि नीति-धर्मों की योग्यता अपनी जान से भी अधिक है, उनका पालन करने के लिये मनोनिग्रह करने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। यही हाल अर्जुन का था। उसका भी प्रश्न यह नहीं था, कि लड़ाई करने पर किस को कितना सुख होगा। उसका श्रीकृष्ण से यही प्रश्न था, कि ' मेरा, अर्थात् मेरे आत्मा का श्रेय किसमें है सो मुझे बतलाइये ' (गी. २. ७; ३. २)। आत्मा का यह नित्य का श्रेय और सुख आत्मा की शान्ति में है। इसी लिये बृहदा-रण्यकोपनिषद् (२. ४. २) में कहा गया है, कि 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन ' अर्थात् सांसारिक सुख संपत्ति के यथेष्ट मिल जाने पर भी आत्मसुख और शान्ति

नहीं मिल सकती। इसी तरह कठोपनिषद् में लिखा है, कि जब मृत्यु ने नचिकेता को पुत्र, पौत्र, पशु, धान्य, द्रव्य इत्यादि अनेक प्रकार की सांसारिक सम्पत्ति देना चाही, तो उसने साफ़ जवाब दिया, कि 'मुझे आत्मविद्या चाहिये, सम्पत्ति नहीं।' और 'प्रेय' अर्थात् इन्द्रियों को प्रिय लगनेवाले सांसारिक सुख में तथा 'श्रेय' अर्थात् आत्मा के सच्चे कारण में भेद दिखलाते हुए (कठ. १. ३. २ में) कहा है कि :–

> श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
> श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

"जब प्रेय (तात्कालिक बाह्य इंद्रियसुख) और श्रेय (सच्चा चिरकालिक कल्याण) ये दोनों मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं, तब बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनों में से किसी एक को चुन लेता है। जो मनुष्य यथार्थ में बुद्धिमान् होता है, वह प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिक पसन्द करता है; परन्तु जिसकी बुद्धि मन्द होती है, उसको आत्मकल्याण की अपेक्षा प्रेय अर्थात् बाह्य सुख ही अधिक अच्छा लगता है।" इस लिये यह मान लेना उचित नहीं, कि संसार में इन्द्रिय-गम्य विषय-सुख ही मनुष्य का ऐहिक परम उद्देश है; तथा मनुष्य जो कुछ करता है वह सब केवल बाह्य अर्थात् आधिभौतिक सुख ही के लिये अथवा अपने दुःखों को दूर करने के लिये ही करता है।

इन्द्रियगम्य बाह्यसुखों की अपेक्षा बुद्धिगम्य अन्तःसुख की – अर्थात् आध्यात्मिक सुख की – योग्यता अधिक तो है ही; परन्तु इसके साथ एक बात यह भी है, कि विषय-सुख अनित्य है। वह दशा नीति-धर्म की नहीं है। इस बात को सभी मानते हैं, कि अहिंसा, सत्य आदि धर्म कुछ बाहरी उपाधियों अर्थात् सुखःदुखों-पर अवलम्बित नहीं हैं; किन्तु ये सभी अवसरों के लिये और सब कामों में एक-समान उपयोगी हो सकते हैं। अतएव ये नित्य हैं। बाह्य बातों पर अवलंबित न रहनेवाली, नीति-धर्मों की यह नित्यता उनमें कहाँ से और कैसे आई – अर्थात् इस नित्यता का कारण क्या है? इस प्रश्न का आधिभौतिक-वाद से हल होना असंभव है। कारण यह है, कि यदि बाह्यसृष्टि के सुख-दुःखों के अवलोकन से कुछ सिद्धान्त निकाला जाय, तो सब सुख-दुःखों के स्वभावतः अनित्य होने के कारण, उनके अपूर्ण आधार पर बने हुए नीति-सिद्धान्त भी वैसे ही अनित्य होंगे। और, ऐसी अवस्था में सुख-दुःखों की कुछ भी परवाह न करके सत्य के लिये जान दे देने के सत्य-धर्म की जो त्रिकालाबाधित नित्यता है, वह 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' के तत्त्व से सिद्ध नहीं हो सकेगी। इस पर वह आक्षेप किया जाता है, कि जब सामान्य व्यवहारों में सत्य के लिये प्राण देनेका समय आ जाता है, तो अच्छे लोग भी असत्य पक्ष ग्रहण करने में संकोच नहीं करते; और उस

समय हमारे शास्त्रकार भी ज्यादा सख्ती नहीं करते; तब सत्य आदि धर्मों की नित्यता क्यों माननी चाहिये ? परन्तु यह आक्षेप या दलील ठीक नहीं है; क्योंकि जो लोग सत्य के लिये जान देने का साहस नहीं कर सकते, वे भी अपने मुँह से इस नीति-धर्म की सत्यता को माना ही करते हैं। इसी लिये महाभारत में अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों की सिद्धि करनेवाले सब व्यावहारिक धर्मों का विवेचन करके, अन्त में भारत-सावित्री में (और विदुरनीति में भी) व्यासजी ने सब लोगों को यही उपदेश किया है :–

> न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
> धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

अर्थात् "सुख-दुःख अनित्य हैं; परन्तु (नीति) धर्म नित्य है। इसलिये सुख की इच्छा से, भय से, लोभ से अथवा प्राण-संकट आने पर भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। यह जीव नित्य है; और सुखदुःख आदि विषय अनित्य हैं।" इसी लिये व्यासजी उपदेश करते हैं, कि अनित्य सुखदुःखों का विचार न करके नित्य-जीव का संबंध नित्य-धर्म से ही जोड़ देना चाहिये (म. भा. स्व. ५. ६०; उ. ३६. १२, १३)। यह देखने के लिये, कि व्यासजी का उक्त उपदेश उचित है या नहीं, हमें अब इस बात का विचार करना चाहिये, कि सुख-दुःख का यथार्थ स्वरूप क्या है, और नित्य सुख किसे कहते हैं।

पाँचवाँ प्रकरण

सुखदुःखविवेक

सुखमात्यन्तिकं यत्तत् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। *

– गीता ६. २१

हमारे शास्त्रकारों को यह सिद्धान्त मान्य है, कि प्रत्येक मनुष्य सुख-प्राप्ति के लिये, प्राप्त सुख की वृद्धि के लिये, दुःख को टालने या कम करने के लिये ही सदैव प्रयत्न किया करता है। भृगुजी भरद्वाज से शान्तिपर्व (म. भा. शां. १९०. ९) में कहते हैं, कि 'इह खलु अमुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते। न ह्यतःपरं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति।' – अर्थात् इस लोक तथा परलोक में सारी प्रवृत्ति केवल सुख के लिये है; और धर्म, अर्थ, काम का इसके अतिरिक्त कोई अन्य फल नहीं है। परन्तु शास्त्रकारों का कथन है, कि मनुष्य यह न समझ कर – कि सच्चा सुख किसमें है – मिथ्या सुख ही को सत्य सुख मान बैठता है; और – इस आशा से, कि आज नहीं तो कल अवश्य मिलेगा – वह अपनी आयु के दिन व्यतीत किया करता है। इतने में, एक दिन मृत्यु के झपेटे में पड़ कर वह इस संसार को छोड़ कर चल बसता है। परन्तु उसके उदाहरण से अन्य लोग सावधान होने के बदले उसी का अनुकरण करते हैं। इस प्रकार यह भव-चक्र चल रहा है, और कोई मनुष्य सच्चे और नित्य सुख का विचार नहीं करता! इस विषय में पूर्वी और पश्चिमी तत्त्वज्ञानियों में बड़ा ही मतभेद है, कि यह संसार केवल दुःखमय है, या सुखप्रधान अथवा दुःखप्रधान है। परन्तु इन पक्षवालों में से सभी को यह बात मान्य है, कि मनुष्य का कल्याण दुःख का अत्यन्त निवारण करके अत्यन्त सुख-प्राप्ति करने ही में है। 'सुख' शब्द के बदले प्रायः 'हित', 'श्रेय' और 'कारण' शब्दों का अधिक उपयोग हुआ करता है। इनका भेद आगे बतलाया जायगा। यदि यह मान लिया जाय, कि 'सुख' शब्द में ही सब प्रकार के सुख और कल्याण का समावेश हो जाता है, तो सामान्यतः कहा जा सकता है, कि प्रत्येक मनुष्य का प्रयत्न केवल सुख के लिये हुआ करता है। परन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर सुख-दुःख का जो लक्षण महाभारतान्तर्गत पराशरगीता (म. भा. शां. २९५. २७) में दिया गया है, कि 'यदिष्टं तत्सुखं प्राहुः द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते' – जो कुछ हमें इष्ट है, वही सुख है; और जिसका हम द्वेष करते हैं, अर्थात् जो हमें नहीं चाहिये, वही

* "जो केवल बुद्धि से ग्राह्य हो और इन्द्रियों से परे हो, उसे आत्यन्तिक सुख कहते हैं।"

दुःख है – उसे शास्त्र की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष नहीं कह सकते। क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार 'इष्ट' शब्द का अर्थ इष्ट वस्तु या पदार्थ भी हो सकता है; और इस अर्थ को मानने से इष्ट पदार्थ को भी सुख कहना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, प्यास लगने पर पानी इष्ट होता है; परन्तु इस बाह्य पदार्थ 'पानी' को 'सुख' नहीं कहते। यदि ऐसा होगा, तो नदी के पानी में डूबनेवाले के बारे में कहना पड़ेगा, कि वह सुख में डूबा हुआ है। सच बात यह है, कि पानी पीने से जो इन्द्रियतृप्ति होती है, उसे सुख कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि मनुष्य इस इन्द्रियतृप्ति या सुख को चाहता है; परन्तु इससे यह व्यापक सिद्धान्त नहीं बताया जा सकता, कि जिसकी चाह होती है, वह सब सुख ही है। इसी लिये नैयायिकों ने सुख-दुःख को वेदना कह कर उनकी व्याख्या इस तरह से की है 'अनुकूलवेदनीयं सुखं' – जो वेदना हमारे अनुकूल है, वह सुख है; और 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःख' – जो वेदना हमारे प्रतिकूल है, वह दुःख है। ये वेदनाएँ जन्मसिद्ध अर्थात् मूल ही की और अनुभवगम्य हैं। इसलिये नैयायिकों की उक्त व्याख्या से बढ़ कर सुखःदुःख का अधिक उत्तम लक्षण बतलाया नहीं जा सकता। कोई यह कहें, कि ये वेदनारूप सुख-दुःख केवल मनुष्य के व्यापारों से ही उत्पन्न होते हैं, तो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि, कभी कभी देवताओं के कोप से भी बड़े बड़े रोग और दुःख उत्पन्न हुआ करते हैं, जिन्हें मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। इसी लिये वेदान्त-ग्रन्थों में सामान्यतः इन सुख-दुःखों के तीन भेद – आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक – किये गये हैं। देवताओं की कृपा या कोप से जो सुखदुःख मिलते हैं उन्हें 'आधिदैविक' कहते हैं। बाह्यसृष्टि के – पृथ्वी आदि पंचमहाभूतात्मक, पदार्थों का मनुष्य की इन्द्रियों से संयोग होने पर – शीतोष्ण आदि के कारण जो सुखदुःख हुआ करते हैं, उन्हें 'आधिभौतिक' कहते हैं। और, ऐसे बाह्यसंयोग के बिना ही होनेवाले अन्य सब सुखदुःखों को 'आध्यात्मिक' कहते हैं। यदि सुख-दुःख का यह वर्गीकरण स्वीकार किया जाय, तो शरीर ही के वात-पित्त आदि दोषों का परिणाम बिगड़ जाने से उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि दुःखों को – तथा उन्हीं दोषों का परिणाम यथोचित रहने से अनुभव में आनेवाले शारीरिक स्वास्थ्य को – आध्यात्मिक सुख-दुःख कहना पड़ता है। क्योंकि, यद्यपि ये सुख-दुःख पञ्चभूतात्मक शरीर से सम्बन्ध रखते हैं – अर्थात् ये शारीरिक हैं – तथापि हमेशा यह नहीं कहा जा सकता, कि ये शरीर से बाहर रहनेवाले पदार्थों के संयोग से पैदा हुए हैं। और इसलिये आध्यात्मिक सुख-दुःखों के, वेदान्त की दृष्टि से फिर भी दो भेद – शारीरिक और मानसिक – करने पड़ते हैं। परन्तु इस प्रकार सुख-दुःखों के 'शारीरिक' और 'मानसिक' दो भेद कर दें, तो फिर आधिदैविक सुख-दुःखों को भिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि, यह तो स्पष्ट ही है, कि देवताओं की कृपा

अथवा क्रोध से होनेवाले सुख-दुःखों को भी आखिर मनुष्य अपने ही शरीर या मन के द्वारा भोगता है। अतएव हमने इस ग्रन्थ में वेदान्त-ग्रन्थों की परिभाषा के अनुसार सुख-दुःखों का त्रिविध वर्गीकरण नहीं किया है। किन्तु उनके दो ही वर्ग (बाह्य या शारीरिक और आभ्यन्तर या मानसिक) किये हैं, और इसी वर्गीकरण के अनुसार, हमने इस ग्रन्थ में सब प्रकार के शारीरिक सुख-दुःखों को 'आधिभौतिक' और सब प्रकार के मानसिक सुख-दुःखों को 'आध्यात्मिक' कहा है। वेदान्त-ग्रन्थों में जैसा तीसरा वर्ग 'आधिदैविक' दिया गया है, वैसा हमने नहीं किया है। क्योंकि, हमारे मतानुसार सुख-दुःखों का शास्त्रीय रीति से विवेचन करने के लिये यह द्विविध वर्गीकरण ही अधिक सुभीते का है। सुखदुःख का जो विवेचन नीचे किया गया है, उसे पढ़ते समय यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये, कि वेदान्त-ग्रन्थों के और हमारे वर्गीकरण में भेद है।

सुख-दुःखों को चाहे आप द्विविध मानिये अथवा त्रिविध, इसमें सन्देह नहीं, कि दुःख की चाह किसी मनुष्य को नहीं होती। इसी लिये वेदान्त और सांख्य शास्त्र (सां. का. १; गी. ६. २१, २२) में कहा गया है, कि सब प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करना और आत्यन्तिक तथा नित्य सुख की प्राप्ति करना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। जब यह बात निश्चित हो चुकी, कि मनुष्य का परम साध्य या उद्देश आत्यन्तिक सुख ही है, तब ये प्रश्न मन में सहज ही उत्पन्न होते हैं, कि अत्यन्त सत्य और नित्य सुख किसको कहना चाहिये। उसकी प्राप्ति होना संभव है या नहीं? यदि संभव है तो कब और कैसे? इत्यादि। और जब हम इन प्रश्नों पर विचार करने लगते हैं, तब सब से पहले यही प्रश्न उठता है, कि नैयायिकों के बतलाये हुए लक्षण के अनुसार सुख और दुःख दोनों भिन्न भिन्न स्वतंत्र वेदनाएँ, 'अनुभव या वस्तु हैं', अथवा 'जो उजेला नहीं वह अँधेरा' इस न्याय के अनुसार इन दोनों वेदनाओं में से एक का अभाव होने पर दूसरी संज्ञा का उपयोग किया जाता है। भर्तृहरि ने कहा है, कि 'प्यास से जब मुँह सूख जाता है, तब हम उस दुःख का निवारण करने के लिये पानी पीते हैं। भूख से जब हम व्याकूल हो जाते हैं, तब मिष्टान्न खा कर उस व्यथा को हटाते हैं; और काम-वासना के प्रदीप्त होने पर उसको स्त्रीसंग द्वारा तृप्त करते हैं।' इतना कह कर अन्त में कहा है कि :–

प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः।

'किसी व्याधि अथवा दुःख के होने पर उसका जो निवारण या प्रतिकार किया जाता है, उसी को लोक भ्रमवश 'सुख' कहा करते हैं।' दुःखनिवारण के अतिरिक्त 'सुख' कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह नहीं समझना चाहिये, कि उक्त सिद्धान्त मनुष्यों के सिर्फ़ उन्हीं व्यवहारों के विषय में उपयुक्त होता है, जो

स्वार्थ ही के लिये किये जाते हैं। पिछले प्रकरण में आनन्दगिरि का यह मत बतलाया ही गया है, कि जब हम किसी पर कुछ उपकार करते हैं, तब उसका कारण यही होता है, कि उसके दुःख के देखने से हमारी कारुण्यवृत्ति हमारे लिये असह्य हो जाती है; और इस दुःसहत्व की व्यथा को दूर करने के लिये ही हम परोपकार किया करते हैं। इस पक्ष के स्वीकृत करने पर हमें महाभारत के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि :–

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।

"पहले जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है, तब उसकी पीड़ा से दुःख होता है; और उस दुःख की पीड़ा से फिर सुख उत्पन्न होता है" (शां. २५. २२; १७४. १९)। संक्षेप में इस पंथ का यह कहना है, कि मनुष्य के मन में पहले एक-आध आशा, वासना या तृष्णा उत्पन्न होती है; और जब उससे दुःख होने लगे, तब उस दुःख का जो निवारण किया जावे, वही सुख कहलाता है। सुख कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीं है। अधिक क्या कहें, उस पंथ के लोगों ने यह भी अनुभव निकाला है, कि मनुष्य की सब सांसारिक प्रवृत्तियाँ केवल वासनात्मक और तृष्णात्मक ही हैं। जब तक सब सांसारिक कर्मों का त्याग नहीं किया जायगा, तब तक वासना या तृष्णा की जड़ उखड़ नहीं सकती; और जब तक तृष्णा या वासना की जड़ नष्ट नहीं हो जाती, तब तक सत्य और नित्य सुख का मिलना भी सम्भव नहीं है। बृहदारण्यक (बृ. ४.४.२२; वे.सू. ३. ४.१५) में विकल्प से और जाबाल-संन्यास आदि उपनिषदों में प्रधानता से उसी का प्रतिपादन किया गया है; तथा अष्टावक्र-गीता (९. ८; १०. ३–८) एवं अवधूतगीता (३. ४६) में उसी का अनुवाद है। इस पंथ का अन्तिम सिद्धान्त यही है, कि जिस किसी को आत्यन्तिक सुख या मोक्ष प्राप्त करना है, उसे उचित है, कि वह जितना जल्दी हो सके उतना जल्दी संसार को छोड़ कर संन्यास ले ले। स्मृतिग्रन्थों में जिसका वर्णन किया गया है, और श्रीशंकराचार्य ने कलियुग में जिसकी स्थापना की है, वह श्रौत-स्मार्त कर्म-संन्यास-मार्ग इसी तत्त्व पर चलाया गया है। सच है; यदि सुख कोई स्वतंत्र वस्तु ही नहीं है, जो कुछ है, सो दुःख ही है; और वह भी तृष्णामूलक है, तो इन तृष्णा आदि विचारों को ही पहले समूल नष्ट कर देने पर फिर स्वार्थ और परार्थ की सारी झंझटें आप-ही-आप दूर हो जायगी; और तब मन की जो मूल-साम्यावस्था तथा शान्ति है, वही रह जायगी। इसी अभिप्राय से महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व के पिंगल-गीता में, और मंकिगीता में भी, कहा गया है कि :–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

"सांसारिक काम अर्थात् वासना की तृप्ति होने से जो सुख होता है और जो सुख

स्वर्ग में मिलता है, उन दोनों सुखों की योग्यता तृष्णा के क्षय से होनेवाले सुख के सोलहवे हिस्से के बराबर भी नहीं है" (शां. १७४. ४८; १७७. ४९)। वैदिक संन्यासमार्ग का ही आगे चल कर जैन और बौद्धधर्मों में अनुकरण किया गया है। इसी लिये इन दोनों धर्मों के ग्रन्थों में तृष्णा के दुष्परिणामों का और उसकी त्याज्यता का वर्णन, उपर्युक्त वर्णन ही के समान – और कहीं कहीं तो उससे भी बढ़ा-चढ़ा – किया गया है (उदाहरणार्थ, 'धम्मपद' के 'तृष्णा-वर्ग' को देखिये)। तिब्बत के बौद्ध धर्मग्रंथों में तो यहाँ तक कहा गया है, कि महाभारत का उक्त श्लोक, बुद्धत्व प्राप्त होने पर गौतम बुद्ध के मुख से निकला था।*

तृष्णा के जो दुष्परिणाम ऊपर बतलाये गये हैं, वे श्रीमद्भगवद्गीता को भी मान्य हैं। परन्तु गीता का यह सिद्धान्त है, कि उन्हें दूर करने के लिये कर्म ही का त्याग नहीं कर बैठना चाहिये। अतएव यहाँ सुख-दुःख की उक्त उपपत्ति पर कुछ सूक्ष्म विचार करना आवश्यक है। संन्यासमार्ग के लोगों का यह कथन सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णा आदि दुःखों के निवारण होने पर ही उत्पन्न होता है। एक बार अनुभव की हुई (देखी हुई, सुनी हुई इत्यादि) वस्तु कि जब फिर चाह होती है तब उसे काम, वासना या इच्छा कहते हैं। जब इच्छित वस्तु जल्दी नहीं मिलती, तब दुःख होता है; और जब वह इच्छा तीव्र होने लगती है, अथवा जब इच्छित वस्तु के मिलने पर भी पूरा सुख नहीं मिलता; और उसकी चाह अधिकाधिक बढ़ने लगती है, तब उसी इच्छा को तृष्णा कहते हैं; परन्तु इस प्रकार केवल इच्छा के तृष्णा-स्वरूप में बदल जाने के पहले ही, यदि वह इच्छा पूर्ण हो जाय, तो उससे होनेवाले सुख के बारे में हम यह नहीं कह सकेंगे, कि वह तृष्णा-दुःख के क्षय होने से उत्पन्न हुआ है। उदाहरणार्थ, प्रतिदिन नियत समय पर जो भोजन मिलता है, उसके बारे में अनुभव यह नहीं है, कि भोजन करने के पहले हमें दुःख ही होता हो। जब नियत समय पर भोजन नहीं मिलता तभी हमारा जी भूख से व्याकुल हो जाया करता है – अन्यथा नहीं। अच्छा, यदि हम मान लें, कि तृष्णा और इच्छा एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं; तो भी यह सिद्धान्त सच नहीं माना जा सकता, कि सब सुख तृष्णामूलक ही हैं। उदाहरण के लिये, एक छोटे बच्चे के मुँह में अचानक एक मिश्री की डली डाल दो। तो क्या यह कहा जा सकेगा, कि उस बच्चे को मिश्री खाने से जो सुख हुआ वह पूर्व-तृष्णा के क्षय से हुआ है? नहीं। इसी तरह मान लो, कि राह चलते चलते हम किसी रमणीय बाग में जा पहुँचे; और वहाँ किसी पक्षी का मधुर गान एकाएक सुन

---

* Rockhill's *Life of Buddha*, p. 33. यह श्लोक 'उदान' नामक पाली ग्रन्थ (२. २) में है। परन्तु उसमें ऐसा वर्णन नहीं है कि यह श्लोक बुद्ध के मुख से, उसे 'बुद्धत्व' प्राप्त होने के समय निकला था। इससे यह साफ़ मालूम हो जाता है, कि यह श्लोक पहले पहल बुद्ध के मुख से नहीं निकला था।

पड़ा। अथवा किसी मन्दिर में भगवान् की मनोहर छबि दीख पड़ी; तब ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता, कि उस गान के सुनने से, या उस छबि के दर्शन से होनेवाले सुख की हम पहले ही से इच्छा किये बैठे थे। सच बात तो यही है, कि सुख की इच्छा किये बिना ही उस समय हमें सुख मिला। इन उदाहरणों पर ध्यान देने से यह अवश्य ही मानना पड़ेगा, कि संन्यास-मार्गवालों की सुख की उक्त व्याख्या ठीक नहीं है; और यह भी मानना पड़ेगा, कि इन्द्रियों में भली-बुरी वस्तुओं का उपयोग करने की स्वाभाविक शक्ति होने के कारण जब वे अपना व्यापार करती रहती हैं; और जब कभी उन्हें अनुकूल या प्रतिकूल विषय की प्राप्ति हो जाती है, तब पहले तृष्णा या इच्छा के न रहने पर भी हमें सुख-दुःख का अनुभव हुआ करता है। इसी बात पर ध्यान रख कर गीता (२. १४) में कहा गया है, कि 'मात्रास्पर्श' से शीत, उष्ण आदि का अनुभव होने पर सुख-दुःख हुआ करता है। सृष्टि के बाह्य-पथार्थों को 'मात्रा' कहते हैं। गीता के उक्त पदों का अर्थ यह है, कि जब उन बाह्य-पदार्थों का इन्द्रियों से स्पर्श अर्थात् संयोग होता है, तब सुख या दुःख की वेदना उत्पन्न होती है। यही कर्मयोगशास्त्र का भी सिद्धान्त है। कान को कड़ी आवाज़ ·अप्रिय क्यों मालूम होती है? जिह्वा को मधुर रस प्रिय क्यों लगता है? आँखों को पूर्ण चन्द्र का प्रकाश आल्हादकारक क्यों प्रतीत होता है? इत्यादि बातों का कारण कोई भी नहीं बतला सकता। हम लोग केवल इतना ही जानते हैं, कि जीभ को मधुर रस मिलने से वह सन्तुष्ट हो जाती है। इससे प्रकट होता है, कि आधिभौतिक सुख का स्वरूप केवल इन्द्रियों के अधीन है; और इसलिये कभी कभी इन इन्द्रियों के व्यापारों को जारी रखने में ही सुख मालूम होता है – चाहे इसका परिणाम भविष्य में कुछ भी हो। उदाहरणार्थ, कभी कभी ऐसा होता है, कि मन में कुछ विचार आने से उस विचार के सूचक शब्द आप-ही-आप मुँह से बाहर निकल पड़ते हैं। ये शब्द कुछ इस इरादे से बाहर नहीं निकाले जाते, कि इनको कोई जान लें; बल्कि कभी कभी तो इन स्वाभाविक व्यापारों से हमारे मन की गुप्त बात भी प्रकट हो जाया करती है, जिससे हमको उल्टा नुकसान हो सकता है। छोटे बच्चे जब चलना सीखते हैं, तब वे दिनभर यहाँ-वहाँ यों ही चलते-फिरते रहते हैं। इसका कारण यह है, कि उन्हें चलते रहने की क्रिया में ही उस समय आनन्द मालूम होता है। इसलिये सब सुखों को दुःखाभावरूप ही न कह कर यही कहा गया है, कि " इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ " (गी. ३. ३४) अर्थात् इन्द्रियों में और उसके शब्द-स्पर्श आदि विषयों में जो राग (प्रेम) और द्वेष हैं, वे दोनों पहले ही से 'व्यवस्थित' अर्थात् स्वतन्त्र-सिद्ध हैं। और अब हमें यही जानना है, कि इन्द्रियों के ये व्यापार आत्मा के लिये कल्याणदायक कैसे होंगे या कर लिये जा सकेंगे। इसके लिये श्रीकृष्ण भगवान् का यही उपदेश है, कि इन्द्रियों और मन की वृत्तियों का नाश

करने का प्रयत्न करने के बदले उनको अपने आत्मा के लिये लाभदायक बनाने के अर्थ अपने अधीन रखना चाहिये – उन्हें स्वतन्त्र नहीं होने देना चाहिये। भगवान् के इस उपदेश में, और तृष्णा तथा उसी के साथ सब मनोवृत्तियों को भी समूल नष्ट करने के लिये कहने में, ज़मीन-आसमान का अन्तर है। गीता का यह तात्पर्य नहीं है, कि संसार के सब कर्तृत्व और पराक्रम का बिलकुल नाश कर दिया जाय; बल्कि उसके अठारहवे अध्याय (१८. २६) में तो कहा है, कि कार्य-कर्ता में सम-बुद्धि के साथ धृति और उत्साह के गुणों का होना भी आवश्यक है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ हमको केवल यही जानना है, कि 'सुख' और 'दुःख' दोनों भिन्न वृत्तियाँ हैं, या उनमें से एक दूसरी का अभाव मात्र ही है। इस विषय में गीता का मत उपर्युक्त विवेचन से पाठकों के ध्यान में आ ही गया होगा। 'क्षेत्र' का अर्थ बतलाते समय 'सुख' और 'दुःख' की अलग अलग गणना की गई है (गी. १३. ६); बल्कि यह भी कहा गया है, 'सुख' सत्त्वगुण का और 'तृष्णा' रजोगुण का लक्षण है (गी. १४. ६, ७); और सत्त्व-गुण तथा रजोगुण दोनों अलग हैं। इससे भी भगवद्गीता का यह मत साफ़ मालूम हो जाता है, कि सुख और दुःख दोनों एक दूसरे के प्रतियोग हैं; और भिन्न भिन्न दो वृत्तियाँ हैं। अठारहवे अध्याय में राजस त्याग की जो न्यूनता दिखलाई है, कि ' कोई भी काम यदि दुःखकारक है, तो उसे छोड़ देने से त्यागफल नहीं मिलता; किन्तु ऐसा त्याग राजस कहलाता है ' (गीता १८. ८), वह भी इस सिद्धान्त के विरुद्ध है, कि ' सब सुख तृष्णा-क्षय-मूलक ही हैं। '

अब यदि यह मान लें, कि सब सुख तृष्णा-क्षय-रूप अथवा दुःखाभावरूप नहीं हैं; और यह भी मान लें, कि सुख-दुःख दोनों स्वतंत्र वस्तु हैं; तो भी (इन दोनों वेदनाओं के परस्पर-विरोधी या प्रतियोगी होने के कारण) यह दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है, कि जिस मनुष्य को दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं है, उसे सुख का स्वाद मालूम हो सकता है या नहीं? कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है, कि दुःख का अनुभव हुए बिना सुख का स्वाद ही नहीं मालूम हो सकता। इसके विपरीत, स्वर्ग के देवताओं के नित्यसुख का उदाहरण दे कर कुछ पंडित प्रतिपादन करते हैं, कि सुख का स्वाद मालूम होने के लिये दुःख के पूर्वानुभव की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस तरह किसी भी खट्टे पदार्थ को पहले चखे बिना ही शहद, गुड, शक्कर, आम, केला इत्यादि पदार्थों का भिन्न भिन्न मीठापन मालूम हो जाया करता है, उसी तरह सुख के भी अनेक प्रकार होने के कारण पूर्व-दुःखानुभव के बिना ही भिन्न भिन्न प्रकार के सुखों (जैसे, रुईदार गद्दी पर से उठ कर परों की गद्दी पर बैठना इत्यादि) का सदैव अनुभव करते रहना भी सर्वथा सम्भव है। परन्तु सांसारिक व्यवहारों को देखने से मालूम हो जायगा, कि यह युक्ति ही निरर्थक है। पुराणों में देवताओं पर भी संकट पड़ने के कई

उदाहरण हैं; और पुण्य का अंश घटते ही कुछ समय के बाद स्वर्ग-सुख का भी नाश हो जाया करता है। इसलिये स्वर्गीय सुख का उदाहरण ठीक नहीं है। और, यदि ठीक भी हो, तो स्वर्गीय सुख का उदाहरण हमारे किस काम का? यदि यह सत्य मान लें, कि 'नित्यमेव सुखं स्वर्गे,' तो इसी के आगे (म. भा. शां. १९०. १४) यह भी कहा है, कि 'सुखं दुःखमिहोभयम्' – अर्थात् इस संसार में सुख और दुःख दोनों मिश्रित हैं। इसी के अनुसार समर्थ श्रीरामदास स्वामी ने भी कहा है, 'हे विचारवान् मनुष्य, इस बात को अच्छी तरह सोच कर देख ले, कि इस संसार में पूर्ण सुखी कौन है?' इसके सिवा द्रौपदी ने सत्य-भामा को यह उपदेश दिया है, कि :–

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि।

अर्थात् "सुख से सुख कभी नहीं मिलता; साध्वी स्त्री को सुख-प्राप्ति के लिये दुःख या कष्ट सहना पड़ता है" (म. भा. वन. २३३. ४); इससे कहना पड़ेगा, कि यह उपदेश इस संसार के अनुभव के अनुसार सत्य है। देखिये, यदि जामुन किसी के होंठ पर धर दिया जाय, तो भी उसको खाने के लिये पहले मुँह खोलना पड़ता है; और यदि मुँह में चला जाय, तो उसे खाने का कष्ट सहना ही पड़ता है। सारांश, यह बात सिद्ध है, कि दुःख के बाद सुख पानेवाले मनुष्य के सुखा-स्वादन में, और हमेशा विषयोपभोगों में ही निमग्न रहनेवाले मनुष्य के सुखा-स्वादन में बहुत भारी अंतर है। इसका कारण यह है, कि हमेशा सुख का उपभोग करते रहने से सुख का अनुभव करनेवाली इंद्रियाँ भी शिथिल होती जाती हैं। कहा भी है कि –

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः॥

अर्थात् "श्रीमानों में सुस्वादु अन्न को सेवन करने को भी शक्ति नहीं रहती; परन्तु गरीब लोग काठ को भी पचा जाते हैं" (म. भा. शां. २८, २९)। अत-एव जब कि हम को इस संसार के ही व्यवहारों का विचार करना है, तब कहना पड़ता है, कि इस प्रश्न को अधिक हल करते रहने में कोई लाभ नहीं, कि बिना दुःख पाये हमेशा सुख का अनुभव किया जा सकता है या नहीं। इस संसार में यही क्रम सदा से सुन पड़ रहा है, कि 'सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्' (वन. २६०. ४९. शां. २५. २३) अर्थात् सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख मिला ही करता है। और महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत (मे. ११४) में वर्णन किया है :–

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

"किसी की भी स्थिति हमेशा सुखमय या हमेशा दुःखमय नहीं होती। सुख-दुःख की दशा पहिये के समान ऊपर और नीचे की ओर हमेशा बदलती रहती है।" अब चाहे यह दुःख हमारे सुख के मिठास को अधिक बढ़ाने के लिये उत्पन्न हुआ हो और इस प्रकृति के संसार में उसका और भी कुछ उपयोग होता हो; उक्त अनुभव-सिद्ध क्रम के बारे में मतभेद हो नहीं सकता। हाँ, यह बात कदाचित् असम्भव न होगी, कि कोई मनुष्य हमेशा ही विषय-सुख का उपभोग किया करे और उससे उसका जी भी न ऊबे। परन्तु इस कर्मभूमि (मृत्युलोक या संसार) में यह बात अवश्य असम्भव है, कि दुःख का बिलकुल नाश हो जाय और हमेशा सुख-ही-सुख का अनुभव मिलता रहे।

यदि यह बात सिद्ध है, कि संसार केवल सुखमय नहीं है, किन्तु वह सुख-दुःखात्मक है, तो अब तीसरा प्रश्न आप-ही-आप मन में पैदा होता है, कि संसार में सुख अधिक है या दुःख? जो पश्चिमी पंडित आधिभौतिक सुख को ही परम साध्य मानते हैं, उनमें से बहुतेरों का कहना है, कि यदि संसार में सुख से दुःख ही अधिक होता, तो (सब नहीं तो) आधिकांश लोग अवश्य ही आत्महत्या कर डालते। क्योंकि जब उन्हें मालूम हो जाता, कि संसार दुःखमय है, तो वे फिर उसमें रहने की झंझट में क्यों पड़ते? बहुधा देखा जाता है, कि मनुष्य अपनी आयु अर्थात् जीवन से नहीं ऊबता; इसलिये निश्चयपूर्वक यही अनुमान किया जा सकता है, कि इस संसार में मनुष्य को दुःख की अपेक्षा सुख ही अधिक मिलता है; और इसीलिये धर्म-अधर्म का निर्णय भी, सुख को ही सब लोगों का परम साध्य समझ कर, किया जाना चाहिये। अब यदि उपर्युक्त मत की अच्छी तरह जाँच की जाय तो मालूम हो जायगा, कि यहाँ आत्महत्या का जो सम्बन्ध सांसारिक सुख के साथ जोड़ दिया गया है, वह वस्तुतः सत्य नहीं है। हाँ, यह बात सच है, कि कभी कभी कोई मनुष्य संसार से त्रस्त हो कर आत्महत्या कर डालता है; परन्तु सब लोग उसकी गणना 'अपवाद' में अर्थात् पागलों में किया करते हैं। इससे यही बोध होता है, कि सर्व-साधारण लोग भी 'आत्महत्या करने या न करने' का सम्बन्ध सांसारिक सुख के साथ नहीं जोड़ते; किन्तु उसे (अर्थात् आत्महत्या करने या न करने को) एक स्वतंत्र बात समझते हैं। यदि असभ्य और जंगली मनुष्यों के उस 'संसार' या जीवन का विचार किया जावे, जो सुधरे हुए और सभ्य मनुष्यों की दृष्टि से अत्यन्त कष्टदायक और दुःखमय प्रतीत होता है; तो भी वही अनुमान निष्पन्न होगा, जिसका उल्लेख ऊपर के वाक्य में किया गया है। प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ चार्ल्स डार्विन ने अपने प्रवास-ग्रन्थ में कुछ ऐसे जंगली लोगों का वर्णन किया है, जिन्हें उसने दक्षिण-अमेरिका के अत्यन्त दक्षिण प्रान्तों में देखा था। उस वर्णन में लिखा है, कि वे असभ्य लोग – स्त्री, पुरुष सब – कठिण जाड़े के दिनों में भी नंगे घूमते रहते हैं; इनके पास अनाज का कुछ भी संग्रह न रहने से इन्हें कभी कभी भूखों मरना

पड़ता है; तथापि इनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है।* देखिये, जंगली मनुष्य भी अपनी जान नहीं देते; परन्तु क्या इससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि उनका संसार या जीवन सुखमय है? कदापि नहीं। यह बात सच है, कि वे आत्महत्या नहीं करते; परन्तु इसके कारण का यदि सूक्ष्म विचार किया जावे, तो मालूम होगा, कि हर एक मनुष्य को – चाहे वह सभ्य हो या असभ्य – केवल इसी बात में अत्यन्त आनन्द मालूम होता है, कि 'मैं पशु नहीं हूँ।' और अन्य सब सुखों की अपेक्षा मनुष्य होने के सुख को वह इतना अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है, कि यह संसार कितना भी कष्टमय क्यों न हो; तथापि वह उनकी ओर ध्यान नहीं देता; और न वह अपने इस मनुष्यत्व के दुर्लभ सुख को खो देने के लिये कभी तैयार रहता है। मनुष्य की बात तो दूर रही, पशु-पक्षी भी आत्महत्या नहीं करते। तो क्या इससे हम कह सकते हैं, कि उनका भी संसार या जीवन सुखमय है? तात्पर्य यह है, कि 'मनुष्य या पशु-पक्षी आमहत्या नहीं करते' इस बात से यह भ्रामक अनुमान नहीं करना चाहिये, कि उनका जीवन सुखमय है। सच्चा अनुमान यही हो सकता है, कि संसार कैसा भी हो, उसकी कुछ अपेक्षा नहीं; सिर्फ़ अचेतन अर्थात् जड़ अवस्था से सचेतन यानी सजीव अवस्था में आने ही से अनुपम आनंद मिलता है; और उसमें भी मनुष्यत्व का आनंद तो सब से श्रेष्ठ है। हमारे शास्त्रकारों ने भी कहा है :–

> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
> बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
> ब्राह्मणेषु च विद्वांसः विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
> कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः॥

अर्थात् "अचेतन पदार्थों की अपेक्षा सचेतन प्राणी श्रेष्ठ हैं। सचेतन प्राणियों में बुद्धिमान्, बुद्धिमानों में मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कृतबुद्धि (वे मनुष्य जिनकी बुद्धि सुसंस्कृत हो), कृतबद्धियों में कर्ता (काम करनेवाले), और कर्ताओं में ब्रह्मवादी श्रेष्ठ हैं।" इस प्रकार शास्त्रों (मनु. १. ९६, ९७; म. भा. उद्यो. २. १ और २) में एक से दूसरी बढ़ी हुई श्रेणियों का जो वर्णन है, उसका भी रहस्य वही है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। और उसी न्याय से भाषा-ग्रन्थों में भी कहा गया है, कि चौरासी लाख योनियों में नरदेह श्रेष्ठ है, नरों में मुमुक्षु श्रेष्ठ है और मुमुक्षुओं में सिद्ध श्रेष्ठ है। संसार में जो कहावत प्रचलित है, कि 'सब को अपनी जान अधिक प्यारी होती है।' उसका भी कारण वही है, जो ऊपर लिखा गया है। और इसी लिये संसार के दुःखमय होने पर भी जब कोई मनुष्य आत्महत्या करता है, तो उसको लोग पागल

* Darwin's *Naturalist's Voyage Round the World* – Chap. X.

कहते हैं; और धर्मशास्त्र के अनुसार वह पापी समझा जाता है (म.भा.कर्ण.७०.२८)। तथा आत्महत्या का प्रयत्न भी कानून के अनुसार जुर्म माना जाता है। संक्षेप में यह सिद्ध हो गया, कि 'मनुष्य आत्महत्या नहीं करता' – इस बात से संसार के सुखमय होने का अनुमान करना उचित नहीं है। ऐसी अवस्था में हम को, 'यह संसार सुखमय है या दुःखमय?' इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये, पूर्वकर्मानुसार नरदेह-प्राप्ति-रूप अपने नैसर्गिक भाग्य की बात को छोड़ कर, केवल इसके पश्चात् अर्थात् इस संसार ही की बातों का विचार करना चाहिये। 'मनुष्य आत्महत्या नहीं करता; बल्कि वह जीने की इच्छा करता रहता है' – तो सिर्फ़ संसार की प्रवृत्ति का कारण है। आधिभौतिक पंडितों के कथनानुसार संसार के सुखमय होने का यह कोई सबूत या प्रमाण नहीं है। यह बात इस प्रकार कही जा सकती है, कि आत्महत्या न करने की बुद्धि स्वाभाविक है; वह कुछ संसार के सुखदुःखों के तारतम्य से उत्पन्न नहीं हुई है; और, इसी लिये इससे यह सिद्ध हो नहीं सकता कि संसार सुखमय है।

केवल मनुष्यजन्म पाने के सौभाग्य को और (उसके बाद के) मनुष्य के सांसारिक व्यवहार या 'जीवन' को भ्रमवश एक ही नहीं समझ लेना चाहिये। केवल मनुष्यत्व, और मनुष्य के नित्य व्यवहार अथवा सांसारिक जीवन, ये दोनों भिन्न भिन्न बातें हैं। इस भेद को ध्यान में रख कर यह निश्चय करना है, कि इस संसार में श्रेष्ठ नरदेह-धारी प्राणी के लिये सुख अधिक है अथवा दुःख? इस प्रश्न का यथार्थ निर्णय करने के लिये केवल यही सोचना एकमात्र साधन या उपाय है, कि प्रत्येक मनुष्य के 'वर्तमान समय की' वासनाओं में से कितनी वासनाएँ सफल हुई और कितनी निष्फल। 'वर्तमान समय की' कहने का कारण यह है, कि जो बातें सभ्य या सुधरी हुई दशा के सभी लोगों को प्राप्त हो जाया करती हैं, उनका नित्य व्यवहार में उपयोग होने लगता है; और उनसे जो सुख हमें मिलता है, उसे हम लोग भूल जाया करते हैं। एवं जिन वस्तुओं को पाने की नई इच्छा उत्पन्न होती है, उनमें से जितनी हमें प्राप्त हो सकती हैं, सिर्फ़ उन्हीं के आधार पर हम इस संसार के सुखदुःखों का निर्णय किया करते हैं। इस बात की तुलना करना, कि हमें वर्तमान काल में कितने सुख-साधन उपलब्ध हैं और सौ वर्ष पहले इनमें से कितने सुख-साधन प्राप्त हो गये थे; और इस बात का विचार करना, आज के दिन मैं सुखी हूँ या नहीं; ये दोनों बातें अत्यंत भिन्न हैं। इन बातों को समझने के लिये उदाहरण लीजिये। इसमें संदेह नहीं, कि सौ वर्ष पहले की बैलगाड़ी की यात्रा से वर्तमान समय की रेलगाड़ी की यात्रा अधिक सुखकारक है। परन्तु अब इस रेलगाड़ी से मिलनेवाले सुख के 'सुखत्व' को हम लोग भूल गये हैं। और इसका परिणाम यह दीख पड़ता है, कि किसी दिन डाक देर से आती है; और हमारी

चिट्ठी हमें समय पर नहीं मिलती, तो हमें अच्छा नहीं लगता – कुछ दुःख ही सा होता है। अतएव मनुष्य के वर्तमान समय के सुख-दुःखों का विचार, उन सुख-साधनों के आधार पर नहीं किया जाता कि जो उपलब्ध है; किन्तु यह विचार मनुष्य की 'वर्तमान' आवश्यकताओं (इच्छाओं या वासनाओं) के आधार पर ही किया जाता है। और, जब हम इन आवश्यकताओं, इच्छाओं या वासनाओं का विचार करने लगते हैं, तब मालूम हो जाता है, कि उनका तो कुछ अन्त ही नहीं – वे अनन्त और अमर्यादित हैं। यदि हमारी एक इच्छा आज सफल हो जाय, तो कल दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है; और मन में यह भाव उत्पन्न होता है, कि वह इच्छा भी सफल हो। ज्यों ज्यों मनुष्य की इच्छा या वासना सफल होती जाती है, त्यों त्यों उसकी दौड़ एक कदम आगे ही बढ़ती चली जाती है; और, जबकि यह बात अनुभवसिद्ध है, कि इन सब इच्छाओं या वासनाओं का सफल होना सम्भव नहीं, तब इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्य दुःखी हुए बिना रह नहीं सकता। यहाँ निम्न दो बातों के भेद पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए: (१) सब सुख केवल तृष्णा-क्षय-रूप ही हैं; और (२) मनुष्य को कितना ही सुख मिले, तो भी वह असंतुष्ट ही रहता है। यह कहना एक बात है, कि प्रत्येक सुख दुःखाभावरूप नहीं है। किन्तु सुख और दुःख इन्द्रियों की दो स्वतन्त्र वेदनाएँ हैं; और यह कहना उससे बिलकुल ही भिन्न है, कि मनुष्य किसी एक समय पाये हुए सुख को भूल कर और भी अधिकाधिक सुख पाने के लिये असंतुष्ट बना रहता है। इनमें से पहली बात सुख के वास्तविक स्वरूप के विषय में है; और दूसरी बात यह है, कि पाये हुए सुख से मनुष्य की पूरी तृप्ति होती है या नहीं? विषय-वासना हमेशा अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है, इसलिये जब प्रतिदिन नये नये सुख नहीं मिल सकते, तब यही मालूम होता है, कि पूर्व-प्राप्त सुखों को ही बार बार भोगते रहना चाहिये – और इसी से मन की इच्छा का दमन नहीं होता। विटेलियस नामक एक रोमन बादशाह था। कहते हैं, कि वह जिह्वा का सुख हमेशा पाने के लिये, भोजन करने पर किसी औषधि के द्वारा कै कर डालता था; और प्रतिदिन अनेक बार भोजन किया करता था। परन्तु, अन्त में पछतानेवाले ययाति राजा की कथा इससे भी अधिक शिक्षादायक है। यह राजा शुक्राचार्य के शाप से, बुढ़ा हो गया था; परन्तु उन्हीं की कृपा से इसको यह सहूलियत भी हो गई थी, कि अपना बुढ़ापा किसी को दे कर इसके पलटे में उसकी जवानी ले लें। तब इसने अपने पुरु नामक बेटे की तरुणावस्था माँग ली, और सौ दो सौ नहीं, पूरे एक हजार वर्ष तक सब प्रकार के विषय-सुखों का उपभोग किया। अन्त में उसे यही अनुभव हुआ, कि इस दुनिया के सारे पदार्थ एक मनुष्य की भी सुख-वासना को तृप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। तब उसके मुख से यही उद्गार निकल पड़ा कि :–

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

अर्थात् " सुखों के उपभोग से विषय-वासना की तृप्ति तो होती ही नहीं; किन्तु विषय-वासना दिनोंदिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है, जैसे अग्नि की ज्वाला हवन-पदार्थों से बढ़ती जाती है " (म. भा. आ. ७२. ४९)। यही श्लोक मनुस्मृति में भी पाया जाता है (मनु. २. ९४)। तात्पर्य यह है, कि सुख के साधन चाहे जितने उपलब्ध हों, तो भी इन्द्रियों की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इसलिये केवल सुखोपभोग से सुख की इच्छा कभी तृप्त नहीं हो सकती; उनको रोकने या दबाने के लिये कुछ अन्य उपाय अवश्य ही करना पड़ता है। यह तत्त्व हमारे सभी धर्म-ग्रन्थकारों को पूर्णतया मान्य है; और इसलिये उनका प्रथम उपदेश यह है, कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कामोपभोग की मर्यादा बांध लेनी चाहिये। जो लोग कहा करते हैं, कि इस संसार में परमसाध्य केवल विषयोपभोग ही है, वे यदि उक्त अनुभूत सिद्धान्त पर थोड़ा भी ध्यान दें, तो उन्हें अपने मन की निस्सारता तुरन्त ही मालूम हो जायगी। वैदिक धर्म का यह सिद्धान्त बौद्धधर्म में भी पाया जाता है; और, ययाति राजा के सदृश, मान्धाता नामक पौराणिक राजा ने भी मरते समय कहा है :–

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति ॥

" कर्षापण नामक महामूल्यवान् सिक्के की यदि वर्षा होने लगे, तो भी काम-वासना की तित्ति अर्थात् तृप्ति नहीं होती; और स्वर्ग का भी सुख मिलने पर कामी पुरुष की कामेच्छा पूरी नहीं होती। " यह वर्णन धम्मपद (१८६. १८७) नामक बौद्ध ग्रन्थ में है। इससे कहा जा सकता है, कि विषयोपभोगरूपी सुख की पूर्ति कभी हो नहीं सकती; और इसी लिये हरएक मनुष्य को हमेशा ऐसा मालूम होता है कि, 'मैं दुःखी हूँ!' मनुष्यों की इस स्थिति को विचारने से वही सिद्धान्त स्थिर करना पड़ता है, जो महाभारत (शां. २०५. ६; ३३०. १६) में कहा गया है :–

सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः।

अर्थात् ' इस जीवन में यानी संसार में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है। ' यही सिद्धान्त साधु तुकाराम ने इस प्रकार कहा है: – ' सुख देखो तो राई बराबर है, और दुःख पर्वत के समान है। ' उपनिषत्कारों का भी सिद्धान्त ऐसा ही है (मैत्र्यु. १. २–४)। गीता (८. १५ और ९. ३३) में भी कहा गया है, कि मनुष्य का जन्म अशाश्वत और ' दुःखों का घर ' है, तथा यह संसार अनित्य और 'सुखरहित'। है। जर्मन पंडित शोपेनहर का ऐसा ही मत है, जिसे सिद्ध

करने के लिये उस ने एक विचित्र दृष्टान्त दिया है। वह कहता है, कि मनुष्य की समस्त सुखेच्छाओं में से जितनी सुखेच्छाएँ सफल होती हैं, उसी परिमाण से हम उन्हें सुखी समझते हैं; और जब सुखेच्छाओं की अपेक्षा सुखोपभोग कम हो जाता है, तब कहा जाता है, कि वह मनुष्य उस परिमाण से दुःखी है। इस परिमाण को गणितरीति से समझाना हो तो सुखोपभोग को सुखेच्छा से भाग देना चाहिये और अपूर्णांक के रूप में सुखोपभोग ऐसा लिखना चाहिये। परन्तु यह अपूर्णांक है भी विलक्षण; क्योंकि इसका हर (अर्थात् सुखेच्छा), अंश (अर्थात् सुखोपभोग) की अपेक्षा, हमेशा अधिकाधिक बढ़ता ही रहता है। यदि यह अपूर्णांक पहले $\frac{1}{2}$ हो, और यदि आगे – उसका अंश १ से ३ हो जाय, तो उसका हर २ से १० हो जायगा – अर्थात् वही अपूर्णांक $\frac{3}{10}$ हो जाता है। तात्पर्य यह है, यदि अंश तिगुना बढ़ता है, तो हर पँचगुना बढ़ जाता है; जिसका फल यह होता है, कि वह अपूर्णांक पूर्णता की ओर न जा कर अधिकाधिक अपूर्णता की ओर ही चला जाता है। इसका मतलब यही है, कि कोई मनुष्य कितना ही सुखोपभोग करे, उसकी सुखेच्छा दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है; जिससे यह आशा करना व्यर्थ है, कि मनुष्य पूर्ण सुखी हो सकता है। प्राचीन काल में कितना सुख था, इसका विचार करते समय हम लोग इस अपूर्णांक के अंश का तो पूर्ण ध्यान रखते हैं; परन्तु इस बात को भूल जाते हैं, कि अंश की अपेक्षा हर कितना बढ़ गया है। किन्तु जब हमें सुख-दुःख की मात्रा का ही निर्णय करना है, तो हमें किसी काल का विचार न करके सिर्फ़ यही देखना चाहिये, कि उक्त अपूर्णांक के अंश और हर में कैसा संबंध है। फिर हमें आप-ही-आप मालूम हो जायगा, कि इस अपूर्णांक का पूर्ण होना असंभव है। 'न जातु कामः कामानां' इस मनुवचन का (२. ९४) भी यही अर्थ है। संभव है, कि बहुतेरों को सुख-दुःख नापने की गणित की यह रीति पसन्द न हो; क्योंकि यह उष्णतामापक यंत्र के समान कोई निश्चित साधन नहीं है। परन्तु इस युक्तिवाद से प्रकट हो जाता है, कि इस बात को सिद्ध न करने के लिये भी कोई निश्चित साधन नहीं, कि 'संसार में सुख ही अधिक है।' यह आपत्ति दोनों पक्षों के लिये समान ही है। इसलिये उक्त प्रतिपादन के साधारण सिद्धान्त में – अर्थात् उस सिद्धान्त में जो सुखोपभोग की अपेक्षा सुखेच्छा की अमर्यादित वृद्धि से निष्पन्न होती है – यह आपत्ति कुछ बाधा नहीं डाल सकती। धर्म-ग्रन्थों में तथा संसार के इतिहास में इस सिद्धान्त के पोषक अनेक उदाहरण मिलते हैं। किसी ज़माने में स्पेन देश में मुसलमानों का राज्य था। वहाँ तीसरा अब्दुल रहमान* नामक एक बहुत ही न्यायी और पराक्रमी बादशाह हो गया है। उसने यह देखने के लिये – कि मेरे दिन कैसे कटते हैं – एक रोज़नामचा बनाया था; जिसे देखके अन्त में उसे

* *Moors in Spain*, p. 128 (Story of the Nations Series).

यह ज्ञात हुआ, कि पचास वर्ष के शासन-काल में उसके केवल चौदह दिन सुख-पूर्वक बीते। किसी ने हिसाब करके बतलाया है, कि संसारभर के – विशेषतः यूरोप के – प्राचीन और अर्वाचीन सभी तत्त्वज्ञानियों के मतों को देखो; तो यही मालूम होगा, कि उनमें से प्रायः आधे लोग संसार को दुःखमय कहते हैं; और प्रायः आधे उसे सुखमय कहते हैं। अर्थात् संसार को सुखमय तथा दुःखमय कहनेवालों की संख्या प्रायः बराबर है।* यदि इस तुल्य संख्या में हिंदु तत्त्वज्ञों के मतों को जोड़ दें, तो कहना नहीं होगा, कि संसार को दुःखमय माननेवालों की संख्या ही अधिक हो जायगी।

संसार के सुख-दुःखों के उक्त विवेचन को सुन कर कोई संन्यासमार्गीय पुरुष कह सकता है, कि यद्यपि तुम इस सिद्धान्त को नहीं मानते, कि 'सुख कोई सच्चा पदार्थ नहीं है; फलतः सब तृष्णात्मक कर्मों को छोड़े बिना शान्ति नहीं मिल सकती।' तथापि तुम्हारे ही कथनानुसार यह बात सिद्ध है, कि तृष्णा से असंतोष और असंतोष से दुःख उत्पन्न होता है। तब ऐसी व्यवस्था में यह कह देने में क्या हर्ज़ है कि इस असंतोष को दूर करने के लिये मनुष्य को अपनी तृष्णाओं का और उन्ही के साथ सब सांसारिक कर्मों का भी त्याग करके सदा सन्तुष्ट ही रहना चाहिये – फिर तुम्हें इस बात का विचार नहीं करना चाहिये, कि उन कर्मों को तुम परोपकार के लिये करना चाहते हो या स्वार्थ के लिये। महाभारत (वन. २१५. २२) में कहा है, कि 'असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम्' अर्थात् असंतोष का अन्त नहीं है और संतोष ही परम सुख है। जैन और बौद्ध धर्मों की नींव भी इसी तत्त्व पर डाली गई है; तथा पश्चिमी देशों में शोपेनहर† ने अर्वाचीन काल में इसी मत का प्रतिपादन किया है; परन्तु इसके विरुद्ध यह प्रश्न भी किया जा सकता है, कि जिह्वा से कभी कभी गालियाँ वगैरह अपशब्दों का उच्चारण करना पड़ता है, तो क्या जीभ को ही समूल काट कर फेंक देना चाहिये ? अग्नि से कभी कभी मकान जल जाते हैं, तो क्या लोगों ने अग्नि का सर्वथा त्याग ही कर दिया है ? या उन्हों ने भोजन बनाना ही छोड़ दिया है ? अग्नि की बात कौन कहे; जब हम विद्युत्-शक्ति को भी मर्यादा में रख कर उसको नित्यव्यवहार के उपयोग में लाते हैं, उसी तरह तृष्णा और असन्तोष की भी सुव्यवस्थित मर्यादा बाँधना कुछ असंभव नहीं है। हाँ, यदि असन्तोष सर्वांश में और सभी समय हानिकारक होगा, तो बात दूसरी थी; परन्तु विचार करने से

---

* *Macmillan's Promotion of Happiness p. 26.*

† Schopenhauer's *World as Will and Representation*, Vol. II Chap. 46. संसार के दुःखमयत्व का, शोपेनहरकृत वर्णन अत्यन्त ही सरस है। मूलग्रन्थ जर्मन भाषा में है और उसका भाषान्तर अंग्रेजी में भी हो चुका है।

मालूम होगा कि सचमुच बात ऐसी नहीं है। असन्तोष का यह अर्थ बिलकुल नहीं, कि किसी चीज़ को पाने के लिये रात-दिन हाय हाय करते रहें, रोते रहें; या न मिलने पर सिर्फ़ शिकायत ही किया करें। ऐसे असन्तोष को शास्त्रकारों ने भी निंद्य माना है। परन्तु उस इच्छा का मूलभूत असन्तोष कभी निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। जो यह कहे, कि तुम अपनी वर्तमान स्थिति में ही पड़े पड़े सड़ते मत रहो; किन्तु उसमें यथाशक्ति शान्त और समचित्त से अधिकाधिक सुधार करते जाओ; तथा शक्ति के अनुसार उसे उत्तम अवस्था में ले जाने का प्रयत्न करो। जो समाज चार वर्णों में विभक्त है, उसमें ब्राह्मणों ने ज्ञान की, क्षत्रियों ने ऐश्वर्य की और वैश्यों ने धन-धान्य की उक्त प्रकार की इच्छा या वासना छोड़ दी, तो कहना नहीं होगा, कि वह समाज शीघ्र ही अधोगति में पहुँच जायगा। उसी अभिप्राय को मन में रख कर व्यासजी ने (शां. २३. ९) युधिष्ठिर से कहा है, कि ' यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति '—अर्थात् यज्ञ, विद्या, उद्योग और ऐश्वर्य के विषय में असंतोष (रखना) क्षत्रिय के गुण है। उसी तरह विदुला ने भी अपने पुत्र को उपदेश करते समय (म. भा. उ. १३२-३३) कहा है, कि ' संतोषो वै श्रियं हन्ति '—अर्थात् संतोष से ऐश्वर्य का नाश होता है; और किसी अन्य अवसर पर एक वाक्य (म. भा. सभा. ५५. ११) में यह भी कहा गया है, कि ' असंतोषः श्रियो मूलम् '—अर्थात् असंतोष ही ऐश्वर्य का मूल है।* ब्राह्मण-धर्म में संतोष एक गुण बतलाया गया है सही; परन्तु उसका अर्थ केवल यही है, कि वह चातुर्वर्ण्य-धर्मानुसार द्रव्य और ऐहिक ऐश्वर्य के विषय में संतोष रखे। यदि कोई ब्राह्मण कहने लगे, कि मुझे जितना ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसी से मुझे संतोष है, तो वह स्वयं अपना नाश कर बैठेगा। इसी तरह यदि कोई वैश्य या शूद्र, अपने अपने धर्म के अनुसार जितना मिला है उतना पा कर ही, सदा संतुष्ट बना रहे तो उसकी भी वही दशा होगी। सारांश यह है, कि असंतोष सब भावी उत्कर्ष का, प्रयत्न का, ऐश्वर्य का और मोक्ष का बीज है। हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये, कि यदि हम असंतोष का पूर्णतया नाश कर डालेंगे, तो इस लोक और परलोक में भी हमारी दुर्गति होगी। श्रीकृष्ण का उपदेश सुनते समय जब अर्जुन ने कहा, कि ' भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ' (गी. १०. १८) अर्थात् आप के अमृततुल्य भाषण को सुन कर मेरी तृप्ति होती ही नहीं। इसलिये आप फिर भी अपनी विभूतियों का वर्णन कीजिये—तब भगवान् ने फिरसे अपनी विभूतियों का वर्णन आरम्भ किया। उन्हों ने ऐसा नहीं कहा, कि तू अपनी इच्छा को वश में कर। असंतोष या अतृप्ति अच्छी बात नहीं है। इससे सिद्ध होता है, कि योग्य और

* Cf. "Unhappiness is the cause of progress." Dr. Paul Carus' *The Ethical Problem*, p. 251 (2nd Ed.).

कल्याणकारक बातों में उचित असंतोष का होना भगवान् को भी इष्ट है। भर्तृहरि का भी इसी आशय का एक श्लोक है। यथा : 'यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ' अर्थात् रुचि या इच्छा अवश्य होनी चाहिये, परन्तु वह यश के लिये ही। और व्यसन भी होना चाहिये, परन्तु वह विद्या का हो, अन्य बातों का नहीं। काम-क्रोध आदि विकारों के समान ही असंतोष को भी अनिवार्य नहीं होने देना चाहिये। यदि वह अनिवार्य हो जायगा, तो निस्संदेह हमारे सर्वस्व का नाश कर डालेगा। इसी हेतु से, केवल विषयभोग की प्रीति के लिये तृष्णा पर तृष्णा लाद कर और एक आशा के बाद दूसरी आशा रख कर सांसारिक सुखों के पीछे हमेशा भटकनेवाले पुरुषों की सम्पत्ति को गीता के सोलहवे अध्याय में 'आसुरी संपत्ति' कहा है। ऐसी रात-दिन की हाय हाय करते रहने से मनुष्य के मन की सात्त्विक वृत्तियों का नाश हो जाता है। उसकी अधोगति होती है; और तृष्णा की पूरी तृप्ति होना असंभव होने के कारण कामोपभोग-वासना नित्य अधिकाधिक बढ़ती जाती है; तथा वह मनुष्य अन्त में उसी दशा में मर जाता है। परन्तु, विपरीत पक्ष में तृष्णा और असंतोष के इस दुष्परिणाम से बचने के लिये सब प्रकार के तृष्णाओं के साथ सब कर्मों को एकदम छोड़ देना भी सात्त्विक मार्ग नहीं है। उक्त कथनानुसार तृष्णा या असंतोष भावी उत्कर्ष का बीज है। इसलिये चोर के डर से साह को ही मार डालने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिये। उचित मार्ग तो यही है, कि हम इस बात का भली भाँति विचार किया करें, कि किस तृष्णा या किस असंतोष से हमें दुःख होगा; और जो विशिष्ट आशा, तृष्णा या असंतोष दुःखकारक हो उसे छोड़ दें। उनके लिये समस्त कर्मों को छोड़ देना उचित नहीं। केवल दुःखकारी आशाओं को ही छोड़ने और स्वधर्मानुसार कर्म करने की इस युक्ति या कौशल्य को ही योग अथवा कर्मयोग कहते हैं (गी. २. ५०); और यही गीता का मुख्यतः प्रतिपाद्य विषय है। इसलिये यहाँ थोड़ा-सा इस बात का और विचार कर लेना चाहिये, कि गीता में किस प्रकार की आशा को दुःखकारी कहा है।

मनुष्य कान से सुनता है, त्वचा से स्पर्श करता है, आँखों से देखता है, जिह्वा से स्वाद लेता है तथा नाक से सूँघता है। इंद्रियों के ये व्यापार जिस परिणाम से इंद्रियों की वृत्तियों के अनुकूल या प्रतिकूल होते हैं उसी परिणाम से मनुष्य को सुख अथवा दुःख हुआ करता है। सुख-दुःख के वस्तुस्वरूप के लक्षण का यह वर्णन पहले हो चुका है; परन्तु सुख-दुःखों का विचार केवल इसी व्याख्या से पूरा नहीं हो जाता। आधिभौतिक सुख-दुःखों के उत्पन्न होने के लिये बाह्य पदार्थों का संयोग इंद्रियों के साथ होना यद्यपि प्रथमतः आवश्यक है, तथापि इसका विचार करने पर – कि आगे इन सुख-दुःखों का अनुभव मनुष्य को किस रीति से होता है – यह मालूम होगा, कि इंद्रियों के स्वाभाविक व्यापार से उत्पन्न होनेवाले इन सुख-

दुःखों को जानने का (अर्थात् इन्हें अपने लिये स्वीकार या अस्वीकार करने का) काम हरएक मनुष्य अपने मन के अनुसार ही किया करता है। महाभारत में कहा है, कि 'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा' (म. भा. शां. ३११, १७) – अर्थात् देखने का काम केवल आँखों से ही नहीं होता; किंतु उस में मन की भी सहायता होती है। और यदि मन व्याकुल रहता है, तो आँखों से देखने पर भी अनदेखा-सा हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१. ५. ३) में भी यह वर्णन पाया जाता है; यथा (अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्) 'मेरा मन दूसरी और लगा था; इसलिये मुझे नहीं दीख पड़ा' और (अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्) 'मेरा मन दूसरी ही ओर था; इसलिये मैं सुन नहीं सका' – इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है, कि आधिभौतिक सुखदुःखों का अनुभव होने के लिये इंद्रियों के साथ मन की भी सहायता होनी चाहिये; और आध्यात्मिक सुख-दुःख तो मानसिक होते ही हैं। सारांश यह है, कि सब प्रकार के सुख-दुःखों का अनुभव अन्त में हमारे मन पर ही अवलम्बित रहता है; और यदि यह बात सच है, तो यह भी आप-ही-आप सिद्ध हो जाता है, कि मनोनिग्रह से सुख-दुःखों के अनुभव का भी निग्रह अर्थात् दमन करना कुछ असम्भव नहीं है। इसी बात पर ध्यान रखते हुए मनुजी ने सुख-दुःखों का लक्षण नैयायिकों के लक्षण से भिन्न प्रकार का बतलाया है। उनका कथन है कि :–

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

अर्थात् "जो दूसरों की (बाह्य-वस्तुओं की) अधीनता में है, वह सब दुःख है; और जो अपने (मन के) अधिकार में है, वह सुख है। यही सुख-दुःख का संक्षिप्त लक्षण है" (मनु. ४. १६०)। नैयायिकों के बतलाये हुए लक्षण के 'वेदना' शब्द में शारीरिक और मानसिक दोनों वेदनाओं का समावेश होता है; और उससे सुख-दुःख का बाह्य वस्तुस्वरूप भी मालूम हो जाता है; और मनु का विशेष ध्यान सुख-दुःखों के केवल आन्तरिक अनुभव पर है। बस, इस बात को ध्यान में रखने से सुख-दुःखों के उक्त दोनों लक्षणों में कुछ विरोध नहीं पड़ेगा। इस प्रकार जब सुख-दुःखों के अनुभव के लिये इन्द्रियों का अवलम्ब अनावश्यक हो गया, तब तो यही कहना चाहिये कि :–

भैषज्यमेतद् दुखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।

'मन से दुःखों की चिंतन न करना ही दुःखनिवारण की अचूक औषधि है' (म. भा. शां. २०५. २); और इसी तरह मन को दबा कर सत्य तथा धर्म के लिये सुखपूर्वक अग्नि में जलकर भस्म हो जानेवालों के अनेक उदाहरण इतिहास में भी मिलते हैं। इसलिये गीता का कथन है, कि हमें जो कुछ करना है उसे

निग्रह के साथ और उसकी फलाशा को छोड़ कर तथा सुख-दुःखों में समभाव रख कर करना चाहिये। ऐसा करने से न तो हमें कर्माचरण का त्याग करना पड़ेगा और न हमें उसके दुःख की बाधा ही होगी। फलाशा-त्याग का यह अर्थ नहीं है, कि हमें जो फल मिले उसे छोड़ दें; अथवा ऐसी इच्छा रखें, कि वह फल किसी को भी न मिले। इसी तरह फलाशा में – और कर्म करने की केवल इच्छा, आशा हेतु या फल के लिये किसी बात की योजना करने में – भी बहुत अंतर है। केवल हाथपैर हिलाने की इच्छा होने में और अमुक मनुष्य को पकड़ने के लिये या किसी मनुष्य को लात मारने के लिये हाथ-पैर हिलाने की इच्छा में बहुत भेद है। पहली इच्छा केवल कर्म करने की ही है। उसमें कोई दूसरा हेतु नहीं है; और यदि यह इच्छा छोड़ दी जाय, तो कर्म का करना ही रुक जायगा। इस इच्छा के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य को इस बात का ज्ञान भी होना चाहिये, कि हरएक कर्म का कुछ-न-कुछ फल अथवा परिणाम अवश्य ही होगा। बल्की ऐसे ज्ञान के साथ साथ उसे इस बात की इच्छा भी अवश्य होनी चाहिये, कि मैं अमुक फलप्राप्ति के लिये अमुक प्रकार की योजना करके ही अमुक कर्म करना चाहता हूँ। नहीं तो उसके सभी कार्य पागलों के-से निरर्थक हुआ करेंगे। ये सब इच्छाएँ, हेतु, योजनाएँ, परिणाम में दुःखकारक नहीं होतीं; और, गीता का यह कथन भी नहीं है, कि कोई उनको छोड़ दें। परन्तु स्मरण रहे, कि स्थिति से बहुत आगे बढ़ कर जब मनुष्य के मन में यह भाव होता है, कि "मैं जो कर्म करता हूँ, मेरे उस कर्म का अमुक फल मुझे अवश्य ही मिलना चाहिये" – अर्थात् जब कर्मफल के विषय में, कर्ता की बुद्धि में ममत्व की यह आसक्ति, अभिमान, अभिनिवेश, आग्रह या इच्छा उत्पन्न हो जाती है और मन उसी से ग्रस्त हो जाता है – और जब इच्छानुसार फल मिलने में बाधा होने लगती है, तभी दुःख-परम्परा का प्रारम्भ हुआ करता है। यदि यह बाधा अनिवार्य अथवा दैवकृत हो, तो केवल निराशामात्र होती है; परन्तु वही कहीं मनुष्यकृत हुई तो फिर क्रोध और द्वेष भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे कुकर्म होने पर मर मिटना पड़ता है। कर्म के परिणाम के विषय में जो यह ममत्वयुक्त आसक्ति होती है, उसी को 'फलाशा', 'संग', और 'अहंकारबुद्धि' कहते हैं; और यह बतलाने के लिये, कि संसार की दुःखपरम्परा यहीं से शुरू होती है, गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है, कि विषय-संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह और अन्त में मनुष्य का नाश भी होता है (गी. २.६२, ६३)। अब यह बात सिद्ध हो गई, कि जड सृष्टि के अचेतन कर्म स्वयं दुःख के मूल कारण नहीं हैं, किन्तु मनुष्य उनमें जो फलाशा, संग, काम या इच्छा लगाये रहता है, वही यथार्थ में दुःख का मूल है। ऐसे दुःखों से बचे रहने का सहज उपाय यही है, कि सिर्फ़ विषय की फलाशा, संग, काम या आसक्ति को मनोनिग्रहद्वारा छोड़ देना चाहिये।

संन्यासमार्गियों के कथनानुसार सब विषयों और कर्मों ही को, अथवा सब प्रकार की इच्छाओं ही को, छोड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी लिये गीता (२. ६४) में कहा है, कि जो मनुष्य फलाशा को छोड़ कर यथाप्राप्त विषयों का निष्काम और निस्संगबुद्धि से सेवन करता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ है। संसार के कर्म-व्यवहार कभी रुक नहीं सकते। मनुष्य चाहे इस संसार में रहे या न रहे; परन्तु प्रकृति अपने गुणधर्मानुसार सदैव अपना व्यापार करती ही रहेगी। जड प्रकृति को न तो इसमें कुछ सुख है, और न दुःख। मनुष्य व्यर्थ अपनी महत्ता समझ कर प्रकृति के व्यवहारों में आसक्त हो जाता है। इसी लिये वह सुख-दुःख का भागी हुआ करता है। यदि वह इस आसक्त-बुद्धि को छोड़ दे और अपने सब व्यवहार इस भावना से करने लगे, कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी. ३. २८) – प्रकृति के गुणधर्मानुसार ही सब व्यापार हो रहे हैं, तो असन्तोषजन्य कोई भी दुःख उसको हो ही नहीं सकता। इस लिये यह समझ कर, कि प्रकृति तो अपना व्यापार करती ही रहती है; उसके लिये संसार को दुःखप्रधान मान कर रोते नहीं रहना चाहिये; और न उसको त्यागने ही का प्रयत्न करना चाहिये। महाभारत (शां. २५, २६) में व्यासजी ने युधिष्ठिर को यह उपदेश दिया है कि :–

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥

"चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जो जिस समय जैसा प्राप्त हो वह उस समय वैसा ही, मन को निराश न करते हुए (अर्थात् निखट्टू बनकर अपने कर्तव्य को न छोड़ते हुए) सेवन करते रहो!" इस उपदेश का महत्त्व पूर्णतया तभी ज्ञात हो सकता है, जब कि हम इस बात को ध्यान में रखें, कि संसार में अनेक कर्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें दुःख सह कर भी करना पड़ता है। भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ का यह लक्षण बतलाया है, कि "यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्' (२. ५७.) – अर्थात् शुभ अथवा अशुभ जो कुछ आ पड़े, उस के बारे में जो सदा निष्काम या निस्संग रहता है, और जो उसका अभिनंदन या द्वेष कुछ भी नहीं करता, वही स्थितप्रज्ञ है। फिर पाँचवे अध्याय (५. २०) में कहा है, कि 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' – सुख पा कर फूल न जाना चाहिये और दुःख में कातर भी न होना चाहिये। एवं दूसरे अध्याय (२. १४, १५) में इन सुख-दुःखों को निष्काम-बुद्धि से भोगने का उपदेश किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसी उपदेश को बार बार दुहराया है (गी. ५. ६; १३. ९)। वेदान्तशास्त्र की परिभाषा में उसी को 'सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करना' कहते हैं। और भक्तिमार्ग में 'ब्रह्मार्पण' के बदले 'श्रीकृष्णार्पण' शब्द की योजना की जाती है। बस, यही गीतार्थ का सारांश है।

कर्म चाहे किसी भी प्रकार का हो, परन्तु कर्म करने की इच्छा और उद्योग को बिना छोड़े, तथा फल-प्राप्ति की आसक्ति न रख कर (अर्थात् निस्संगबुद्धि से) उसे करते रहना चाहिये; और साथ साथ हमें भविष्य में परिणाम-स्वरूप में मिलनेवाले सुख-दुःखों को भी एक ही समान भोगने के लिये तैयार रहना चाहिये। ऐसा करने से अमर्यादित तृष्णादि और असन्तोषजनित दुष्परिणामों से तो हम बचेंगे ही; परंतु दूसरा लाभ यह होगा, कि तृष्णा या असन्तोष के साथ साथ कर्म को भी त्याग देने से जीवन के ही नष्ट हो जाने का जो प्रसंग आ सकता है, वह भी नहीं आ सकेगा; और हमारी मनोवृत्तियाँ शुद्ध हो कर प्राणिमात्र के लिये हितप्रद हो जायेंगी। इसमें सन्देह नहीं, कि इस तरह फलाशा छोड़ने के लिये भी इन्द्रियों का और मन का वैराग्य से पूरा दमन करना पड़ता है; परन्तु स्मरण रहे, कि इन्द्रियों को स्वाधीन करके स्वार्थ के बदले वैराग्य से तथापि निष्काम-बुद्धि से लोकसंग्रह के लिये उन्हें अपने अपने व्यापार करने देना कुछ और बात है; और संन्यास-मार्गानुसार तृष्णा को मारने के लिये इन्द्रियों के सभी व्यापारों को अर्थात् कर्मों को आग्रहपूर्वक समूल नष्ट कर डालना बिलकुल ही भिन्न बात है। इन दोनों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। गीता में जिस वैराग्य का और जिस इन्द्रियनिग्रह का उपदेश किया गया है, वह पहले प्रकार का है; दूसरे प्रकार का नहीं; और उसी तरह अनुगीता (महा. अश्व. ३२. १७–२३) में जनक-ब्राह्मण-संवाद में राजा जनक ब्राह्मणरूपधारी धर्म से कहते हैं कि :–

शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम।
नाहमात्मार्थमिच्छामि गंधान् घ्राणगतानपि॥

... ...

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा॥

–अर्थात् "जिस (वैराग्य) बुद्धि को मन में धारण करके मैं सब विषयों का सेवन करता हूँ, उसका हाल सुनो। नाक से मैं 'अपने लिये' वास नहीं लेता (आँखों से मैं 'अपने लिये' नहीं देखता, इत्यादि), और मन का भी उपयोग मैं आत्मा के लिये, अर्थात् अपने लाभ के लिये नहीं करता। अतएव मेरी नाक (आँख इत्यादि) और मन मेरे वश में हैं, अर्थात् मैंने उन्हें जीत लिया है।", गीता के वचन (गी. ३. ६, ७) का भी यही तात्पर्य है, कि जो मनुष्य केवल इन्द्रियों की वृत्ति को तो रोक देता है, और मन से विषयों का चिंतन करता रहता है, वह पूरा ढोंगी है; और जो मनुष्य मनोनिग्रहपूर्वक काम्य-बुद्धि को जीत कर, सब मनोवृत्तियों को लोकसंग्रह के लिये अपना अपना काम करने देता है, वही श्रेष्ठ है। बाह्य-जगत् या इंद्रियों के व्यापार हमारे उत्पन्न किये हुए नहीं

हैं, वे स्वभावसिद्ध हैं। हम देखते हैं, जब कोई संन्यासी बहुत भूखा होता है तब उसको – चाहे वह कितना ही निग्रही हो – भीख माँगने के लिये कहीं बाहर जाना ही पड़ता है (गी. ३. ३३); और, बहुत देर तक एक ही जगह बैठे रहने से ऊब कर वह उठ खड़ा हो जाता है। तात्पर्य यह है, कि निग्रह चाहे जितना हो; परन्तु इंद्रियों के जो स्वभावसिद्ध व्यापार हैं वे कभी नहीं छूटते। और यदि यह बात सच है, तो इंद्रियों की वृत्ति तथा सब कर्मों को और सब प्रकार की इच्छा या असन्तोष को नष्ट करने के दुराग्रह में न पड़ना (गी. २. ४७; १८. ५६), एवं मनोनिग्रहपूर्वक फलाशा छोड़ कर सुख-दुःख को एक-बराबर समझना (गी. २. ३८), तथा निष्कामबुद्धि से लोकहित के लिये कर्मों का शास्त्रोक्त रीति से करते रहना ही, श्रेष्ठ तथा आदर्श मार्ग है। इसी लिये –

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

इस श्लोक में (गी. २. ४७) श्रीभगवान् अर्जुन को पहले यह बतलाते हैं, कि तू इस कर्मभूमि में पैदा हुआ है। इसलिये 'तुझे कर्म करने का ही अधिकार है;' परन्तु इस बात को भी ध्यान में रख, कि तेरा यह अधिकार केवल (कर्तव्य) कर्म करने का ही है। 'एव' पद का अर्थ है 'केवल'; जिससे यह सहज विदित होता है, कि मनुष्य का अधिकार कर्म के सिवा अन्य बातों में – अर्थात् कर्मफल के विषय में – नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण बात केवल अनुमान पर ही अवलंबित नहीं रख दी है; क्योंकि दूसरे चरण में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है, कि 'तेरा अधिकार कर्मफल के विषय में कुछ भी नहीं है।' अर्थात् किसी कर्म का फल मिलना – न मिलना तेरे अधिकार की बात नहीं है। वह सृष्टि के कर्मविपाक पर या ईश्वर पर अवलम्बित है। फिर जिस बात में हमारा अधिकार ही नहीं है उसके विषय में आशा करना – कि वह अमुक प्रकार हो – केवल मूर्खता का लक्षण है; परन्तु यह तीसरी बात भी अनुमान पर अवलंबित नहीं है। तीसरे चरण में कहा गया है, कि 'इसलिये तू कर्म-फल की आशा रख कर किसी भी काम को मत कर।' क्योंकि, कर्मविपाक के अनुसार तेरे कर्मों का जो फल होता होगा वह अवश्य होगा ही। तेरी इच्छा से उसमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो सकती; और उसके देरी से या जल्दी से हो जाने ही की संभावना है। परन्तु यदि तू ऐसी आशा रखेगा या आग्रह करेगा, तो तुझे केवल व्यर्थ दुःख ही मिलेगा। अब यहाँ कोई कोई – विशेषतः संन्याससमार्गी पुरुष – प्रश्न करेंगे, कि कर्म करके फलाशा छोड़ने के झगड़े में पड़ने की अपेक्षा कर्माचरण को ही छोड़ देना क्या अच्छा नहीं होगा? इसलिये भगवान् ने अन्त में अपना निश्चित मत भी बतला दिया है, कि 'कर्म न करने का (अकर्मणि) तू हठ मत कर। तेरा जो अधिकार है उसके अनुसार –

परन्तु फलाशा छोड़ कर – कर्म करता जा। ' कर्मयोग की दृष्टि से ये सब सिद्धान्त इतने महत्त्वपूर्ण हैं, कि उक्त श्लोकों के चारों चरणों को यदि हम कर्मयोगशास्त्र या गीताधर्म के चतुःसूत्र भी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यह मालूम हो गया, कि इस संसार में सुख-दुःख हमेशा क्रम से मिला करते हैं; और यहाँ सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा अधिक है। ऐसी अवस्था में भी जब यह सिद्धान्त बतलाया जाता है, कि सांसारिक कर्मों को छोड़ नहीं देना चाहिये; तब कुछ लोगों की यह समझ हो सकती है, कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति करने – और अत्यन्त सुख प्राप्त करने – के सब मानवी प्रयत्न व्यर्थ हैं। और, केवल आधिभौतिक अर्थात् इंद्रियगम्य बाह्य विषयोपभोगरूपी सुखों को ही देखें, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि उनकी यह समझ ठीक नहीं है। सच है; यदि कोई बालक पूर्णचंद्र को पकड़ने के लिये हाथ फैला दें, तो जैसे आकाश का चंद्रमा उस के साथ में कभी नहीं आता; उसी तरह आत्यन्तिक सुख की आशा रख कर केवल आधिभौतिक सुख के पीछे लगे रहने से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति कभी नहीं होगी। परन्तु स्मरण रहे, आधिभौतिक सुख ही समस्त प्रकार के सुखों का भाण्डार नहीं है। इसलिये उपर्युक्त कठिनाई में भी आत्यन्तिक और नित्य सुख-प्राप्ति का मार्ग ढूँढ़ लिया जा सकता है। यह ऊपर बतलाया जा चुका है, कि सुखों के दो भेद हैं – एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। शरीर अथवा इन्द्रियों के व्यापारों की अपेक्षा मन को ही अन्त में अधिक महत्त्व देना पड़ता है। ज्ञानी पुरुष जो यह सिद्धान्त बतलाते हैं, कि शारीरिक (अर्थात् आधिभौतिक) सुख की अपेक्षा मानसिक सुख की योग्यता अधिक है, उसे वे कुछ अपने ज्ञान की घमंड से नहीं बतलाते। प्रसिद्ध आधिभौतिकवादी मिल ने भी अपने उपयुक्ततावादविषयक ग्रन्थ में साफ़ साफ़ मंजूर किया है,* कि उक्त सिद्धान्त में ही श्रेष्ठ मनुष्यजन्म की सच्ची सार्थकता और महत्ता है। कुत्ते, शूकर और बैल इत्यादि को भी इंद्रियसुख का आनंद मनुष्यों के समान ही होता है; और मनुष्य की यदि यह समझ होती, कि संसार में सच्चा सुख विषयोपयोग ही है; तो मनुष्य पशु बनने पर भी राजी हो गया होता। परन्तु पशुओं के सब विषय-सुखों के नित्य मिलने का अवसर आने पर भी कोई मनुष्य पशु होने को राजी नहीं होता। इससे यही विदित होता है, कि मनुष्य और पशु में कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषता को समझने

* "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied; better to be Socrates dissatisfied than a fool satisfied. And if the fool, or the pig, if of a different opinion, it is because they only know their own side of the question." *Utilitarianism* : p. 14 (Longmans 1907).

के लिये, उस आत्मा के स्वरूप का विचार करना पड़ता है, जिसे मन और बुद्धि-द्वारा स्वयं अपना और बाह्यसृष्टि का ज्ञान होता है; और, ज्योंही यह विचार किया जायगा, त्योंही स्पष्ट मालूम हो जायगा, कि पशु और मनुष्य के लिये विषयोपभोग-सुख तो एक ही सा है; परन्तु इसकी अपेक्षा मन और बुद्धि के अत्यन्त उदात्त व्यापार में तथा शुद्धावस्था में जो सुख है, वही मनुष्य का श्रेष्ठ और आत्यन्तिक सुख है। यह सुख आत्मवश है, इसकी प्राप्ति किसी बाह्यवस्तु पर अवलम्बित नहीं है; इसकी प्राप्ति के लिये दूसरों के सुख को न्यून करने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है। यह सुख अपने ही प्रयत्न से हमी को मिलता है। और ज्यों ज्यों हमारी उन्नति होती जाती है, त्यों त्यों इस सुख का स्वरूप भी अधिकाधिक शुद्ध और निर्मल होता चला जाता है। भर्तृहरि ने सच कहा है, कि ' मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ' – मन के प्रसन्न होने पर क्या दरिद्रता और क्या अमीरी, दोनों समान ही हैं। प्लेटो नामक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता ने भी यह प्रतिपादन किया है, कि शारीरिक (अर्थात् बाह्य आधिभौतिक) सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ है, और मन के सुखों से भी बुद्धिग्राह्य (अर्थात् परम आध्यात्मिक) सुख अत्यन्त श्रेष्ठ है*। इसलिये यदि हम अभी मोक्ष के विचार को छोड़ दें, तो भी यही सिद्ध होता है, कि जो बुद्धि आत्मविचार में निमग्न हो, उसे ही परम सुख मिल सकता है। इसी कारण भगवद्गीता में सुख के (सात्त्विक, राजस और तामस) तीन भेद किये गये हैं; और इनका लक्षण भी बतलाया गया है। यथाः– आत्मनिष्ठ बुद्धि (अर्थात् सब भूतों में एक ही आत्मा को जान कर, आत्मा के उसी सच्चे स्वरूप में रत होनेवाली बुद्धि) की प्रसन्नता से जो आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ और सात्त्विक सुख है – " तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं आत्म-बुद्धि-प्रसादजम् " (गी. १८. ३७); जो आधिभौतिक सुख इंद्रियों से और इंद्रियों के विषयों से होता है, वे सात्त्विक सुखों से कम दर्जे के होते हैं, और राजस कहलाते हैं (गी. १८. ३८)। और जिस सुख से चित्त को मोह होता है, तथा जो सुख, निद्रा या आलस्य से उत्पन्न होता है, उसकी योग्यता तामस अर्थात् कनिष्ठ श्रेणी की है। इस प्रकरण के आरम्भ में गीता का जो श्लोक दिया है, उसका यही तात्पर्य है। और गीता (६. २२) में कहा है, कि इस परम सुख का अनुभव मनुष्य को यदि एक बार भी हो जाता है, तो फिर उसकी यह सुखमय स्थिति कभी नहीं डिगने पाती। कितने ही भारी दुःख के ज़बरदस्त धक्के क्यों न लगते रहें; यह आत्यन्तिक सुख स्वर्ग के भी विषयोपभोगसुख में नहीं मिल सकता। इसे पाने के लिये पहले अपनी बुद्धि प्रसन्न होनी चाहिये। जो मनुष्य बुद्धि को प्रसन्न करने की युक्ति को बिना सोचे-समझे केवल विषयोपभोग में ही निमग्न हो जाता है, उसका सुख अनित्य और क्षणिक होता है। इसका कारण यह है, कि जो इंद्रिय

* *Republic, Book* IX.

सुख आज है, वह कल नहीं रहता। इतना ही नहीं; किन्तु जो बात हमारी इंद्रियों को आज सुखकारक प्रतीत होती है, वही किसी कारण से दूसरे दिन दुःखमय हो जाती है। उदाहरणार्थ, ग्रीष्म ऋतु में जो ठंडा पानी हमें अच्छा लगता है, वही शीतकाल में अप्रिय हो जाता है। अस्तु, इतना करने पर भी उससे सुखेच्छा की पूर्ण तृप्ति होने ही नहीं पाती। इसलिये, सुख शब्द का व्यापक अर्थ ले कर यदि हम उस शब्द का उपयोग सभी प्रकार के सुखों के लिये करें; तो हमें सुख-सुख में भी भेद करना पड़ेगा। नित्य व्यवहार में सुख का अर्थ मुख्यतः इंद्रियसुख ही होता है। परन्तु जो सुख इंद्रियातीत है, अर्थात् जो केवल आत्मनिष्ठ बुद्धि को ही प्राप्त हो सकता है, उसमें और विषयोपभोग-रूपी सुख में जब भिन्नता प्रकट करनी हो, तब आत्मबुद्धि-प्रसाद से उत्पन्न होनेवाले सुख को – अर्थात् आध्यात्मिक सुख को – श्रेय, कल्याण, हित, आनन्द अथवा शान्ति कहते हैं; और विषयोपभोग से होनेवाले आधिभौतिक सुख को केवल सुख या प्रेय कहते हैं। पिछले प्रकरण के अन्त में दिये हुए कठोपनिषद् के वाक्य में, प्रेय और श्रेय में नचिकेता ने जो भेद बतलाया है, उसका भी अभिप्राय यही है। मृत्यु ने उसे अग्नि का रहस्य पहले ही बतला दिया था। परन्तु इस सुख के मिलने पर भी जब उसने आत्मज्ञान-प्राप्ति का वर माँगा, तब मृत्यु ने उसके बदले में उसे अनेक सांसारिक सुखों का लालच दिखलाया। परन्तु नचिकेता इन अनित्य आधिभौतिक सुखों को कल्याणकारक नहीं समझता था। क्योंकि ये (प्रेय) सुख बाहरी दृष्टि से अच्छे हैं, पर आत्मा के श्रेय के लिये नहीं। इसी लिये उसने उन सुखों की ओर ध्यान नहीं दिया। किन्तु उस आत्मविद्या की प्राप्ति के लिये ही हठ किया; जिसका परिणाम आत्मा के लिये श्रेयस्कर या कल्याणकार है, और उसे अन्त में पाकर ही छोड़ा। सारांश यह है, कि आत्म-बुद्धि-प्रसाद से होनेवाले केवल बुद्धिगम्य सुख को – अर्थात् आध्यात्मिक सुख को – ही हमारे शास्त्रकार श्रेष्ठ सुख मानते हैं। और उनका कथन है, कि यह नित्य आत्मवश है, इसलिये सभी को प्राप्त हो सकता है; तथा सब लोगों को चाहिये, कि वे इनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करें। पशु-धर्म से होनेवाले सुख में; और मानवी सुख में जो कुछ विशेषता या विलक्षणता है, वह यही है; और यह आत्मानन्द केवल बाह्य उपाधियों पर कभी निर्भर न होने के कारण सब सुखों में नित्य, स्वतंत्र और श्रेष्ठ है। इसी को गीता में निर्वाण, अर्थात् परम शान्ति कहा है (गी. ६. १५), और यही स्थितप्रज्ञों की ब्राह्मी अवस्था की परमावधि का सुख है (गी. २. ७१; ६. २८; १२. १२; १८. ६२ देखो)।

अब इस बात का निर्णय हो चुका, कि आत्मा की शान्ति या सुख ही अत्यन्त श्रेष्ठ है; और वह आत्मवश होने के कारण सब लोगों को प्राप्य भी है। परंतु यह प्रकट है, कि यद्यपि सब धातुओं में सोना अधिक मूल्यवान् है, तथापि केवल

सोने से ही – लोहा इत्यादि अन्य धातुओं के बिना – जैसे संसार का काम नहीं चल सकता, अथवा जैसे केवल शक्कर से ही – बिना नमक के काम नहीं चल सकता, उसी तरह आत्मसुख या शान्ति को भी समझना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं, कि इस शान्ति के साथ – शरीर-धारण के लिये सही कुछ सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता है; और इसी अभिप्राय से आशीर्वाद के संकल्प में केवल 'शान्तिरस्तु' न कह कर 'शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु' – कि शान्तिके साथ पुष्टि और तुष्टि भी चाहिये, कहने की रीति है। यदि शास्त्रकारों की यह समझ होती, कि केवल शान्ति से ही तुष्टि हो जा सकती है, तो इस संकल्प में 'पुष्टि' शब्द को व्यर्थ घुसेड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं है, कि पुष्टि – अर्थात् ऐहिक सुखों की वृद्धि के लिये रात-दिन हाय हाय करते रहो। उक्त संकल्प का भावार्थ यही है, कि तुम्हें शान्ति, पुष्टि और तुष्टि (सन्तोष) तीनों उचित परिमाण से मिलें; और इनकी प्राप्ति के लिये तुम्हें यत्न भी करना चाहिये। कठोपनिषद् का भी यही तात्पर्य है। नचिकेता जब मृत्यु के अर्थात् यम के लोक में गया तब यम ने उससे कहा, कि तुम कोई भी तीन वर माँग लो; उस समय नचिकेता ने एकदम यह वर नहीं माँगा, की मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करो। किन्तु उसने कहा, कि 'मेरे पिता मुझपर अप्रसन्न हैं, इसलिये प्रथम वर आप मुझे यही दीजिये, कि वे मुझपर प्रसन्न हो जावें।' अनन्तर उसने दूसरा वर माँगा कि 'अग्नि के – अर्थात् ऐहिक समृद्धि प्राप्त करा देनेवाले यज्ञ आदि कर्मों के – ज्ञान का उपदेश करो।' इन दोनों वरों को प्राप्त करके अन्त में उसने तीसरा वर यह माँगा, कि 'मुझे आत्मविद्या का उपदेश करो।' परन्तु जब यमराज कहने लगे' कि इस तीसरे वर के बदले में तुझे और भी अधिक सम्पत्ति देता हूँ; तब – अर्थात् प्रेय (सुख) की प्राप्ति के लिये आवश्यक यज्ञ आदि कर्मों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उसी की अधिक आशा न करके – नचिकेता ने इस बात का आग्रह किया, कि 'अब मुझे श्रेय (आत्यन्तिक सुख) की प्राप्ति करा देनेवाले ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश करो।' सारांश यह है, कि इस उपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में जो वर्णन है, उसके अनुसार 'ब्रह्मविद्या' और 'योगविधि' (अर्थात् यज्ञ-याग आदि कर्म) दोनों को प्राप्त करके नचिकेता मुक्त। हो गया है (कठ. ६. १८)। इससे ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही इस उपनिषद् का तात्पर्य मालूम होता है। इसी विषय पर इन्द्र की भी एक कथा है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है, कि इन्द्र तो स्वयं ब्रह्मज्ञानी था ही, परन्तु उसने प्रतर्दन को भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था। तथापि जब इन्द्र का राज छिन लिया गया और प्रल्हाद को। त्रैलोक्य का आधिपत्य मिला, तब उसने देवगुरु बृहस्पति से पूछा, कि 'मुझे बतलाइये कि श्रेय किस में है ?' तब बृहस्पति ने राज्यभ्रष्ट इन्द्र को ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञान का उपदेश करके कहा, कि 'श्रेय इसी में है' – एतावच्छ्रेय इति – परन्तु इससे इन्द्र का

समाधान नहीं हुआ। उसने फिर प्रश्न किया, 'क्या और भी कुछ अधिक है?' – को विशेषो भवेत्? – तब बृहस्पति ने उसे शुक्राचार्य के पास भेजा! वहाँ भी वही हाल हुआ; और शुक्राचार्य ने कहा, कि 'प्रल्हाद को वह विशेषता मालूम है।' तब अन्त में इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके प्रल्हाद का शिष्य बन कर सेवा करने लगा। एक दिन प्रल्हाद ने उससे कहा, कि शील (सत्य तथा धर्म से चलने का स्वभाव) ही त्रैलोक्य का राज्य पाने की कुंजी है और यही श्रेय है। अनन्तर, जब प्रल्हाद ने कहा, कि 'मैं तेरी सेवा से प्रसन्न हूँ, तू वर माँग,' तब ब्राह्मण-वेशधारी इन्द्र ने यही वर माँगा, कि 'आप अपना शील मुझे दीजिये।' प्रल्हाद के 'तथास्तु' कहते ही उसके 'शील' के साथ धर्म, सत्य, वृत्त, श्री अथवा ऐश्वर्य आदि सब देवता उसके शरीर से निकल कर इन्द्र-शरीर में प्रविष्ट हो गये। फलतः इन्द्र अपना राज्य पा गया। यह प्राचीन कथा भीष्म ने युधिष्ठिर से महाभारत के शान्तिपर्व (शां. १२४) में कही है। इस सुंदर कथा से हमें यह बात साफ़ मालूम हो जाती हैं, कि केवल ऐश्वर्य की अपेक्षा केवल आत्मज्ञान की योग्यता भले अधिक हो जाती है, परन्तु जिसे इस संसार में रहना है, उसको अन्य लोगों के समान भी अपने लिये तथा अपने देश के लिये, ऐहिक समृद्धि प्राप्त कर लेने की आवश्यकता और नैतिक हक़ भी है। इसलिये जब यह प्रश्न उठे, कि इस संसार में मनुष्य का सर्वोत्तम ध्येय परम उद्देश क्या है, तो हमारे कर्मयोगशास्त्र में अन्तिम उत्तर यही मिलता है, कि शान्ति और पुष्टि, प्रेय और श्रेय अथवा ज्ञान और ऐश्वर्य दोनों को एक साथ प्राप्त करो। सोचने की बात है, कि जिन भगवान् से बढ़ कर संसार में कोई श्रेष्ठ नहीं और जिनके दिखलाये हुए मार्ग में अन्य सभी लोग चलते हैं (गी. ३. २३), उन भगवान् ने ही क्या ऐश्वर्य और सम्पत्ति को छोड़ दिया है?

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

अर्थात् 'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, संपत्ति, ज्ञान, और वैराग्य इन छः बातों को 'भग'। कहते हैं।' भग शब्द की ऐसी व्याख्या पुराणों में है (विष्णु ६. ५. ७४)। कुछ लोग इस श्लोक के 'ऐश्वर्य' शब्द का अर्थ 'योगैश्वर्य' किया करते हैं। क्योंकि 'श्री' अर्थात् संपत्तिसूचक शब्द आगे आया है। परन्तु व्यवहार में ऐश्वर्य शब्द में सत्ता, यश और संपत्ति का, तथा ज्ञान में वैराग्य और धर्म का समावेश हुआ करता है। इससे हम बिना किसी बाधा के कह सकते हैं, कि लौकिक दृष्टि से उक्त श्लोक का सब अर्थ ज्ञान और ऐश्वर्य इन्हीं दो शब्दों से व्यक्त हो जाता है। और जबकि स्वयं भगवान् ने ही ज्ञान और ऐश्वर्य को अंगीकार किया है, तब हमें भी अवश्य करना चाहिये (गी. ३. २१; म. भा. शां. ३४१. ३५)। कर्मयोगमार्ग

का सिद्धान्त यह कदापि नहीं, कि कोरा आत्मज्ञान ही इस संसार में परम साध्य वस्तु है। यह तो संन्यासमार्ग का सिद्धान्त है; जो कहता है, कि संसार दुःखमय है; इसलिये उसको एकदम छोड़ ही देना चाहिये। भिन्न भिन्न मार्गों के इन सिद्धान्तों को एकत्र करके गीता के अर्थ का अनर्थ करना उचित नहीं है। स्मरण रहे, गीता का ही कथन है, कि ज्ञान के विना केवल ऐश्वर्य सिवा आसुरी संपत् के और कुछ नहीं है। इसलिये यही सिद्ध होता है, कि ऐश्वर्य के साथ ज्ञान, और ज्ञान के साथ ऐश्वर्य, अथवा शान्ति के साथ पुष्टि, हमेशा होनी चाहिये। ऐसा कहने पर कि ज्ञान के साथ ऐश्वर्य होना अत्यावश्यक है; कर्म करने की आवश्यकता आप-ही-आप उत्पन्न होती है। क्योंकि मनु का कथन है 'कर्मण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते' (मनु. ९. ३००) – कर्म करनेवाले पुरुष को ही इस जगत् में श्री अथवा ऐश्वर्य मिलता है, और प्रत्यक्ष अनुभव से भी यही बात सिद्ध होती है; एवं गीता में जो उपदेश अर्जुन को दिया गया है, वह भी ऐसा ही है (गी. ३. ८)। इस पर कुछ लोगों का कहना है, कि मोक्ष की दृष्टि से कर्म की आवश्यकता न होने के कारण अन्त में – अर्थात् ज्ञानोत्तर अवस्था में – सब कर्मों को छोड़ देना ही चाहिये। परन्तु यहाँ तो केवल सुख-दुःख का विचार करना है। और अब तक मोक्ष तथा कर्म के स्वरूप की। परीक्षा भी नहीं की गई है; इसलिये उक्त आक्षेप का उत्तर यहाँ नहीं दिया जा सकता। आगे नौवें तथा दसवें प्रकरण में अध्यात्म और कर्मविपाक का स्पष्ट विवेचन कर के ग्यारहवें प्रकरण में बतला दिया जायगा, कि यह आक्षेप भी बेसिर-पैर का है।

सुख और दुःख दो भिन्न तथा स्वतंत्र वेदनाएँ हैं। सुखेच्छा केवल सुखोपभोग से ही तृप्त नहीं हो सकती। इसलिये संसार में बहुधा दुःख का ही अधिक अनुभव होता है। परन्तु इस दुःख को टालने के लिये तृष्णा या असंतोष और सब कर्मों का भी समूल नाश करना उचित नहीं। उचित यही है, कि फलाशा छोड़ कर सब कर्मों को करते रहना चाहिये। केवल विषयोपभोग-सुख कभी पूर्ण होनेवाला नहीं। वह अनित्य और पशुधर्म है। अतएव इस संसार में बुद्धिमान् मनुष्य का सच्चा ध्येय इस अनित्य पशुधर्म से ऊंचे दर्जे का होना चाहिये। आत्मबुद्धि-प्रसाद से प्राप्त होनेवाला शान्ति-सुख ही वह सच्चा ध्येय है; परन्तु आध्यात्मिक सुख ही यद्यपि इस प्रकार ऊंचे दर्जे का हो, तथापि उसके साथ इस सांसारिक जीवन में ऐहिक वस्तुओं की भी उचित आवश्यकता है; और इसलिये सदा निष्काम-बुद्धि से प्रयत्न अर्थात् कर्म करते ही रहना चाहिये। – इतनी सब बातें जब कर्मयोगशास्त्र के अनुसार सिद्ध हो चुकी, तो अब सुख की दृष्टि से भी विचार करने पर यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, कि आधिभौतिक सुखों को ही परम साध्य मान कर कर्मों के केवल सुखदुःखात्मक बाह्यपरिणामों के तारतम्य से ही नीतिमत्ता का निर्णय करना अनुचित है। कारण यह है, कि

जो वस्तु कभी पूर्णावस्था को पहुँच ही नहीं सकती, उसे परम साध्य कहना मानो 'परम' शब्द का दुरुपयोग करके मृगजल के स्थान में जल की खोज करना है। जब हमारा परम साध्य ही अनित्य तथा अपूर्ण है, तब उसकी आशा में बैठे रहने से हमें अनित्य-वस्तु को छोड़ कर और मिलेगा ही क्या ? 'धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये' इस वचन का मर्म भी यही है। 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' इस शब्दसमूह के 'सुख' शब्द के अर्थ के विषय में आधिभौतिकवादियों में भी बहुत मतभेद हैं। उनमें से बहुतेरों का कहना है, कि बहुधा मनुष्य सब विषय-सुखों को लात मार कर केवल सत्य अथवा धर्म के लिये जान देने को तैयार हो जाता है। इससे यह मानना अनुचित है, कि मनुष्य की इच्छा सदैव आधिभौतिक सुख-प्राप्ति की ही रहती है। इसलिये उन पंडितों ने यह सूचना की है, कि सुख शब्द के बदले में हित अथवा कल्याण शब्द की योजना करके 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' इस सूत्र का रूपान्तर 'अधिकांश लोगों का अधिक हित या कल्याण' कर देना चाहिये। परन्तु, इतना करने पर भी इस मत में यह दोष बना ही रहता है, कि कर्ता की बुद्धि का कुछ भी विचार नहीं किया जाता। अच्छा; यदि यह कहें, कि विषय-सुखों के साथ मानसिक सुखों का भी विचार करना चाहिये; तो उसके आधिभौतिक पक्ष की इस पहली ही प्रतिज्ञा का विरोध हो जाता है, कि किसी भी कर्म की नीतिमत्ता का निर्णय केवल उसके बाह्य-परिणामों से ही करना चाहिये; और तब तो किसी-न-किसी अंश में अध्यात्म-पक्ष को ही स्वीकार करना पड़ता है। जब इस रीति से अध्यात्म-पक्ष को स्वीकार करना ही पड़ता है, तो उसे अधूरा या अंशतः स्वीकार करने से क्या लाभ होगा ? इसी लिये हमारे कर्मयोग-शास्त्र में यह अन्तिम सिद्धान्त निश्चित किया गया है, कि सर्वभूतहित—अधिकांश लोगों का अधिक सुख—और मनुष्यत्व का परम उत्कर्ष इत्यादि नीतिनिर्णय के सब बाह्यसाधनों को अथवा आधिभौतिक मार्ग को गौण या अप्रधान समझना चाहिये; और आत्मप्रसाद-रूपी आत्यन्तिक सुख तथा उसी के साथ रहनेवाली कर्ता की शुद्ध-बुद्धि को ही आध्यात्मिक कसौटी जान कर उसी से कर्म-अकर्म की परीक्षा करनी चाहिये। उन लोगों की बात छोड़ दो, जिन्होंने यह कसम खा ली हो, कि हम दृश्य सृष्टि के परे तत्त्वज्ञान में प्रवेश ही न करेंगे। जिन लोगों ने ऐसी कसम खाई नहीं है, उन्हें युक्ति से यह मालूम हो जायगा, कि मन और बुद्धि के भी परे जा कर नित्य आत्मा के नित्य कल्याण को ही कर्मयोग-शास्त्र में प्रधान मानना चाहिये। कोई कोई भूल से समझ बैठते हैं, कि जहाँ एक बार वेदान्त में घुसे, कि बस, फिर सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाता है; और वहाँ व्यवहार की उपपत्ति का कुछ पता ही नहीं चलता। आजकल जितने वेदान्त-विषयक ग्रन्थ पढ़े जाते हैं, वे प्रायः संन्यास-मार्ग के अनुयायियों के ही लिखे हुए हैं; और संन्यास-मार्गवाले इस तृष्णारूपी

संसार के सब व्यवहारों को निःसार समझते हैं, इसलिये उनके ग्रन्थों में कर्मयोग की ठीक ठीक उपपत्ति सचमुच नहीं मिलती। अधिक क्या कहें; इन परसंप्रदाय-असहिष्णु ग्रन्थकारों ने संन्यासमार्गीय कोटिक्रम या युक्तिवाद को कर्मयोग में सम्मिलित कर के ऐसा भी प्रयत्न किया है, कि जिससे लोग समझने लगे हैं, कि कर्मयोग और संन्यास दो स्वतंत्र मार्ग नहीं है; किन्तु संन्यास ही अकेला शास्त्रोक्त मोक्षमार्ग है। परन्तु यह समझ ठीक नहीं है। संन्यास-मार्ग के समान कर्मयोग-मार्ग भी वैदिक धर्म में अनादि काल से स्वतन्त्रतापूर्वक चला आ रहा है, और इस मार्ग के संचालकों ने वेदान्ततत्त्वों को न छोड़ते हुए कर्म-शास्त्र की ठीक ठीक उपपत्ति भी दिखलाई है। भगवद्गीता ग्रन्थ इसी पन्थ का है। यदि गीता को छोड़ दें, तो भी जान पड़ेगा, कि अध्यात्म-दृष्टि से कार्य-अकार्य-शास्त्र का विवेचन करने की पद्धति ग्रीन सरीखे ग्रन्थकार द्वारा खुद इंग्लैंड में ही शुरू कर दी गई है;* और जर्मनी में तो उससे भी पहले यह पद्धति प्रचलित थी। दृश्यसृष्टि का कितना ही विचार करो; परन्तु जब तक यह बात ठीक मालूम नहीं हो जाती, कि इस विषयसृष्टि को देखनेवाला और कर्म करनेवाला कौन है, तब तक तात्त्विक दृष्टि से इस विषय का भी विचार पूरा हो नहीं सकता, कि इस संसार में मनुष्य का परम साध्य, श्रेष्ठ कर्तव्य या अन्तिम ध्येय क्या है। इसी लिये याज्ञवल्क्य का यह उपदेश है, कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" प्रस्तुत विषय में भी अक्षरशः उपयुक्त होता है। दृश्यजगत् की परीक्षा करने से यदि परोपकार सरीखे तत्त्व ही अन्त में निष्पन्न होते हैं, तो इससे आत्मविद्या का महत्त्व कम तो होता ही नहीं; किन्तु उलटा उससे सब प्राणियों में एक ही आत्मा के होने का एक और सबूत मिल जाता है। इस बात के लिये तो कुछ उपाय ही नहीं है, कि आधिभौतिक-वादी अपनी बनाई हुई मर्यादा से स्वयं बाहर नहीं जा सकते। परन्तु हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि इस संकुचित मर्यादा के परे पहुँच गई है; और इसलिये उन्हों ने आध्यात्मिक दृष्टि से ही कर्मयोगशास्त्र की पूरी उपपत्ति दी है। इस उपपत्ति की चर्चा करने के पहले कर्म-अकर्म-परीक्षा के एक और पूर्वपक्ष का भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। इसलिये अब इसी पन्थ का विवेचन किया जायगा।

---

* *Prolegomena to Ethics*, Book I; and Kant's *Metaphysics of Morals* (Trans. by Abbot in Kant's *Theory of Ethics*).

छठवाँ प्रकरण

आधिदैवतपक्ष और क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्। *

– मनु. ६. ४६

कर्म-अकर्म की परीक्षा करने का – आधिभौतिक मार्ग के अतिरिक्त – दूसरा पंथ आधिदैवतवादियों का है। इस पंथ के लोगों का यह कथन है, कि जब कोई मनुष्य कर्म-अकर्म का या कार्य-अकार्य का निर्णय करता है, तब वह इस झगड़े में नहीं पड़ता, कि किस कर्म से कितना सुख अथवा दुःख होगा; अथवा उनमें से सुख का जोड़ अधिक होगा या दुःख का। वह आत्म-अनात्म-विचार के झंझट में भी नहीं पड़ता; और ये झगड़े बहुतेरों की तो समझ में भी नहीं आते। यह भी नहीं कहा जा सकता, कि प्रत्येक प्राणी प्रत्येक कर्म को केवल अपने सुख के लिये ही करता है। आधिभौतिकवादी कुछ भी कहें; परन्तु यदि इस बात का थोड़ा सा विचार किया जाय, कि धर्म-अधर्म का निर्णय करते समय मनुष्य के मन की स्थिति कैसी होती है, तो यह ध्यान में आ जायगा, कि मन की स्वाभाविक और उदात्त मनोवृत्तियाँ – करुणा, दया, परोपकार आदि – ही किसी काम को करने के लिये मनुष्य को एकाएक प्रवृत्त किया करती हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई भिकारी दीख पड़ता है; तब मन में यह विचार आने के पहले ही – कि 'दान करने से जगत् का अथवा अपनी आत्मा का कितना हित होगा' – मनुष्य के हृदय में करुणावृत्ति जागृत हो जाती है; और वह अपनी शक्ति के अनुसार उस याचक को कुछ दान कर देता है। इसी प्रकार जब बालक रोता है, तब माता उसे दूध पिलाते समय इस बात का कुछ भी विचार नहीं करती, कि बालक को पिलाने से लोगों का कितना हित होगा। अर्थात् ये उदात्त मनोवृत्तियाँ ही कर्मयोगशास्त्र की यथार्थ नींव हैं। हमें किसी ने ये मनोवृत्तियाँ दी नहीं हैं; किन्तु ये निसर्गसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक अथवा स्वयंभू देवता ही हैं। जब न्यायाधीश न्यायासन पर बैठता है, तब उसकी बुद्धि में न्यायदेवता की प्रेरणा हुआ करती है; और वह उसी प्रेरणा के अनुसार न्याय किया करता है। परन्तु जब कोई न्यायाधीश इस प्रेरणा का अनादर करता है, तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्यायदेवता के सदृश ही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्तव्य-प्रेम, धैर्य आदि सद्गुणों की जो स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ हैं, वे भी देवता हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः इन देवताओं के शुद्ध स्वरूप से

* "वही बोलना चाहिये जो सत्यपूत अर्थात् शुद्ध किया गया है; और वही आचरण करना चाहिये जो मन को शुद्ध मालूम हो।"

परिचित रहता है। परन्तु यदि लोभ, द्वेष, मत्सर आदि कारणों से वह इन देवताओं की प्रेरणा की परवाह न करे, तो अब देवता क्या करें? यह बात सच है, कि कई बार देवताओं में भी विरोध उत्पन्न हो जाता है। और तब कोई कार्य करते समय हमें इस का संदेह हो जाता है, कि किस देवता की प्रेरणा को अधिक बलवती मानें। इस संदेह को निर्णय करने के लिये न्याय, करुणा आदि देवताओं के अतिरिक्त किसी दूसरे की सलाह लेना आवश्यक जान पड़ता है। परन्तु ऐसे अवसर पर अध्यात्मविचार अथवा सुख-दुःख की न्यूनाधिकता के झगड़े में न पड़ कर यदि हम अपने मनोदेव की गवाही लें, तो वह एकदम इस बात का निर्णय कर देता है, कि इस दोनों में से कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है। यही कारण है, कि उक्त सब देवताओं में मनोदेव श्रेष्ठ है। 'मनोदेवता' शब्द में इच्छा, क्रोध, लोभ सभी मनोविकारों को शामिल नहीं करना चाहिये। किन्तु इस शब्द से मन की वह ईश्वरदत्त और स्वाभाविक शक्ति ही अभीष्ट है, कि जिसकी सहायता से भले-बुरे का निर्णय किया जाता है। इसी शक्ति का एक बड़ा भारी नाम 'सदसद्विवेक-बुद्धि'* है। यदि किसी संदेह-ग्रस्त अवसर पर मनुष्य स्वस्थ अन्तःकरण से और शान्ति के साथ विचार करे, तो यह सदसद्विवेक-बुद्धि कभी उसको धोखा नहीं देगी। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे मौक़ों पर हम दूसरों से यही कहा करते हैं, 'कि तू अपने मन से पूछ।' इस बड़े देवता के पास एक सूची हमेशा मौजूद रहती है। उसमें यह लिखा होता है, कि किस सद्गुण को किस समय कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये। यह मनोदेवता समय समय पर इसी सूची के अनुसार अपना निर्णय प्रकट किया करता है। मान लीजिये, किसी समय आत्म-रक्षा और अहिंसा में विरोध उत्पन्न हुआ; और यह शंका उपस्थित हुई, कि दुर्भिक्ष के समय अभक्ष्य भक्षण करना चाहिये या नहीं? तब इस संशय को दूर करने के लिये यदि हम शान्त चित्त से इस मनोदेवता की मिन्नत करें, तो उसका यही निर्णय प्रकट होगा, कि 'अभक्ष्य भक्षण करो।' इसी प्रकार यदि कभी स्वार्थ और परार्थ अथवा परोपकार के बीच विरोध हो जाय, तो उसका निर्णय भी इस मनोदेवता को मना कर करना चाहिये। मनोदेवता के घर की – धर्म-अधर्म के न्यूनाधिक भाव की – यह सूची एक ग्रंथकार को शान्तिपूर्वक विचार करने से उपलब्ध हुई है, जिसे उसने अपने ग्रंथ में प्रकाशित किया है।† इस सूची में नम्रतायुक्त पूज्यभाव को पहला

* इस सदसद्विवेक-बुद्धि को ही अंग्रेजी में Conscience कहते हैं और आधिदैवतपक्ष Intuitionist School कहलाता है।

† इस ग्रन्थकार का नाम James Martineau (जेम्स मार्टिनो) है। इसने यह सूची अपने *Types of Ethical Theory* (Vol. II, p. 266. 3rd Ed.) नामक ग्रन्थ में दी है। मार्टिनो अपने पन्थ को Idio-psychological कहता है। परन्तु हम उसे आधिदैवतपक्ष ही में शामिल करते हैं।

अर्थात् अत्युच्च स्थान दिया गया है; और उसके बाद करुणा, कृतज्ञता, उदारता, वात्सल्य आदि भावों को क्रमशः नीचे की श्रेणियों में शामिल किया है। इस ग्रन्थकार का मत है, कि जब ऊपर और नीचे की श्रेणियों के सद्गुणों में विरोध उत्पन्न हो, तब ऊपर की श्रेणियों के सद्गुणों को ही अधिक मान देना चाहिये। उसके मत के अनुसार कार्य-अकार्य का अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये इसकी अपेक्षा और कोई उचित मार्ग नहीं है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम अत्यन्त दूरदृष्टि से यह निश्चित कर लें, कि 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख' किसमें है। तथापि इस न्यूनाधिक भाव में यह कहने की सत्ता या अधिकार नहीं है, कि 'जिस बात में अधिकांश लोगों का सुख हो वही तू कर।' इस लिये अन्त में इस प्रश्न का निर्णय ही नहीं होता, कि 'जिसमें अधिकांश लोगों का हित है, वह बात मैं क्यों करूँ ?' और सारा झगड़ा ज्यों-का-त्यों बना रहता है। राजा से बिना अधिकार प्राप्त किये ही जब कोई न्यायाधीश न्याय करता है, तब उसके निर्णय की जो दशा होती है, ठीक वही दशा उस कार्य-अकार्य के निर्णय की भी होती है; जो दूरदृष्टिपूर्वक सुखदुःखों का विचार करके किया जाता है। केवल दूरदृष्टि यह बात किसी से नहीं कह सकती कि 'तू यह कर, तुझे यह करना ही चाहिये।' इसका कारण यही है, कि कितनी भी दूरदृष्टि हो, तो भी वह मनुष्यकृत ही है; और इसी कारण वह अपना प्रभाव मनुष्यों पर नहीं जमा सकती। ऐसे समय पर आज्ञा करनेवाला हम से श्रेष्ठ कोई अधिकारी अवश्य होना चाहिये। और यह काम ईश्वरदत्त सदसद्विवेकबुद्धि ही कर सकती है। क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा श्रेष्ठ अतएव मनुष्य पर अपना अधिकार जमाने में समर्थ है। यह सदसद्विवेकबुद्धि या 'देवता' स्वयंभू है। इसी कारण व्यवहार में वह कहने की रीति पड़ गई है, कि मेरा 'मनोदेव' अमुक प्रकार की गवाही नहीं देता। जब कोई मनुष्य एक-आध बुरा काम कर बैठता है, तब पश्चात्ताप से वही स्वयं लज्जित हो जाता है; और उसका मन उसे हमेशा टोकता रहता है। यह भी उपर्युक्त देवता के शासन का ही फल है। इस बात से स्वतंत्र मनोदेवता का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कारण कि आधिदैवत पंथ के मतानुसार यदि उपर्युक्त सिद्धान्त न माना जाय, तो इस प्रश्न की उपपत्ति नहीं हो सकती, कि हमारा मन हमें क्यों टोका करता है।

ऊपर दिया हुआ वृत्तान्त पश्चिमी आधिदैवत पंथ के मत का है। पश्चिमी देशों में इस पंथ का प्रचार विशेषतः ईसाई धर्मोपदेशकों ने किया है। उनके मत के अनुसार धर्म-अधर्म का निर्णय करने लिये केवल आधिभौतिक साधनों की अपेक्षा यह ईश्वरदत्त साधन सुलभ, श्रेष्ठ एवं ग्राह्य है। यद्यपि हमारे देश में प्राचीन काल में कर्मयोगशास्त्र का ऐसा कोई स्वतंत्र पंथ नहीं था, तथापि उपर्युक्त मत हमारे प्राचीन ग्रंथों में कई जगह पाया जाता है। महाभारत में अनेक स्थानोंपर,

मन की भिन्न भिन्न वृत्तियों को देवताओं का स्वरूप दिया गया है। पिछले प्रकरण में यह बतलाया भी गया है, कि धर्म, सत्य, वृत्त, शील, श्री आदि देवताओं ने प्रल्हाद के शरीर को छोड़ कर इन्द्र के शरीर में कैसे प्रवेश किया। कार्य-अकार्य का अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय करनेवाले देवता का नाम भी 'धर्म' ही है। ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि शिबि राजा के सत्त्व की परीक्षा करने के लिये श्येन का रूप धर कर, और युधिष्ठिर की परीक्षा लेने के लिये प्रथम यक्षरूप से तथा दूसरी बार कुत्ता बन कर, धर्मराज प्रकट हुए थे। स्वयं भगवद्गीता (१०. ३४) में भी कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा ये सब देवता माने गये हैं। इनमें से स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मन के धर्म हैं। मन भी एक देवता है; और परब्रह्म का प्रतीक मान कर, उपनिषदों में उसकी उपासना भी बतलाई गई है (तै. ३. ४; छां. ३. १८)। जब मनुजी कहते हैं, कि 'मनःपूतं समाचरेत्,' (६. ४६) – मन को जो पवित्र मालूम हो, वही करना चाहिये – तब यही बोध होता है, कि उन्हें 'मन' शब्द से मनोदेवता ही अभिप्रेत है। साधारण व्यवहार में हम यही कहा करते हैं, कि 'जो मन को अच्छा मालूम हो, वही करना चाहिये।' मनुजी ने मनुसंहिता के चौथे अध्याय (४.१६१) में यह बात विशेष स्पष्ट कर दी है कि :–

> यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
> तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥

"वह कर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये, जिसके करने से हमारा अन्तरात्मा संतुष्ट हो; और जो कर्म इसके विपरीत हो, उसे छोड़ देना चाहिये।" इसी प्रकार चातुर्वर्ण्य-धर्म आदि व्यावहारिक नीति के मूलतत्त्वों का उल्लेख करते समय मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृति-ग्रंथकार भी कहते हैं :–

> वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
> एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

"वेद, स्मृति, शिष्टाचार और अपने आत्मा को प्रिय मालूम होना – ये धर्म के चार मूलतत्त्व हैं" (मनु. २. १२)। "अपने आत्मा को जो प्रिय मालूम हो" – इस का अर्थ यही है कि मन को शुद्ध मालूम हो। इससे स्पष्ट होता है, कि श्रुति, स्मृति और सदाचार से किसी कार्य की धर्मता या अधर्मता का निर्णय नहीं हो सकता था, तब निर्णय करने का चौथा साधन 'मनःपूतता' समझी जाती थी। पिछले प्रकरण में कही गई प्रल्हाद और इन्द्र की कथा बतला चुकने पर 'शील' के लक्षण के विषय में, धृतराष्ट्र ने महाभारत में यह कहा है :–

> यदन्येषां हितं न स्यात् आत्मनः कर्म पौरुषम्।
> अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथंचन ॥

अर्थात् "हमारे जिस कर्म से लोगों का हित नहीं हो सकता अथवा जिसके करने में स्वयं अपने ही को लज्जा मालूम होती है, वह कभी नहीं करना चाहिये (म. भा. शां. १२४. ६६)। इससे पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी, कि 'लोगों का हित हो नहीं सकता'; 'और लज्जा मालूम होती है' इन दो पदों से 'अधिकांश लोगों का अधिक हित' और 'मनोदेवता' इन दोनों पक्षों का इस श्लोक में एक साथ कैसा उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति (१२. ३५. ३७) में भी कहा गया है, कि जिस कर्म करने से लज्जा मालूम होती है, वह तामस है; और जिसके करने में लज्जा मालूम नहीं होती – एवं अन्तरात्मा संतुष्ट होता है – वह सात्त्विक है। धम्मपद नामक बौद्धग्रन्थ (६७ और ६८) में भी इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं। कालिदास भी यही कहते हैं, कि जब कर्म-अकर्म का निर्णय करने में कुछ सन्देह हो, तब –

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

"सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरण ही की गवाही को प्रमाण मानते हैं" (शाकुं. १. २०)। पातंजल योग इसी बात की शिक्षा देता है, कि चित्तवृत्तियों का निरोध करके मन को किसी एक ही विषय पर कैसे स्थिर करना चाहिये; और यह योगशास्त्र हमारे यहाँ बहुत प्राचीन समय से प्रचलित है। अतएव जब कभी धर्म-अधर्म के विषय में कुछ सन्देह उत्पन्न हो, तब हम लोगों को किसी से यह न सिखाये जाने की आवश्यकता है, कि "अन्तःकरण को स्वस्थ और शान्त करने से जो उचित मालूम हो, वही करना चाहिये।" सब स्मृति-ग्रन्थों के आरम्भ में, इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं, कि स्मृतिकार ऋषि अपने मन को एकाग्र करके ही धर्म-अधर्म बतलाया करते थे (मनु. १. १)। यों ही देखने से तो, 'किसी काम में मन की गवाही लेना' यह मार्ग अत्यन्त सुलभ प्रतीत होता है। परन्तु जब हम तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि 'शुद्ध मन' किसे कहना चाहिये; तब यह सरल पन्थ अन्त तक काम नहीं दे सकता। और यही कारण है, कि हमारे शास्त्रकारों ने कर्मयोगशास्त्र की इमारत इस कच्ची नींव पर खड़ी नहीं की है। अब इस बात का विचार करना चाहिये, कि यह तत्त्वज्ञान कौन-सा है। परन्तु इसका विवेचन करने के पहले यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है, कि पश्चिमी आधिभौतिकवादियों ने इस आधिदैवतपक्ष का किस प्रकार खंडन किया है। कारण यह है, कि यद्यपि इस विषय में आध्यात्मिक और आधिभौतिक पन्थों के कारण भिन्न भिन्न हैं; तथापि उन दोनों का अन्तिम निर्णय एक ही सा है। अतएव, पहले आधिभौतिक कारणों का उल्लेख कर देने से आध्यात्मिक कारणों की महत्ता और सयुक्तता पाठकों के ध्यान में शीघ्र आ जायगी।

ऊपर कह आये हैं, कि आधिदैविक पन्थ में शुद्ध मन को ही अग्रस्थान दिया गया है। इससे यह प्रकट होता है, कि 'अधिकांश लोगों का अधिक सुख'–

वाले आधिभौतिक नीतिपन्थ में कर्ता की बुद्धि या हेतु के कुछ भी बिचार न किये जाने का जो दोष पहले बतलाया गया है, वह इस आधिदैवतपक्ष में नहीं है। परन्तु जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं, कि सदसद्विवेकरूपी शुद्ध मनोदेवता किसे कहना चाहिये; तब इस पन्थ में भी दूसरी अनेक अपरिहार्य बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। कोई भी बात लीजिये; कहने की आवश्यकता नहीं है, कि उसके बारे में भली भाँति विचार करना – वह ग्राह्य है अथवा अग्राह्य है, करने के योग्य है या नहीं, उससे लाभ अथवा सुख होगा या नहीं; इत्यादि बातों को निश्चित करना – नाक अथवा आँख का काम नहीं है। किन्तु वह काम उस स्वतंत्र इन्द्रिय का है, जिसे मन कहते हैं। अर्थात्, कार्य-अकार्य अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय मन ही करता है। चाहे आप उसे इन्द्रिय कहें या देवता। यदि आधिदैविक पन्थ का सिर्फ़ यही कहना हो, तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु पश्चिमी आधिदैवत पक्ष इससे एक पग और भी आगे बढ़ा हुआ है। उसका यह कथन है, भला अथवा बुरा (सत् अथवा असत्), न्याय्य अथवा अनाय्य, धर्म अथवा अधर्म का निर्णय करना एक बात है; और इस बात का निर्णय करना दूसरी बात है, कि अमुक पदार्थ भारी है या हलका है, गोरा है या काला, अथवा गणित का कोई उदाहरण सही है या गलत। ये दोनों बातें अत्यन्त भिन्न हैं। इनमें से दूसरे प्रकार की बातों का निर्णय न्यायशास्त्र का आधार ले कर मन कर सकता है; परन्तु पहले प्रकार की बातों का निर्णय करने के लिये केवल मन असमर्थ है। अतएव यह काम सदसद्विवेचन-शक्तिरूप देवता ही किया करता है, जो कि हमारे मन में रहता है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं, कि जब हम किसी गणित के उदाहरण की जाँच करके निश्चय करते हैं, कि वह सही है या गलत। तब हम पहले उसके गुणा, जोड़ आदि की जाँच कर लेते हैं, और फिर अपना निश्चय स्थिर करते हैं। अर्थात् इस निश्चय के स्थिर होने के पहले मन को अन्य क्रिया या व्यापार करना पड़ता है; परन्तु भले-बुरे का निर्णय इस प्रकार नहीं किया जाता। जब हम यह सुनते हैं, कि किसी एक आदमी ने किसी दूसरे को जान से मार डाला, तब हमारे मुँह से एकाएक यह उद्गार निकल पड़ते हैं, "राम राम! उसने बहुत बुरा काम किया!" और इस विषय में हमें कुछ भी विचार नहीं करना पड़ता, अतएव, यह नहीं कहा जा सकता, कि कुछ भी विचार न करके आप-ही-आप जो निर्णय हो जाता है, और जो निर्णय विचार-पूर्वक किया जाता है, वे दोनों एक ही मनोवृत्ति के व्यापार हैं। इसलिये यह मानना चाहिये, कि सदसद्विवेचनशक्ति भी एक स्वतंत्र मानसिक देवता है। सब मनुष्यों के अन्तःकरण में यह देवता या शक्ति एक ही सी जागृत रहती है। इसलिये हत्या करना सभी लोगों को दोष प्रतीत होता है' और उसके विषय में किसी को कुछ सिखलाना भी नहीं पड़ता। इस आधिदैविक युक्तिवाद पर आधिभौतिक पन्थ के लोगों का यह उत्तर है, कि सिर्फ़

"हम एक-आध बात का निर्णय एकदम कर सकते हैं;" इतने ही से यह नहीं माना जा सकता, कि जिस बात का निर्णय विचार-पूर्वक किया जाता है वह उससे भिन्न है। किसी काम को जल्द अथवा धीरे करना अभ्यास पर अवलम्बित है। उदाहरणार्थ, गणित का विषय लीजिये। व्यापारी लोग मन के भाव से सेर-छटाक के दाम एकदम मुखाग्र गणित की रीति से बतलाया करते हैं। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि गुणाकार करने की उनकी शक्ति या देवता किसी अच्छे गणितज्ञ से भिन्न है। कोई काम अभ्यास के कारण इतना अच्छी तरह सध जाता है, कि बिना विचार किये ही कोई मनुष्य उसको शीघ्र और सरलतापूर्वक कर लेता है। उत्तम लक्ष्यभेदी मनुष्य उड़ते हुए पक्षियों को बन्दूक से सहज मार गिराता है; इससे कोई भी यह नहीं कहता, कि लक्ष्यभेद एक स्वतन्त्र देवता है। इतना ही नहीं; किन्तु निशाना मारना, उड़ते हुए पक्षियों की गति को जानना, इत्यादि शास्त्रीय बातों को भी कोई निरर्थक और त्याज्य नहीं कह सकता। नेपोलियन के विषय में यह प्रसिद्ध है, कि जब वह समरांगण में खड़ा हो कर चारों ओर सूक्ष्म दृष्टि से देखता था, तब उसके ध्यान में यह बात एकदम आ जाया करती थी, कि शत्रु किस स्थान पर कमजोर है। इतने ही से किसी ने यह सिद्धान्त नहीं निकाला है, कि युद्धकला एक स्वतंत्र देवता है; और उसका अन्य मानसिक शक्तियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी एक काम में किसी की बुद्धि स्वभावतः अधिक काम देती है; और किसी की कम। परन्तु सिर्फ़ इस असमानता के आधार पर ही हम यह नहीं कहते, कि दोनों की बुद्धि वस्तुतः भिन्न है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सत्य नहीं, कि कार्य-अकार्य का अथवा धर्म-अधर्म का निर्णय एकाएक हो जाता है। यदि ऐसा ही होता, तो यह प्रश्न ही कभी उपस्थित न होता कि 'अमुक काम करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये।' यह बात प्रकट है, कि इस प्रकार का प्रश्न प्रसंगानुसार अर्जुन की तरह सभी लोगों के सामने उपस्थित हुआ करता है; और कार्य-अकार्य-निर्णय के कुछ विषयों में, भिन्न भिन्न लोगों के अभिप्राय भी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। यदि सदसद्विवेचनरूप स्वयम्भू देवता एक ही है, तो फिर यह भिन्नता क्यों है? इससे यही कहना पड़ता है, कि मनुष्य की बुद्धि जितनी सुशिक्षित अथवा सुसंस्कृत होगी, उतनी ही योग्यतापूर्वक वह किसी बात का निर्णय करेगा। बहुतेरे जंगली लोग ऐसे भी हैं, कि जो मनुष्य का वध करना अपराध तो मानते ही नहीं; किन्तु वे मारे हुए मनुष्य का मांस भी सहर्ष खा जाते हैं! जंगली लोगों की बात जाने दीजिये। सभ्य देशों में भी यह देखा जाता है, कि देश के चलन के अनुसार किसी एक देश में जो बात गर्ह्य समझी जाती है, वही किसी दूसरे देश में सर्वमान्य समझी जाती है। उदाहरणार्थ, एक स्त्री के रहते हुए दूसरी स्त्री के साथ विवाह करना विलायत में दोष समझा

जाता है; परन्तु हिंदुस्थान में यह बात विशेष दूषणीय नहीं मानी जाती। भरी सभा में सिर की पगड़ी उतारना हिन्दु लोगों के लिये लज्जा या अमर्यादा की बात है; परन्तु अंग्रेज लोग सिर की टोपी उतारना ही सभ्यता का लक्षण मानते हैं। यदि यह बात सच है, कि ईश्वरदत्त या स्वाभाविक सदसद्विवेचन-शक्ति के कारण ही बुरे कर्म करने में लज्जा मालूम होती है, तो क्या सब लोगों को एक ही कृत्य करने में एक ही समान लज्जा नहीं मालूम होनी चाहिये? बड़े बड़े लुटेरे और डाकू लोग भी, एक बार जिसका नमक खा लेते हैं, उस पर हथियार उठाना निंद्य मानते हैं; किन्तु बड़े बड़े सभ्य पश्चिमी राष्ट्र भी अपने पड़ोसी राष्ट्र का वध करना स्वदेशभक्ति का लक्षण समझते हैं। यदि सदसद्विवेचन-शक्तिरूप देवता एक ही है, तो यह भेद क्यों माना है? और यदि यह कहा जाय, कि शिक्षा के अनुसार अथवा के देश चलन के अनुसार सदसद्विवेचनशक्ति में भी भेद हो जाया करते हैं, तो उसकी स्वयंभू नित्यता में बाधा आती है। मनुष्य ज्यों ज्यों अपनी असभ्य दशा को छोड़ कर सभ्य बनता जाता है, त्यों त्यों उसके मन और बुद्धि का विकास होता जाता है। और इस तरह बुद्धि का विकास होने पर जिन बातों का विचार वह अपनी पहली असभ्य अवस्था में नहीं कर सकता था, उन्हीं बातों का विचार अब वह अपनी सभ्य दशा शीघ्रता से करने लग जाता है। अथवा यह कहना चाहिये, कि इस बुद्धि का विकसित होना ही सभ्यता का लक्षण है। यह सभ्य अथवा सुशिक्षित मनुष्य के इंद्रियनिग्रह का परिणाम है, कि वह औरों की वस्तु को ले लेने या माँगने की इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार मन की वह शक्ति भी – जिससे बुरे-भले का निर्णय किया जाता है – धीरे धीरे बढ़ती जाती है। और अब तो कुछ बातों में वह इतनी परिपक्व होती ही है, कि किसी विषय में कुछ विचार किये बिना ही हम लोग अपना नैतिक निर्णय प्रकट कर दिया करते हैं। जब हमें आँखों से कोई दूर या पास की वस्तु देखनी होती है, तब आँखों की नसों को उचित परिणाम से खींचना पड़ता है; और यह क्रिया इतनी शीघ्रता से होती है, कि हमें उसका कुछ बोध भी नहीं होता। परन्तु क्या इतने ही से किसी ने इस बात की उपपत्ति को निरुपयोगी मान रखा है? सारांश यह है, कि मनुष्य की बुद्धि या मन सब समय और सब कामों में एक ही है। यह बात यथार्थ नहीं, कि कालेगोरे का निर्णय एक प्रकार की बुद्धि करती है और बुरे-भले का निर्णय किसी अन्य प्रकार की बुद्धि से किया जाता है। केवल अन्तर इतना ही है, कि किसी में बुद्धि कम रहती है और किसी की अशिक्षित अथवा अपरिपक्व रहती है। उक्त भेद की ओर, तथा इस अनुभव की ओर भी उचित ध्यान दे कर, कि किसी काम को शीघ्रतापूर्वक कर सकना केवल आदत या अभ्यास का फल है, पश्चिमी आधिभौतिकवादियों ने यह निश्चय किया है, कि मन की स्वाभाविक शक्तियों से

परे सदसद्विचारशक्ति नामक कोई भिन्न, स्वतन्त्र और विलक्षण शक्ति के मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस विषय में हमारे प्राचीन शास्त्रकारों का अन्तिम निर्णय भी पश्चिमी आधिभौतिकवादियों के सदृश ही है। वे इस बात को मानते हैं, कि स्वस्थ और शान्त अन्तःकरण से किसी भी बात का विचार करना चाहिये। परन्तु उन्हें यह बात मान्य नहीं, कि धर्म-अधर्म का निर्णय करनेवाली बुद्धि अलग है और काला-गोरा पहचानने की बुद्धि अलग है। उन्होंने यह भी प्रतिपादन किया है, कि मन जितना सुशिक्षित होगा, उतना ही वह भला या बुरा निर्णय कर सकेगा। अतएव मन को सुशिक्षित करने का प्रयत्न प्रत्येक को दृढता से करना चाहिये। परन्तु वे इस बात को नहीं मानते, कि सदसद्विवेचन-शक्ति सामान्य बुद्धि से कोई भिन्न वस्तु या ईश्वरीय प्रसाद है। प्राचीन समय में इस बात का निरीक्षण सूक्ष्म रीति से किया गया है, कि मनुष्य को ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है; और उसके मन का या बुद्धि का व्यापार किस तरह हुआ करता है। इसी निरीक्षण को 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' कहते हैं। क्षेत्र का अर्थ 'शरीर' और क्षेत्रज्ञ का अर्थ 'आत्मा' है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार अध्यात्मविद्या की जड़ है। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विद्या का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर, सदसद्विवेक-शक्ति ही का कौन कहे, किसी भी मनोदेवता का अस्तित्व आत्मा के परे या स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्था में आधिदैवत पक्ष आप-ही-आप कमजोर हो जाता है। अतएव, अब यहाँ इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विद्या ही का विचार संक्षेप में किया जायगा। इस विवेचन से भगवद्गीता के बहुतेरे सिद्धान्तों का सत्यार्थ भी पाठकों के ध्यान में अच्छी तरह आ जायगा।

यह कहा जा सकता है, कि मनुष्य का शरीर (पिंड, क्षेत्र या देह) एक बहुत बड़ा कारखाना ही है। जैसे किसी कारखाने में पहले बाहर का माल भीतर लिया जाता है; फिर उस माल का चुनाव या व्यवस्था करके इस बात का निश्चय किया जाता है, कि कारखाने के लिये उपयोगी और निरुपयोगी पदार्थ कौन-से हैं; और तब बाहर से लाये गये कच्चे माल से नई चीज़ें बनाते और उन्हें बाहर भेजते हैं। वैसे ही मनुष्य की देह में भी प्रतिक्षण अनेक व्यापार हुआ करते हैं। इस सृष्टि के पाँचभौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य की इन्द्रियाँ ही प्रथम साधन हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा सृष्टि के पदार्थों का यथार्थ अथवा मूलस्वरूप नहीं जाना जा सकता। आधिभौतिकवादियों का यह मत है, कि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप वैसा ही है, जैसा कि वह हमारी इन्द्रियों को प्रतीत होता है। परन्तु यदि कल किसी को कोई नूतन इन्द्रिय प्राप्त हो जाय; तो उसकी दृष्टि से सृष्टि के पदार्थों का गुण-धर्म जैसा आज है, वैसा ही नहीं रहेगा। मनुष्य की इंद्रियों में भी दो भेद हैं – एक कर्मेन्द्रियाँ और दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ।

हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ ये पाँच कर्मेंद्रियाँ हैं। हम जो कुछ व्यवहार अपने शरीर से करते हैं, वह सब इन्हीं कर्मेन्द्रियों के द्वारा होता है। नाक, आँखें, कान, जीभ और त्वचा ये पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं। आँखों से रूप, जिह्वा से रस, कानों से शब्द, नाक से गन्ध, और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। किसी किसी भी बाह्य-पदार्थ का जो हमें ज्ञान होता है, वह उस पदार्थ के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श के सिवा और कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, एक सोने का टुकड़ा लीजिये। वह पीला देख पड़ता है, त्वचा को कठोर मालूम होता है, पीटने से लम्बा हो जाता है, इत्यादि जो गुण हमारी इंद्रियों को गोचर होते हैं उन्हीं को हम सोना कहते हैं; और जब ये गुण बार बार एक ही पदार्थ में, एक ही से दृग्गोचर होने लगते हैं, तब हमारी दृष्टि से सोना एक ही पदार्थ बन जाता है। जिस प्रकार बाहर का माल भीतर लाने के लिये और भीतर का माल बाहर भेजने के लिये किसी कारखाने में दरवाजे होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के देह में बाहर के माल को भीतर लेने के लिये ज्ञानेन्द्रिय-रूपी द्वार हैं, और भीतर का माल बाहर भेजने के लिये कर्मेन्द्रिय-रूपी द्वार हैं। सूर्य की किरणें किसी पदार्थ पर गिर कर जब लौटती हैं, और हमारे नेत्रों में प्रवेश करती हैं; तब हमारे आत्मा को उस पदार्थ के रूप का ज्ञान होता है। किसी पदार्थ से आनेवाली गन्ध के सूक्ष्म परमाणु जब हमारी नाक के मज्जातन्तुओं से टकराते हैं, तब हमें उस पदार्थ की बास आती है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार भी इसी प्रकार हुआ करते हैं। जब ज्ञानेन्द्रियाँ इस प्रकार अपना व्यापार करने लगती हैं, तब हमें उनके द्वारा बाह्य-सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान होने लगता है। परन्तु ज्ञानेन्द्रियाँ जो कुछ व्यापार करती हैं, उसका ज्ञान स्वयं उनको नहीं होता; उसी लिये ज्ञानेन्द्रियों को 'ज्ञाता' नहीं कहते; किन्तु उन्हें सिर्फ़ बाहर के माल को भीतर ले जानेवाले 'द्वार' ही कहते हैं। इन दरवाजों से माल भीतर आ जाने पर उसकी व्यवस्था करना मन का काम है। उदाहरणार्थ, बारह बजे जब घड़ी में घण्टे बजने लगते हैं, तब एकदम हमारे कानों को यह नहीं समझ पड़ता, कि कितने बजे हैं; किन्तु ज्यों ज्यों घड़ी में 'टन् टन्' की एक एक आवाज होती जाती है, त्यों त्यों हवा की लहरें हमारे कानों पर आकर टक्कर मारती हैं; और मज्जातंतु के द्वारा प्रत्येक आवाज़ का हमारे मन पर पहले अलग अलग संस्कार होता हैं और अन्त में इन सबों का जोड़ कर हम निश्चित किया करते हैं, कि इतने बजे हैं,। पशुओं में भी ज्ञानेद्रियाँ होती हैं। जब घड़ी की 'टन् टन्' आवाज़ होती हैं, तब प्रत्येक ध्वनि का संस्कार उनके कानों के द्वारा मन तक पहुँच जाता है। परन्तु उनका मन इतना विकसित नहीं रहता, कि वे उन सब संस्कारों को एकत्र करके यह निश्चित कर लें कि बारह बजे हैं। यही अर्थ शास्त्रीय परिभाषा में इस प्रकार कहा जाता है, कि यद्यपि अनेक संस्कारों का पृथक् पृथक् ज्ञान पशुओं को हो जाता है, तथापि

उस अनेकता की एकता का बोध उन्हें नहीं होता। भगवद्गीता (३. ४२) में कहा है :– ' इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः ' अर्थात् इंद्रियाँ (बाह्य) पदार्थों से श्रेष्ठ हैं; और मन इंद्रियों से भी श्रेष्ठ है। इसका भावार्थ भी वही है, जो ऊपर लिखा गया है। पहले कह आये हैं, कि यदि मन स्थिर न हो, तो आँखें खुली होने पर भी कुछ दीख नहीं पड़ता; और कान खुले होने पर भी कुछ सुन नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है, कि इस देहरूपी कारखाने में 'मन' एक मुंशी (क्लर्क) है; जिसके पास बाहर का सब माल ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भेजा जाता है। और यही मुंशी (मन) माल की जाँच किया करता है। अब इन बातों का विचार करना चाहिये कि यह जाँच किस प्रकार की जाती है; और जिसे हम अबतक सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं, उसके भी और कौन-कौन-से भेद किये जा सकते हैं; अथवा एक ही मन को भिन्न भिन्न अधिकार के अनुसार कौन-कौन-से भिन्न भिन्न नाम प्राप्त हो जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन पर जो संस्कार होते हैं, उन्हें प्रथम एकत्र करके और उनकी परस्पर तुलना करके इस बात का निर्णय करना पड़ता है, कि उनमें से अच्छे कौन-से और बुरे कौन-से हैं, ग्राह्य अथवा त्याज्य कौन-से और लाभदायक तथा हानिकारक कौन-से हैं। यह निर्णय हो जाने पर उनमें से जो बात अच्छी, ग्राह्य, लाभदायक, उचित अथवा करने योग्य होती है, उसे करने में हम प्रवृत्त हुआ करते हैं। यही सामान्य मानसिक व्यवहार है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी बगीचे में जाते हैं, तब आँख और नाक के द्वारा बाग के वृक्षों और फूलों के संस्कार हमारे मन पर होते हैं। परन्तु जब तक हमारे आत्मा को यह ज्ञान नहीं होता, कि इन फूलों में से किसकी सुगन्ध अच्छी और किसकी बुरी है; तब तक किसी फूल को प्राप्त कर लेने की इच्छा मन में उत्पन्न नहीं होती; और न हम उसे तोड़ने का प्रयत्न ही करते हैं। अतएव सब मनोव्यापारों के तीन स्थूल भाग हो सकते हैं :– (१) ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य-पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके उन संस्कारों को तुलना के लिये व्यवस्थापूर्वक रखना; (२) ऐसी व्यवस्था हो जाने पर उनके अच्छेपन या बुरेपन का सार-असार-विचार करके यह निश्चय करना, कि कौन-सी बात ग्राह्य है और कौन-सी त्याज्य; और (३) निश्चय हो चुकने पर, ग्राह्य-वस्तु को प्राप्त कर लेने की, और अग्राह्य को त्यागने की इच्छा उत्पन्न हो कर फिर उसके अनुसार प्रवृत्ति का होना। परन्तु यह आवश्यक नहीं, कि ये तीनों व्यापार बिना रुकावट के लगातार एक के बाद एक होते ही रहें। सम्भव है, कि पहले किसी समय भी देखी हुई वस्तु की इच्छा आज हो जाय। किन्तु इतने ही से यह नहीं कह सकते, कि उक्त तीनों क्रियाओं में से किसी भी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि न्याय करने की कचहरी एक ही होती है, तथापि उसमें काम का विभाग इस प्रकार किया जाता है :– पहले वादी और प्रतिवादी अथवा उनके

वकील अपनी अपनी गवाहियाँ और सबूत न्यायाधीश के सामने पेश करते हैं। इसके बाद न्यायाधीश दोनों पक्षों के सबूत देख कर निर्णय स्थिर करता है, और अन्त में न्यायाधीश के निर्णय के अनुसार नाज़िर कार्रवाई करता है। ठीक इसी प्रकार जिस मुंशी को अभी तक हम सामान्यतः 'मन' कहते आये हैं, उसके व्यापारों के भी विभाग हुआ करते हैं। इनमें से, सामने उपस्थित बातों का सार-असार-विचार करके यह निश्चय करने का काम (अर्थात् केवल न्यायाधीश का काम) 'बुद्धि' नामक इंद्रिय का है, कि कोई एक बात अमुक प्रकार ही की (एकमेव) है, दूसरे प्रकार की नहीं (नाऽन्यथा)। ऊपर कहे गये सब मनो-व्यापारों में से इस सार-असार-विवेकशक्ति को अलग कर देने पर सिर्फ़ बचे हुए व्यापार ही जिस इंद्रिय के द्वारा हुआ करते हैं, उसी को सांख्य और वेदान्तशास्त्र में 'मन' कहते हैं (सां. का. २३ और २७ देखो)। यही मन वकील के सदृश, कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा उस के विरुद्ध वैसी है (विकल्प); इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिये पेश किया करता है। इसी लिये इसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये केवल कल्पना करनेवाली इंद्रिय कहा गया है। कभी कभी 'संकल्प' शब्द में 'निश्चय' का भी अर्थ शामिल कर दिया जाता है (छांदोग्य ७. ४. १ देखो)। परन्तु यहाँ पर 'संकल्प' शब्द का उपयोग – निश्चय की अपेक्षा न रखते हुए – बात अमुक प्रकार की मालूम होना, मानना, कल्पना करना, समझना, अथवा कुछ योजना करना, इच्छा करना, चिंतन करना, मन में लाना आदि व्यापारों के लिये ही किया गया है। परन्तु, इस प्रकार वकील के सदृश, अपनी कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णयार्थ सिर्फ़ उपस्थित कर देने ही से मन का काम पूरा नहीं हो जाता। बुद्धि के द्वारा भले-बुरे का निर्णय हो जाने पर, जिस बात को बुद्धि ने ग्राह्य माना है, उसका कर्मेन्द्रियों से आचरण करना, अर्थात् बुद्धि की आज्ञा को कार्य में परिणत करना – यह नाज़िर का काम भी मन ही को करना पड़ता है। इसी कारण मन की व्याख्या दूसरी तरह भी की जा सकती है। यह कहने में कोई आपत्ति नहीं, कि बुद्धि के निर्णय की कार्रवाई पर जो विचार किया जाता है, वह भी एक प्रकार से संकल्प-विकल्पात्मक ही है। परन्तु इसके लिये संस्कृत में 'व्याकरण-विचार करना' यह स्वतन्त्र नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त शेष सब कार्य बुद्धि के हैं। यहाँ तक, कि मन स्वयं अपनी ही कल्पनाओं के सार-असार का विचार नहीं करता। सार-असार-विचार करके किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान आत्मा को करा देना, अथवा चुनाव करके यह निश्चय करना कि अमुक वस्तु अमुक प्रकार की है, या तर्क से कार्य-कारण-सम्बन्ध को देख कर निश्चित अनुमान करना, अथवा कार्य-अकार्य का निर्णय करना, इत्यादि सब व्यापार बुद्धि के हैं। संस्कृत में इन व्यापारों को 'व्यवसाय'

या 'अध्यवसाय' कहते हैं। अतएव दो शब्दों का उपयोग करके, 'बुद्धि' और 'मन' का भेद बतलाने के लिये, महाभारत (शां. २५१. ११) में यह व्याख्या दी गई है :–

व्यवसायात्मिका बुद्धिः मनो व्याकरणात्मकम् ।

"बुद्धि (इंद्रिय) व्यवसाय करती है; अर्थात् सार-असार-विचार करके कुछ निश्चय करती है; और मन व्याकरण अथवा विस्तार है। वह अगली अवस्था करनेवाली प्रवर्तक इंद्रिय है – अर्थात् बुद्धि व्यवसायात्मिका है और मन व्याकरणात्मक है।" भगवद्गीता में भी 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः' शब्द पाये जाते हैं (गी. २. ४४); और वहाँ भी बुद्धि का अर्थ 'सार-असार-विचार करके निश्चय करनेवाली इन्द्रिय' ही है। यथार्थ में बुद्धि केवल एक तलवार है। जो कुछ उसके सामने आता है या लाया जाता है, उसकी काट-छाँट करना ही उसका काम है; उसमें दूसरा कोई भी गुण अथवा धर्म नहीं है (म. भा. वन. १८१. २६)। संकल्प, वासना, इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, करुणा, प्रेम, दया, सहानुभूति, कृतज्ञता, काम, लज्जा, आनन्द, भय, राग, संग, द्वेष, लोभ, मद, मत्सर, क्रोध इत्यादि सब मन ही के गुण अथवा धर्म हैं (बृ. १. ५. ३; मैत्र्यु. ६. ३०)। जैसी जैसी ये मनोवृत्तियाँ जागृत होती जाती हैं, वैसे ही कर्म करने की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ करती है। उदाहरणार्थ, मनुष्य चाहे जितना बुद्धिमान् हो और चाहे वह गरीब लोगों की दुर्दशा का हाल भली भाँति जानता हो; तथापि यदि उसके हृदय में करुणावृत्ति जागृत न हो, तो उसे गरिबों की सहायता करने की इच्छा कभी होगी ही नहीं। अथवा, यदि धैर्य का अभाव हो, तो युद्ध करने की इच्छा होने पर भी वह नहीं लड़ेगा। तात्पर्य यह है, कि बुद्धि सिर्फ़ यही बतलाया करती है, कि जिस बात को करने की हम इच्छा करते हैं, उसका परिणाम क्या होगा। इच्छा अथवा धैर्य आदि गुण बुद्धि के धर्म नहीं हैं। इसलिये बुद्धि स्वयं (अर्थात् बिना मन की सहायता लिये ही) कभी इन्द्रियों को प्रेरित नहीं कर सकती। इसके विरुद्ध क्रोध आदि वृत्तियों के वश में होकर स्वयं मन चाहे इन्द्रियों को प्रेरित भी कर सके; तथापि यह नहीं कहा जा सकता, कि बुद्धि के सार-असार-विचार के बिना केवल मनोवृत्तियों की प्रेरणा से किया गया काम नीति की दृष्टि से शुद्ध ही होगा। उदाहरणार्थ, यदि बुद्धि का उपयोग न कर, केवल करुणावृत्ति से कुछ दान किया जाता है, तो संभव है, कि वह किसी अपात्र को दिया जावे; और उसका परिणाम भी बुरा हो। सारांश यह है, कि बुद्धि की सहायता के बिना केवल मनोवृत्तियाँ अन्धी हैं, अतएव मनुष्य का कोई काम शुद्ध तभी हो सकता है, जब कि बुद्धि शुद्ध है। अर्थात् वह भले-बुरे का अचूक निर्णय कर सके; मन बुद्धि के अनुरोध से आचरण करे; और इन्द्रियाँ मन के आधीन रहें। मन और बुद्धि के सिवा

'अन्तःकरण' और 'चित्त' ये दो शब्द भी प्रचलित हैं। इनमें से 'अन्तःकरण' शब्द का धात्वर्थ ' भीतरी करण अर्थात् इन्द्रिय ' है। इसलिये उसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सभी का सामान्यतः समावेश किया जाता है; और जब "मन' पहले पहल बाह्य-विषयों का ग्रहण अर्थात् चिंतन करने लगता है, तब वही 'चित्त' हो जाता है (म. भा. शां. २७४. १७)। परंतु सामान्य व्यवहार में इन सब शब्दों का अर्थ एक ही सा माना जाता है। इस कारण समझ में नहीं आता, कि किस स्थान पर कौन-सा अर्थ विवक्षित है। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिये ही, उक्त अनेक शब्दों में से मन और बुद्धि इन्हीं दो शब्दों का उपयोग शास्त्रीय परिभाषा में ऊपर कहे गये निश्चित अर्थ में किया जाता है। जब इस तरह मन और बुद्धि का भेद एक बार निश्चित कर दिया गया, तब (न्यायाधीश के समान) बुद्धि को मन से श्रेष्ठ मानना पड़ता है; और मन उस न्यायाधीश (बुद्धि) का मुंशी बन जाता है। ' मनसस्तु परा बुद्धिः ' – इस गीता-वाक्य का भावार्थ भी यही है, कि मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ एवं उसके परे है (गी. ३.४२) तथापि, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, उस मुंशी को भी दो प्रकार के काम करने पड़ते हैं – (१) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अथवा बाहर से आये हुए संस्कारों की व्यवस्था करके उनको बुद्धि के सामने निर्णय के लिये उपस्थित करना; और (२) बुद्धि का निर्णय हो जाने पर उसकी आज्ञा अथवा डाक कर्मेन्द्रियों के पास भेज कर बुद्धि का हेतु सफल करने के लिये आवश्यक बाह्य-क्रिया करवाना। जिस तरह दूकान के लिये माल खरीदने का काम और दूकान में बैठ कर बेचने का काम भी कहीं कहीं उस दूकान के एक ही नौकर को करना पड़ता है, उसी तरह मन को भी दूसरा काम करना पड़ता है। मान लो, कि हमें एक मित्र दीख पड़ा; और उसे पुकारने की इच्छा से हमने उसे 'अरे' कहा। अब देखना चाहिये, कि इतने समय में अन्तःकरण में कितने व्यापार होते हैं। पहले आँखों ने अथवा ज्ञानेन्द्रियों ने यह संस्कार मन के द्वारा बुद्धि को भेजा, कि हमारा मित्र पास ही है; और बुद्धि के द्वारा उस संस्कार का ज्ञान आत्मा को हुआ। यह हुई ज्ञान होने की क्रिया। जब आत्मा बुद्धि के द्वारा यह निश्चय करता है, कि मित्र को पुकारना चाहिये; और बुद्धि के इस हेतु के अनुसार कार्रवाई करने के लिये मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न होती है; और मन हमारी जिह्वा (कर्मेन्द्रिय) से ' अरे ! ' शब्द का उच्चारण करवाता है। पाणिनि के शिक्षा-ग्रन्थ में शब्दोच्चारण-क्रिया का वर्णन इसी बात को ध्यान में रख कर किया गया है :–

आत्मा बुद्ध्या समेत्याऽर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मंद्रं जनयति स्वरम्॥

अर्थात् " पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातों का आकलन करके मन में

बोलने की इच्छा उत्पन्न करता है; और जब मन कायाग्नि को उसकता है, तब कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। तदनन्तर यह वायु छाती में प्रवेश करके मंद्र स्वर उत्पन्न करती है। यही स्वर आगे कण्ठ-तालू आदि के वर्ण-भेद रूप से मुख के बाहर आता है। उक्त श्लोक के अन्तिम दो चरण मैत्र्युपनिषद् में भी मिलते हैं (मैत्र्यु. ७. ११); और, इससे प्रतीत होता है, कि ये श्लोक पाणिनि से भी प्राचीन हैं।* आधुनिक शारीरशास्त्रों में कायाग्नि को मज्जातन्तु कहते हैं। परन्तु पश्चिमी शारीरशास्त्रज्ञों का कथन है, कि मन भी दो हैं। क्योंकि बाहर के पदार्थों का ज्ञान भीतर लानेवाले और मन के द्वारा बुद्धि की आज्ञा कर्मेन्द्रियों को बतलानेवाले मज्जातन्तु शरीर में भिन्न भिन्न हैं। हमारे शास्त्रकार दो मन नहीं मानते; उन्हों ने मन और बुद्धि को भिन्न बतला कर सिर्फ़ यह कहा है, कि मन उभयात्मक है। अर्थात् वह कर्मेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों के समान और ज्ञानेन्द्रियों के साथ ज्ञानेन्द्रियों के समान काम करता है। दोनों का तात्पर्य एक ही है। दोनों की दृष्टि से यही प्रकट है, कि बुद्धि निश्चयकर्ता न्यायाधीश है; और मन पहले ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प-विकल्पात्मक हो जाया करता है; तथा फिर कर्मेन्द्रियों के साथ व्याकरणात्मक या कार्रवाई करनेवाला अर्थात् कर्मेन्द्रियों का साक्षात् प्रवर्तक हो जाता है। किसी बात का 'व्याकरण' करते समय कभी कभी मन यह संकल्प-विकल्प भी किया करता है, कि बुद्धि की आज्ञा का पालन किस प्रकार किया जाय। इसी कारण मन की व्याख्या करते समय सामान्यतः सिर्फ़ यही कहा जाता है, कि 'संकल्प-विकल्पात्मकम्'। परन्तु, ध्यान रहे, कि उस समय भी इस व्याख्या में मन के दोनों व्यापारों का समावेश किया जाता है।

'बुद्धि' का जो अर्थ ऊपर किया गया है, कि यह निर्णय करनेवाली इन्द्रिय है; वह अर्थ केवल शास्त्रीय और सूक्ष्म-विवेचन के लिये उपयोगी है। परन्तु इन शास्त्रीय अर्थों का निर्णय हमेशा पीछे से किया जाता है। अतएव यहाँ 'बुद्धि' शब्द के उन व्यावहारिक अर्थों का भी विचार करना आवश्यक है, जो इस शब्द के सम्बन्ध में, शास्त्रीय अर्थ निश्चित होने के पहले ही, प्रचलित हो गये हैं। जब तक व्यवसायात्मक बुद्धि किसी बात का पहले निर्णय नहीं करती, तब तक हमें उसका ज्ञान नहीं होता; और जब तक ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक उसके प्राप्त करने की इच्छा या वासना भी नहीं हो सकती। अतएव, जिस प्रकार व्यवहार में आम के पेड़ और फल के लिये एक ही 'आम' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार व्यवसायात्मक बुद्धि के लिये और उस बुद्धि के वासना आदि फलों के

---

* मैक्समूलर साहब ने लिखा है, कि मैत्र्युपनिषद् पाणिनि की अपेक्षा, प्राचीन होना चाहिये। Sacred Books of the East Series, Vol. XV. pp. xlvii–li. इस पर परिशिष्ट प्रकरण में अधिक विचार किया गया है।

लिये भी एक ही शब्द 'बुद्धि' का उपयोग व्यवहार में कई बार किया जाता है। उदाहरणार्थ : जब हम कहते हैं, कि अमुक मनुष्य की बुद्धि खोटी है; तब हमारे बोलने का यह अर्थ होता है, कि उसकी 'वासना' खोटी है। शास्त्र के अनुसार इच्छा या वासना मन के धर्म होने के कारण उन्हें बुद्धि शब्द से सम्बोधित करना युक्त नहीं है। परन्तु बुद्धि शब्द की शास्त्रीय जाँच होने के पहले ही से सर्व साधारण लोगों के व्यवहार में 'बुद्धि' शब्द का उपयोग इन दोनों अर्थों में होता चला आया है :– (१) निर्णय करनेवाली इंद्रिय; और (२) उस इंद्रिय के व्यापार से मनुष्य के मन में उत्पन्न होनेवाली वासना या इच्छा। अतएव, आम के भेद बतलाने के समय जिस प्रकार 'पेड़' और 'फल' इन शब्दों का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार जब बुद्धि के उक्त दोनों अर्थों की भिन्नता व्यक्त करनी होती है, तब निर्णय करनेवाली अर्थात् शास्त्रीय बुद्धि को 'व्यवसायात्मिक' विशेषण जोड़ दिया जाता है; और वासना को केवल 'बुद्धि' अथवा 'वासनात्मक' बुद्धि कहते हैं। गीता (२.४१, ४४, ४९; और ३.४२) में 'बुद्धि' शब्द का उपयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में किया गया है। कर्मयोग के विवेचन को ठीक ठीक समझ लेने के लिये 'बुद्धि' शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थों पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये। जब मनुष्य कुछ काम करने लगता है, तब उसके मनोव्यापार का क्रम इस प्रकार है – पहले वह 'व्यवसायात्मिक' बुद्धीन्द्रिय से विचार करता है, कि यह कार्य अच्छा है या बुरा; करने के योग्य है या नहीं; और फिर उस कर्म के करने की इच्छा या वासना (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) उत्पन्न होती है; और तब वह उक्त काम करने के लिये प्रवृत्त हो जाता है। कार्य-अकार्य का निर्णय करना जिस (व्यवसायात्मिक) बुद्धीन्द्रिय का व्यापार है, वह स्वस्थ और शान्त हो, तो मन में निरर्थक अन्य वासनाएँ (बुद्धि) उत्पन्न नहीं होने पाती और मन भी बिगड़ने नहीं पाता। अतएव गीता (२.४१) में कर्मयोगशास्त्र का प्रथम सिद्धान्त यह है, कि पहले व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध और स्थिर रखना चाहिये। केवल गीता ही में नहीं, किन्तु कान्ट* ने भी बुद्धि के इसी प्रकार दो भेद किये हैं; और शुद्ध अर्थात् व्यवसायात्मिक बुद्धि के एवं व्यावहारिक अर्थात् वासनात्मक बुद्धि के व्यापारों का विवेचन दो स्वतंत्र ग्रंथों में किया है। वस्तुतः देखने से तो यही प्रतीत होता है, कि व्यवसायात्मिका बुद्धि को स्थिर करना पातंजल योगशास्त्र ही का विषय है; कर्मयोगशास्त्र का नहीं। किन्तु गीता का सिद्धान्त है, कि कर्म का विचार करते समय उसके परिणाम की ओर ध्यान दे कर पहले सिर्फ़ यही देखना चाहिये, कि कर्म करनेवाले की वासना अर्थात् वासना-

* कान्ट ने व्यवसायात्मिक बुद्धि को Pure Reason और वासनात्मक बुद्धि को Practical Reason कहा है।

त्मक बुद्धि कैसी है (गी. २.४६)। और इस प्रकार जब वासना के विषय में विचार किया जाता है, तब प्रतीत होता है, कि जिसकी व्यवसायात्मिक बुद्धि स्थिर और शुद्ध नहीं रहती, उसके मन में वासनाओं की भिन्न भिन्न तरंगें उत्पन्न हुआ करती हैं। और इसी कारण कहा नहीं जा सकता, कि वे वासनाएँ सदैव शुद्ध और पवित्र ही होंगी (गी. २.४१)। जब कि वासनाएँ ही शुद्ध नहीं हैं, तब आगे कर्म भी शुद्ध कैसे हो सकता है ? इसी लिये कर्मयोग में भी – व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये – साधनों अथवा उपायों का विस्तार-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता होती है; और इसी कारण भगवद्गीता के छठे अध्याय में बुद्धि को शुद्ध करने के लिये एक साधन के तौर पर पातंजलयोग का विवेचन किया गया है। परंतु इस संबंध पर ध्यान न दे कर कुछ सांप्रदायिक टीकाकारों ने गीता का यह तात्पर्य निकाला है, कि गीता में केवल पातंजलयोग का ही प्रतिपादन किया गया है। अब पाठकों के ध्यान में यह बात आ जायगी, कि गीताशास्त्र में 'बुद्धि' शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थों पर और उन अर्थों के परस्पर-सम्बन्ध पर ध्यान रखना कितने महत्त्व का है।

इस बात का वर्णन हो चुका, कि मनुष्य के अन्तःकरण के व्यापार किस प्रकार हुआ करते हैं; तथा उन व्यापारों को देखते हुए मन और बुद्धि के कार्य कौन कौन-से हैं; तथा बुद्धि शब्द के कितने अर्थ होते हैं। अब मन और व्यवसायात्मिक बुद्धि को इस प्रकार पृथक् कर देने पर देखना चाहिये, कि सदसद्विवेक-देवता का यथार्थ रूप क्या है। इस देवता का काम सिर्फ़ भले-बुरे का चुनाव करना है। अतएव इसका समावेश 'मन' में नहीं किया जा सकता; और किसी भी बात का विचार करके निर्णय करनेवाली व्यवसायात्मिक बुद्धि केवल एक ही है; इसलिये सदसद्विवेक-रूप 'देवता' के लिये कोई स्वतंत्र स्थान ही नहीं रह जाता। हाँ, इसमें संदेह नहीं, कि जिन बातों का या विषयों का सार-असार-विचार करके निर्णय करना पड़ता है, वे अनेक और भिन्न भिन्न देवता हो सकते हैं। जैसे व्यापार, लड़ाई, फौज़दारी या दीवानी मुक़दमे, साहुकारी, कृषि आदि अनेक व्यवसायों में हर मौक़े पर सार-असार-विवेक करना पड़ता है। परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि व्यवसायात्मिक बुद्धियाँ भी भिन्न भिन्न अथवा कई प्रकार की होती हैं। सार-असार-विवेक नाम की क्रिया सर्वत्र एक ही सी है; और इसी कारण विवेक अथवा निर्णय करनेवाली बुद्धि भी एक होनी चाहिये। परन्तु मन के सदृश बुद्धि भी शरीर का धर्म है। अतएव पूर्वकर्म के अनुसार – पूर्वपरंपरागत या आनुषंगिक संस्कारों के कारण, अथवा शिक्षा आदि अन्य कारणों से – यह बुद्धि कम या अधिक सात्त्विकी, राजसी या तामसी हो सकती है। यही कारण है, कि जो बात किसी एक की बुद्धि में ग्राह्य प्रतीत होती है, वही दूसरे की बुद्धि में अग्राह्य जँचती है। इतने ही से यह नहीं समझ

लेना चाहिये, कि बुद्धि नाम की इन्द्रिय ही प्रत्येक समय भिन्न भिन्न रहती है। आँख ही का उदारहण लीजिये। किसी की आँखें तिरछी रहती हैं, तो किसी की भद्दी और किसी की कानी; किसी की दृष्टि मंद और किसी की साफ़ रहती है। इससे हम यह कभी नहीं कहते, कि नेत्रेन्द्रिय एक नहीं, अनेक हैं। यही न्याय बुद्धि के विषय में भी उपयुक्त होना चाहिये। जिस बुद्धि से चावल अथवा गेहूँ जाने जाते हैं; जिस बुद्धि से पत्थर और हीरे का भेद जाना जाता हैं; जिस बुद्धि से काले-गोरे वा मीठे-कड़वे का ज्ञान होता है; वही बुद्धि इन सब बातों के तारतम्य का विचार करके अंतिम निर्णय भी किया करती है, कि भय किसमें है, और किसमें नहीं; धर्म अथवा अधर्म और कार्य अथवा अकार्य में क्या भेद है, इत्यादि। साधारण व्यवहार में 'मनोदेवता' कह कर उसका चाहे जितना गौरव किया जाय, तथापि तत्त्वज्ञान की दृष्टि से वह एक ही व्यवसायात्मिक बुद्धि है। इसी अभिप्राय की ओर ध्यान दे कर गीता के अठारहवे अध्याय में एक ही बुद्धि के तीन भेद (सात्त्विक, राजस और तामस) करके भगवान् ने अर्जुन को पहले यह बतलाया है कि :–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

अर्थात् "सात्त्विक बुद्धि वह है, कि जिसे इन बातों का यथार्थ ज्ञान है :– कौन-सा काम करना चाहिये और कौन-सा नहीं, कौन-सा काम करने योग्य है और कौन-सा अयोग्य, किस बात से डरना चाहिये और किस बात से नहीं, किसमें बंधन है और किसमें मोक्ष" (गी. १८. ३०.)। इसके बाद यह बतलाया है कि :-

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

अर्थात् "धर्म और अधर्म, अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय जो बुद्धि नहीं कर सकती, यानी जो बुद्धि हमेशा भूल किया करती है, वह राजसी है" (१८. ३१)। और अन्त में कहा है कि :–

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

अर्थात् "अधर्म को ही धर्म माननेवाली, अथवा सब बातों का विपरीत या उलटा निर्णय करनेवाली बुद्धि तामसी कहलाती है" (गी. १८. ३२)। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है, कि केवल भले-बुरे का निर्णय करनेवाली, अर्थात् सदसद्विवेक-बुद्धिरूप स्वतंत्र और भिन्न देवता गीता को सम्मत नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है, कि सदैव ठीक ठीक निर्णय करनेवाली बुद्धि हो ही नहीं सकती। उपर्युक्त श्लोकों का भावार्थ यही है, कि बुद्धि एक ही है; और ठीक ठीक निर्णय करने का

सात्त्विक गुण इसी एक बुद्धि में पूर्वसंस्कारों के कारण शिक्षा से तथा इंद्रियनिग्रह अथवा आहार आदि के कारण उत्पन्न हो जाता है; और इन पूर्वसंस्कार-प्रभृति कारणों के अभाव से ही – वह बुद्धि जैसे कार्य-अकार्य-निर्णय के विषय में वैसे ही अन्य दूसरी बातों में भी – राजसी अथवा तामसी हो सकती है। इस सिद्धान्त की सहायता से भली भाँति मालूम हो जाता है, कि चोर और साहु की बुद्धि में, तथा भिन्न भिन्न देशों के मनुष्यों की बुद्धि में भिन्नता क्यों हुआ करती है। परन्तु जब हम सदसद्विवेचन-शक्ति को स्वतंत्र देवता मानते हैं, तब उक्त विषय की उपपत्ति ठीक ठीक सिद्ध नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, कि वह अपनी बुद्धि को सात्त्विक बनावे। यह काम इंद्रियनिग्रह के बिना हो नहीं सकता। जब तक व्यवसायात्मिक बुद्धि यह जानने में समर्थ नहीं है, कि मनुष्य का हित किस बात में है; और जब तक वह उस बात का निर्णय या परीक्षा किये बिना ही इंद्रियों की इच्छानुसार आचरण करती रहती है, तब तक वह बुद्धि 'शुद्ध' नहीं कही जा सकती। अतएव बुद्धि को मन और इंद्रियों के अधीन नहीं होने देना चाहिये। किन्तु ऐसा उपाय करना चाहिये, कि जिससे मन और इंद्रियाँ बुद्धि के अधीन रहें। भगवद्गीता (२. ६७, ६८; ३. ७, ४१; ६, २४-२६) में यही सिद्धान्त अनेक स्थानों में बतलाया गया है; और यही कारण है, कि कठोपनिषद् में शरीर को रथ की उपमा दी गई है; तथा यह रूपक बाँधा गया है, कि उस शरीररूपी रथ में जुते हुए इंद्रियाँरूपी घोड़ों को विषयोपभोग के मार्ग में अच्छी तरह चलाने के लिये (व्यवसायात्मिक) बुद्धिरूपी सारथी को मनोमय लगाम धीरता से खींचे रहना चाहिये (कठ. ३. ३–९)। महाभारत (वन. २१०, २५; स्त्री. ७. १३; अश्व. ५१. ५) में भी यही रूपक दो-तीन स्थानों में कुछ हेरफेर के साथ लिया गया है। इंद्रियनिग्रह के इस कार्य का वर्णन करने के लिये उक्त दृष्टान्त इतना अच्छा है, कि ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने भी इंद्रियनिग्रह का वर्णन करते समय इसी रूपक का उपयोग अपने ग्रंथ में किया है (फिड्रस. २४६)। भगवद्गीता में, यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष रूप से नहीं पाया जाता। तथापि इस विषय के संदर्भ की ओर जो ध्यान देगा, उसे यह बात अवश्य मालूम हो जायगी, कि गीता के उपर्युक्त श्लोकों में इन्द्रियनिग्रह का वर्णन इस दृष्टान्त को लक्ष्य करके ही किया गया है। सामान्यतः, अर्थात् जब शास्त्रीय सूक्ष्म भेद करने की आवश्यकता नहीं होती तब, उसी को मनोनिग्रह भी कहते हैं। परन्तु जब 'मन' और 'बुद्धि' में – जैसा कि ऊपर कह आये हैं – भेद किया जाता है, तब निग्रह करने का कार्य मन को नहीं, किन्तु व्यवसायात्मिक बुद्धि को ही करना पड़ता है। इस व्यवसायात्मिक बुद्धि को शुद्ध करने के लिये – पातंजल-योग की समाधि से, भक्ति से, ज्ञान से अथवा ध्यान से परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को पहचान कर – यह तत्त्व पूर्णतया बुद्धि में भिद जाना चाहिये कि, 'सब प्राणियों में एक ही आत्मा है'। इसी को आत्मनिष्ठ

बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार जब व्यवसायात्मिक बुद्धि आत्मनिष्ठ हो जाती है और मनोनिग्रह की सहायता से मन और इन्द्रियाँ उसकी अधीनता में रह कर आज्ञानुसार आचरण करना सीख जाती हैं, तब इच्छा, वासना आदि मनोधर्म (अर्थात् वासनात्मक बुद्धि) आप-ही-आप शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं; और शुद्ध सात्त्विक कर्मों की ओर देहेन्द्रियों की सहज ही प्रवृत्ति होने लगती है। अध्यात्म की दृष्टि से यही सब सदाचरणों की जड़ अर्थात् कर्मयोगशास्त्र का रहस्य है।

ऊपर किये गये विवेचन से पाठक समझ जावेंगे, कि हमारे शास्त्रकारों ने मन और बुद्धि की स्वाभाविक वृत्तियों के अतिरिक्त सदसद्विवेक-शक्तिरूप स्वतंत्र देवता का अस्तित्व क्यों नहीं माना है। उनके मतानुसार भी मन या बुद्धि का गौरव करने के लिये उन्हें 'देवता' कहने में कोई हर्ज़ नहीं है; परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करके उन्होंने निश्चित सिद्धान्त किया है, कि जिसे हम मन या बुद्धि कहते हैं, उससे भिन्न और स्वयंभू 'सदसद्विवेक' नामक किसी तीसरे देवता का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। ' सतां हि सन्देहपदेषु० ' वचन के 'सतां' पद की उपयुक्तता और महत्ता भी अब भली भाँति प्रकट हो जाती है। जिनके मन शुद्ध और आत्मनिष्ठ हैं, वे यदि अपने अन्तःकरण की गवाही लें, तो कोई अनुचित बात न होगी; अथवा यह भी कहा जा सकता है, कि किसी काम को करने के पहले उनके लिये यही उचित है, कि वे अपने मन को अच्छी तरह शुद्ध करके उसी की गवाही लिया करें। परन्तु यदि कोई चोर कहने लगे, कि ' मैं भी इसी प्रकार आचरण करता हूँ ' तो यह कदापि उचित न होगा। क्योंकि, दोनों की सदसद्विवेचन-शक्ति एक ही सी नहीं होती। सत्पुरुषों की बुद्धि सात्त्विक और चोरों की तामसी होती है। सारांश, आधिदैवत पक्षवालों का ' सदसद्विवेक-देवता ' तत्त्वज्ञान की दृष्टि से स्वतंत्र देवता सिद्ध नहीं होता; किन्तु हमारे शास्त्रकारों का सिद्धान्त है, कि वह तो व्यवसायात्मिक बुद्धि के स्वरूपों ही में से एक आत्मनिष्ठ अर्थात् सात्त्विक स्वरूप है। और जब यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है, तब आधिदैवत पक्ष अपने आप ही कमज़ोर हो जाता है।

जब सिद्ध हो गया, कि आधिभौतिक-पक्ष एकदेशीय तथा अपूर्ण है; और आधिदैवत पक्ष की सहल युक्ति भी किसी काम की नहीं, तब यह जानना आवश्यक है, कि कर्मयोगशास्त्र की उपपत्ति ढूँढ़ने के लिये कोई अन्य मार्ग है या नहीं। और उत्तर भी यह मिलता है, कि हाँ, मार्ग है; और उसी को आध्यात्मिक कहते हैं। इसका कारण यह है, कि यद्यपि बाह्य-कर्मों की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, तथापि जब सदसद्विवेक-बुद्धि नामक स्वतंत्र और स्वयंभू देवता का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, तब कर्मयोगशास्त्र में भी इन प्रश्नों का विचार करना आवश्यक हो जाता है, कि शुद्ध कर्म करने के लिये बुद्धि को किस प्रकार शुद्ध रखना चाहिये;

शुद्ध बुद्धि किसे कहते हैं; अथवा बुद्धि किस प्रकार शुद्ध की जा सकती है। और यह विचार केवल बाह्य-सृष्टि का विचार करनेवाले आधिभौतिकशास्त्रों को छोड़े बिना, तथा अध्यात्मज्ञान में प्रवेश किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता। इस विषय में हमारे शास्त्रकारों का अन्तिम सिद्धान्त यही है, कि जिस बुद्धि को आत्मा का अथवा परमेश्वर के सर्वव्यापी यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, वह बुद्धि शुद्ध नहीं है। गीता में अध्यात्मशास्त्र का निरूपण यही बतलाने के लिये किया गया है, कि आत्मनिष्ठ बुद्धि किसे कहना चाहिये। परंतु इस पूर्वापर-संबंध की ओर ध्यान न दे कर, गीता के कुछ साम्प्रदायिक टीकाकारों ने यह निश्चय किया है, कि गीता में मुख्य प्रतिपाद्य वेदान्त ही है। आगे चल कर यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई जायगी, कि गीता में प्रतिपादन किये गये विषय के सम्बन्ध में उक्त टीकाकारों का किया हुआ निर्णय ठीक नहीं है। यहाँ पर सिर्फ़ यही बतलाया है, कि बुद्धि को शुद्ध रखने के लिये आत्मा का भी अवश्य विचार करना पड़ता है। आत्मा के विषय में यह विचार दो प्रकार किया जाता है :– (१) स्वयं अपने पिण्ड, क्षेत्र अथवा शरीर के और मन के व्यापारों का निरीक्षण करके यह विचार करना, कि उस निरीक्षण से क्षेत्ररूपी आत्मा कैसे उत्पन्न होता है (गी. अ. १३)। इसी को शारीरक अथवा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कहते हैं; और इसी कारण वेदान्तसूत्रों को शारीरक (शरीर का विचार करनेवाले) सूत्र कहते हैं। स्वयं अपने अपने शरीर और मन का इस प्रकार विचार होने पर, (२) जानना चाहिये, कि उस विचार से निष्पन्न होनेवाले तत्त्व – और हमारे चारों ओर की दृश्य-सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड के निरीक्षण से निष्पन्न होनेवाला तत्त्व – दोनों एक ही हैं अथवा भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार किये गये सृष्टि के निरीक्षण को क्षर-अक्षर-विचार अथवा व्यक्त-अव्यक्त-विचार कहते हैं। सृष्टि के सब नाशवान् पदार्थों को 'क्षर' या 'व्यक्त' कहते हैं; और सृष्टि के उन नाशवान् पदार्थों में जो सारभूत नित्यतत्त्व है, उसे 'अक्षर' या 'अव्यक्त' कहते हैं (गी. ८. २१; १५. १६)। क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार और क्षर-अक्षर-विचार से प्राप्त होनेवाले इन दोनों तत्त्वों का फिर से विचार करने पर प्रकट होता है, कि ये दोनों तत्त्व जिससे निष्पन्न हुए हैं और इन दोनों के परे जो सब का मूलभूत एकतत्त्व है, उसी को 'परमात्मा' अथवा 'पुरुषोत्तम' कहते हैं (गी. ८. २०)। इन बातों का विचार भगवद्गीता में किया गया है; और अन्त में कर्मयोगशास्त्र की उपपत्ति बतलाने के लिये यह दिखलाया गया है, कि मूलभूत परमात्मरूपी तत्त्व के ज्ञान से बुद्धि किस प्रकार शुद्ध हो जाती है। अतएव उस उपपत्ति को अच्छी तरह समझ लेने के लिये हमें भी उन्हीं मार्गों का अनुकरण करना चाहिये। इन मार्गों में से ब्रह्माण्ड-ज्ञान अथवा क्षर-अक्षर-विचार का विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा। इस प्रकरण में, सदसद्विवेक-देवता के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिये, पिण्ड-ज्ञान अथवा

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो विवेचन आरम्भ किया गया वह अधूरा ही रह गया है। इस लिये अब उसे पूरा कर लेना चाहिये।

पाँचभौतिक स्थूल देह, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, इन ज्ञानेंद्रियों के शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधात्मक पाँच विषय, संकल्प-विकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिक बुद्धि – इन सब विषयों का विवेचन हो चुका। परन्तु, इतने ही से शरीरसंबंधी विचार की पूर्णता हो नहीं जाती। मन और बुद्धि केवल विचार के साधन अथवा इन्द्रियाँ हैं। यदि उस जड शरीर में इनके अतिरिक्त प्राणरूपी चेतना अर्थात् हलचल न हो, तो मन और बुद्धि का होना न होना बराबर ही – अर्थात् किसी काम का नहीं – समझा जायगा। अर्थात्, शरीर में, उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त चेतना नामक एक और तत्त्व का भी समावेश होना चाहिये। कभी कभी 'चेतना' शब्द का अर्थ 'चैतन्य' भी हुआ करता है। परन्तु स्मरण रहे, कि यहाँ पर 'चेतना' शब्द का अर्थ 'चैतन्य' नहीं माना गया है; वरन् 'जड देह में दृग्गोचर होनेवाली प्राणों की हलचल, चेष्टा या जीवितावस्था का व्यवहार' सिर्फ यही अर्थ विवक्षित है। जिसका हित-शक्ति के द्वारा जड पदार्थों में भी हलचल अथवा व्यापार उत्पन्न हुआ करता है, उसको चैतन्य कहते हैं; और अब इसी शक्ति के विषय में विचार करना है। शरीर में दृग्गोचर होनेवाले सजीवता के व्यापार अथवा चेतना के अतिरिक्त जिसके कारण 'मेरा-तेरा' यह भेद उत्पन्न होता है, वह भी एक भिन्न गुण है। उसका कारण यह है, कि उपर्युक्त विवेचन के अनुसार बुद्धि सार-असार का विचार करके केवल निर्णय करनेवाली एक इन्द्रिय है; अतएव 'मेरा-तेरा' इस भेद-भाव के मूल को अर्थात् अहंकार को उस बुद्धि से पृथक् ही मानना पड़ता है। इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व मन ही के गुण हैं। परन्तु नैयायिक इन्हें आत्मा के गुण समझते हैं। इसी लिये इस भ्रम को हटाने के अर्थ वेदान्तशास्त्र ने इसका समावेश मन ही में किया है। इसी प्रकार जिन मूलतत्त्वों से पंचमहाभूत उत्पन्न हुए हैं, उन प्रकृतिरूप तत्त्वों का भी समावेश शरीर ही में किया जाता है (गी. १३.५, ६)। जिस शक्ति के द्वारा ये तत्त्व स्थिर रहते हैं, वह भी इन सब से न्यारी है। उसे धृति कहते हैं (गी. १८. ३३)। इन सब बातों को एकत्र करने से जो समुच्चय-रूपी पदार्थ बनता है, उसे शास्त्रों में सविकार शरीर अथवा क्षेत्र कहा है; और व्यवहार में इसी चलता-फिरता (सविकार) मनुष्य शरीर अथवा पिण्ड कहते हैं। क्षेत्र शब्द की यह व्याख्या गीता के आधार पर की गई है; परन्तु इच्छा-द्वेष आदि गुणों की गणना करते समय कभी इस व्याख्या में कुछ हेरफेर भी कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, शान्ति-पर्व के जनक-सुलभा-संवाद (शां. ३२०) में शरीर की व्याख्या करते समय पंचकर्मेन्द्रियों के बदले काल, सदसद्भाव, विधि, शुक्र और बल का समावेश किया गया है। इस गणना के अनुसार पंचकर्मेन्द्रियों को पंचमहाभूतों ही में शामिल करना

पड़ता है; और यह मानना पड़ता है, कि गीता की गणना के अनुसार काल का अन्तर्भाव आकाश में और विधि-बल आदिकों का अन्तर्भाव अन्य महाभूतों में किया गया है। कुछ भी हो; इसमें संदेह नहीं, कि क्षेत्र शब्द से सब लोगों को एक ही अर्थ अभिप्रेत है। अर्थात्, मानसिक और शारीरिक सब द्रव्यों और गुणों का प्राणरूपी विशिष्ट चेतनायुक्त जो समुदाय है, उसी को क्षेत्र कहते हैं। शरीर शब्द का उपयोग मृत देह के लिये भी किया जाता है। अतएव उस विषय का विचार करते समय 'क्षेत्र' शब्द ही का अधिक उपयोग किया जाता है। क्योंकि वह शरीर शब्द से भिन्न है। 'क्षेत्र' का मूल अर्थ खेत है; परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में 'सविकार और सजीव मनुष्य-देह' के अर्थ में उसका लाक्षणिक उपयोग किया गया है। पहले जिसे हमने 'बड़ा कारखाना' कहा है, वह यही 'सविकार और सजीव मनुष्य देह' है। बाहर का माल भीतर लेने के लिये और कारखाने के भीतर का माल बाहर भेजने के लिये, ज्ञानेन्द्रियाँ उस कारखाने के यथाक्रम द्वार हैं; और मन, बुद्धि, अहंकार एवं चेतना उस कारखाने में काम करनेवाले नौकर हैं। ये नौकर जो कुछ व्यवहार कराते हैं या करते हैं, उन्हें इस क्षेत्र के व्यापार, विकार अथवा कर्म कहते हैं।

इस प्रकार 'क्षेत्र' शब्द का अर्थ निश्चित हो जाने पर यह प्रश्न सहज ही उठता है, कि यह क्षेत्र अथवा खेत है किसका? कारखाने का कोई स्वामी भी है या नहीं? आत्मा शब्द का उपयोग बहुधा मन, अन्तःकरण तथा स्वयं अपने लिये भी किया जाता है। परन्तु उसका प्रधान अर्थ 'क्षेत्रज्ञ' अथवा 'शरीर का स्वामी' ही है। मनुष्य के जितने व्यापार हुआ करते हैं – चाहे वे मानसिक हों या शारीरिक – वे सब उसकी बुद्धि आदि अन्तरिन्द्रियाँ, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा हस्त-पाद आदि कर्मेन्द्रियाँ ही किया करती हैं। इन्द्रियों के इस समूह में बुद्धि और मन सब से श्रेष्ठ हैं। परंतु, यद्यपि वे श्रेष्ठ हैं, तथापि अन्य इन्द्रियों के समान वे भी अन्त में जड देह वा प्रकृति के ही विकार हैं (अगला प्रकरण देखो) अतएव, यद्यपि मन और बुद्धि समश्रेष्ठ है, तथापि उन्हें अपने अपने विशिष्ट व्यापार के अतिरिक्त और कुछ करते धरते नहीं बनता; और न कर सकनां संभव ही है। यही सच है, कि मन चिंतन करता है और बुद्धि निश्चित करती है। परंतु इससे यह निश्चित नहीं होता, कि इन कामों को बुद्धि और मन किस के लिये करते हैं; अथवा भिन्न भिन्न समय पर मन और बुद्धि के पृथक् पृथक् व्यापार हुआ करते हैं, इनका एकत्र ज्ञान होने के लिये जो एकता करनी पड़ती है, वह एकता या एकीकरण कौन करता है; तथा उसी के अनुसार आगे सब इन्द्रियों को अपना अपना व्यापार तदनुकूल करने की दिशा कौन दिखाता है। यह नहीं कहा जा सकता, कि यह सब काम मनुष्य का जड शरीर ही किया करता है। इसका कारण यह है, कि जब शरीर की चेतना अथवा सब हलचल करने के व्यापार नष्ट

हो जाते हैं, तब जड शरीर के बने रहने पर भी वह इन कामों को नहीं कर सकता; और जड शरीर के घटकावयव जैसे मांस, स्नायु इत्यादि तो अन्न के परिणाम हैं; तथा वे हमेशा जीर्ण हो कर नये हो जाया करते हैं। इसलिये, 'कल जो मैंने अमुक एक बात देखी थी, वही मैं आज दूसरी देख रहा हूँ' इस प्रकार की एकत्वबुद्धि के विषय में यह नहीं कहा जा सकता, कि वह नित्य बदलनेवाले जड शरीर का ही धर्म है। अच्छा; अब जड देह छोड़ कर चेतना को ही स्वामी मानें, तो यह आपत्ति दीख पड़ती है, कि गाढ निद्रा में प्राणादि वायु के श्वासोच्छ्वास प्रभृति व्यापार अथवा रुधिराभिसरण आदि व्यापार – अर्थात् चेतना – के रहते हुए भी, 'मैं' का ज्ञान नहीं रहता (बृ. २. १. १५–१८)। अतएव यह सिद्ध होता है, कि चेतना – अथवा प्राण प्रभृति का व्यापार – भी जड पदार्थ में उत्पन्न होनेवाला एक प्रकार का विशिष्ट गुण है। वह इन्द्रियों के सब व्यापारों की एकता करनेवाली मूलशक्ति या स्वामी नहीं है (कठ. ५. ५)। 'मेरा' और 'तेरा' इन सम्बन्धकारक शब्दों से केवल अहंकाररूपी गुण का बोध होता है; परन्तु इस बात का निर्णय नहीं होता, कि 'अहं' अर्थात् 'मैं' कौन हूँ। यदि इस 'मैं' या 'अहं' को केवल भ्रम मान लें, तो प्रत्येक की प्रतीति अथवा अनुभव वैसा नहीं है; और इस अनुभव को छोड़ कर किसी अन्य बात की कल्पना करना मानों श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के निम्न वचनों की सार्थकता ही कर दिखाना है – "प्रतीति के बिना कोई भी कथन अच्छा नहीं लगता। वह कथन ऐसा होता है, जैसे कुत्ता मुँह फैला कर रो गया हो!" (दा. ६. ५)। अनुभव के विपरीत इस बात को मान लेने पर भी इन्द्रियों के व्यापारों की एकता की उपपत्ति का कुछ भी पता नहीं लगता। कुछ लोगों की राय है, कि 'मैं' कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, 'क्षेत्र' शब्द में जिन – मन, बुद्धि, चेतना, जड देह आदि – तत्त्वों का समावेश किया जाता है, उन सब के संघात या समुच्चय को ही 'मैं' कहना चाहिये। अब यह बात हम प्रत्यक्ष देखा करते हैं, कि लकड़ी पर लकड़ी रख देने से ही सन्दूक नहीं बन जाती; अथवा किसी घड़ी के सब कील-पुर्जों को एक स्थान में रख देने से ही उसमें गति उत्पन्न नहीं हो जाती। अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि केवल संघात या समुच्चय से ही कर्तृत्व उत्पन्न होता है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि क्षेत्र के सब व्यापार सीड़ी सरीखे नहीं होते। किन्तु उनमें कोई विशिष्ट दिशा, उद्देश या हेतु रहता है। तो फिर क्षेत्ररूपी कारखाने में काम करनेवाले मन, बुद्धि आदि सब नौकरों को इस विशिष्ट दिशा या उद्देश की ओर कौन प्रवृत्त करता है? संघात का अर्थ केवल समूह है। कुछ पदार्थों को एकत्र करके उनका एक समूह बन जाने पर भी विलग न होने के लिये उनमें धागा डालना पड़ता है। नहीं तो वे फिर कभी-न-कभी अलग अलग हो जायेंगे। अब हमें सोचना चाहिये, कि यह धागा कौनसा है? यह बात नहीं है, कि गीता को संघात मान्य न हो; परन्तु

उसकी गणना क्षेत्र ही में की जाती है (गीता १३. ६)। संघात से इस बात का निर्णय नहीं होता, कि क्षेत्र का स्वामी अर्थात् क्षेत्रज्ञ कौन है। कुछ लोग समझते हैं, कि समुच्चय में कोई नया गुण उत्पन्न हो जाता है। परन्तु पहले तो यह मत ही सत्य नहीं; क्योंकि तत्त्वज्ञों ने पूर्ण विचार करके सिद्धान्त कर दिया है, कि जो पहले किसी भी रूप से अस्तित्व में नहीं था, वह इस जगत् में नया उत्पन्न नहीं होता (गीता २. १६)। यदि हम इस सिद्धान्त को क्षण भर के लिये एक ओर धर दें, तो भी यह प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाता है, कि संघात में उत्पन्न होनेवाला यह नया गुण ही क्षेत्र का स्वामी क्यों न माना जाय। इस पर कई अर्वाचीन आधिभौतिकशास्त्रज्ञों का कथन है, कि द्रव्य और उसके गुण भिन्न भिन्न नहीं रह सकते; गुण के लिये किसी-न-किसी अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। इसी कारण समुच्चयोत्पन्न गुण के बदले लोग समुच्चय ही को इस क्षेत्र का स्वामी मानते हैं। ठीक है; परन्तु फिर व्यवहार में भी 'अग्नि' शब्द के बदले लकड़ी, 'विद्युत्' के बदले मेघ, अथवा पृथ्वी की 'आकर्षण-शक्ति' के बदले पृथ्वी ही क्यों नहीं कहा जाता? यदि यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि क्षेत्र के सब व्यापार व्यवस्थापूर्वक उचित रीति से मिल-जुल कर चलते रहने के लिये – मन और बुद्धि के सिवा – किसी भिन्न शक्ति का अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है। और यदि यह बात सच हो, कि उस शक्ति का अधिष्ठान अब तक हमारे लिये अगम्य है; अथवा उस शक्ति या अधिष्ठान का पूर्ण-स्वरूप ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता है; तो यह कहना न्यायोचित कैसे हो सकता है, कि वह शक्ति है ही नहीं? जैसे कोई भी मनुष्य अपने ही कंधे पर बैठ नहीं सकता, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता, कि संघातसंबंधी ज्ञान स्वयं संघात ही प्राप्त कर लेता है। अतएव तर्क की दृष्टि से भी यही दृढ अनुमान किया जाता है, कि देहेंद्रिय आदि संघात के व्यापार जिसके उपभोग के लिये अथवा लाभ के लिये हुआ करते हैं, वह संघात से भिन्न ही है। यह तत्त्व – जो कि संघात से भिन्न है – स्वयं सब बातों को जानता है। इसलिये यह बात सच है, कि सृष्टि के अन्य पदार्थों के सदृश यह स्वयं अपने ही लिये 'ज्ञेय' अर्थात् गोचर हो नहीं सकता। परन्तु इसके आस्तित्व में कुछ बाधा नहीं पड़ सकती। क्योंकि यह नियम नहीं है, कि सब पदार्थों को एक ही श्रेणी या वर्ग (जैसे ज्ञेय) में शामिल कर देना चाहिये। सब पदार्थों के वर्ग या विभाग होते हैं; जैसे ज्ञाता और ज्ञेय – अर्थात् जाननेवाला और जानने की वस्तु। और जब कोई वस्तु दूसरे वर्ग (ज्ञेय) में शामिल नहीं होती, तब उसका समावेश पहले वर्ग (ज्ञाता) में हो जाता है। एवं उसका अस्तित्व भी ज्ञेय वस्तु के समान ही पूर्णतया सिद्ध होता है। इतना ही नहीं; किन्तु यह भी कहा जा सकता है, कि संघात के परे जो आत्मतत्त्व है, वह स्वयं ज्ञाता है। इसलिये उसको होनेवाले ज्ञान का यदि वह स्वयं विषय न हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी अभि-

प्राय से बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने कहा है, "अरे! जो सब बातों को जानता है, उसको जाननेवाला दूसरा कहाँ से आ सकता है?" – विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृ. २. ४. १४)। अतएव, अन्त में यही सिद्धान्त कहना पड़ता है, कि इस चेतनाविशिष्ट सजीव शरीर (क्षेत्र) में एक ऐसी शक्ति रहती है, जो हाथ-पैर आदि इन्द्रियों से लेकर प्राण, चेतना, मन और बुद्धि जैसे परतन्त्र एवं एकदेशीय नौकरों के भी परे हैं; जो उन सब के व्यापारों की एकता करती है; और उनके कार्यों की दिशा बतलाती है; अथवा जो उनके कर्मों की नित्य साक्षी रह कर उनसे भिन्न, अधिक व्यापक और समर्थ है। सांख्य और वेदान्तशास्त्रों को यह सिद्धान्त मान्य है; और अर्वाचीन समय में जर्मन तत्त्वज्ञ कान्ट ने भी कहा है, कि बुद्धि के व्यापारों का सूक्ष्म निरीक्षण करने से यही तत्त्व निष्पन्न होता है। मन, बुद्धि, अहंकार और चेतना, ये सब शरीर के अर्थात् क्षेत्र के गुण अथवा अवयव हैं। इनका प्रवर्तक इससे भिन्न, स्वतन्त्र और उनके परे है – "यो बुद्धेः परतस्तु सः" (गी. ३. ४२)। सांख्यशास्त्र में इसी का नाम पुरुष है। वेदान्ती इसी को क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र को जाननेवाला आत्मा कहते हैं। 'मैं हूँ' यह प्रत्येक मनुष्य को होनेवाली प्रतीति ही आत्मा के अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण है (वे. सू. शां. भा. ३. ३. ५३, ५४)। किसी को यह नहीं मालूम होता, कि 'मैं नहीं हूँ'! इतना ही नहीं; किन्तु मुख से 'मैं नहीं हूँ' शब्दों का उच्चारण करते समय भी 'नहीं हूँ' इस क्रियापद के कर्ता का – अर्थात् 'मैं' का – अथवा आत्मा का वा 'अपना' अस्तित्व वह प्रत्यक्ष रीति से माना ही करता है। इस प्रकार 'मैं' इस अहंकारयुक्त सगुण रूप से शरीर में, स्वयं अपने ही को व्यक्त होनेवाले आत्मतत्त्व के अर्थात् क्षेत्रज्ञ के असली, शुद्ध और गुणविरहित स्वरूप का यथाशक्ति निर्णय करने के लिये वेदान्तशास्त्र की उत्पत्ति हुई है (गी. १३. ४)। तथापि यह निर्णय केवल शरीर अर्थात् क्षेत्र का ही विचार करके नहीं किया जाता। पहले कहा जा चुका है, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विचार के अतिरिक्त यह भी सोचना पड़ता है, कि बाह्यसृष्टि (ब्रह्माण्ड) का विचार करने से कौन-सा तत्त्व नित्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड के इस विचार का ही नाम 'क्षर-अक्षर-विचार' है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार से इस बात का निर्णय होता है, कि क्षेत्र में (अर्थात् शरीर या पिंड में) कौन-सा मूलतत्त्व (क्षेत्रज्ञ या आत्मा) है; और क्षर-अक्षर से बाह्य-सृष्टि के अर्थात् ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व का ज्ञान होता है। जब इस प्रकार पिंड और ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्वों का पहले पृथक् पृथक् निर्णय हो जाता है, तब वेदान्त में अन्तिम सिद्धान्त किया जाता है*, कि ये दोनों तत्त्व एकरूप अर्थात् एक ही हैं – यानी 'जो

* हमारे शास्त्रों के क्षर-अक्षर-विचार और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार के वर्गीकरण से ग्रीन साहब परिचित न थे। तथापि, उन्हों ने अपने *Prolegomena to Ethics* ग्रन्थ के आरम्भ में अध्यात्म का जो विवेचन किया है, उसमें पहले Spiritual Principle in

पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। यही चराचर सृष्टि में अन्तिम सत्य है। पश्चिमी देशों में भी इन बातों की चर्चा की गई है; और कान्ट जैसे कुछ पश्चिमी तत्त्वज्ञों के सिद्धान्त हमारे वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलते-जुलते भी हैं। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं, और जब हम यह भी देखते हैं, कि वर्तमान समय की नाईं प्राचीन काल में आधिभौतिक शास्त्रों की उन्नति नहीं हुई थी; तब ऐसी अवस्था में जिन लोगों ने वेदान्त के अपूर्व सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकाला, उनके अलौकिक बुद्धिवैभव के बारे में आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। और न केवल आश्चर्य ही होना चाहिये, किन्तु उसके बारे में उचित अभिमान भी होना चाहिये।

Nature और Spiritual Principle in Man इन दोनों तत्त्वों का विचार किया है और फिर उनकी एकता दिखाई गई है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में Psychology आदि मानसशास्त्रों का, और क्षर-अक्षर-विचार में Physics, Metaphysics आदि शास्त्रों का समावेश होता है। इस बात को पश्चिमी पण्डित भी मानते हैं, कि उक्त सब शास्त्रों का विचार कर लेने पर ही आत्मस्वरूप का निर्णय करना पड़ता है।

सातवाँ प्रकरण

कापिलसांख्यशास्त्र अथवा क्षराक्षरविचार

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। *

– गी. १३. १९

पिछले प्रकरण में यह बात बतला दी गई है, कि शरीर और शरीर के स्वामी या अधिष्ठाता – क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ – के विचार के साथ ही साथ दृश्यसृष्टि और उसके मूलतत्त्व – क्षर और अक्षर – का भी विचार करने के पश्चात् फिर आत्मा के स्वरूप का निर्णय करना पड़ता है। इस क्षर-अक्षर सृष्टि का योग्य रीति से वर्णन करनेवाले तीन शास्त्र हैं। पहला न्यायशास्त्र और दूसरा कापिलसांख्य-शास्त्र। परन्तु इन दोनों शास्त्रों के सिद्धान्तों को अपूर्ण ठहरा कर वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्म-स्वरूप का निर्णय एक तीसरी ही रीति से किया है। इस कारण वेदान्तप्रति-पादित उपपत्ति का विचार करने के पहले हमें न्याय और सांख्य शास्त्रों के सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिये। बादरायणाचार्य के वेदान्तसूत्रों में इसी पद्धति से काम लिया गया है; और न्याय तथा सांख्य के मतों का दूसरे अध्याय में खंडन किया गया है। यद्यपि इस विषय का यहाँ पर विस्तृत वर्णन नहीं कर सकते, तथापि हमने उन बातों का उल्लेख इस प्रकरण में और अगले प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है, कि जिनकी भगवद्गीता का रहस्य समझने में आवश्यकता है। नैयायिकों के सिद्धान्तों की अपेक्षा सांख्यवादियों के सिद्धान्त अधिक महत्त्व के हैं। इसका कारण यह है, कि कणाद के न्यायमतों को किसी भी प्रमुख वेदान्ती ने स्वीकार नहीं किया है, परन्तु कापिलसांख्यशास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों का उल्लेख मनु आदि के स्मृतिग्रन्थों में तथा गीता में भी पाया जाता है। वही बात बादरायणाचार्य ने भी (वे. सू. २. १. १२ और २. २. १७) कही है। इस कारण पाठकों को सांख्य के सिद्धान्तों का परिचय प्रथम ही होना चाहिये। इस में सन्देह नहीं, कि वेदान्त में सांख्यशास्त्र के बहुत से सिद्धान्त पाये जाते हैं; परन्तु स्मरण रहे, कि सांख्य और वेदान्त के अंतिम सिद्धान्त एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है, कि वेदान्त और सांख्य के जो सिद्धान्त आपस में मिलते-जुलते हैं उन्हें पहले किसने निकाला था – वेदान्तियों ने या सांख्यवादियों ने? परन्तु इस ग्रन्थ में इतने गहन विचार में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रश्न का उत्तर तीन प्रकार से दिया जा सकता है। पहला यह, कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और सांख्य दोनों की वृद्धि, दो सगे भाइयों के समान, साथ ही साथ

* 'प्रकृति और पुरुष, दोनों को अनादि जानो।'

हुई हो; और उपनिषदों में जो सिद्धान्त सांख्यों के मतों के समान दीख पड़ते हैं, उन्हें उपनिषत्कारों ने स्वतंत्र रीति से खोज़ निकाला हो। दूसरा यह, कि कदाचित् कुछ सिद्धान्त सांख्यशास्त्र से लेकर वेदान्तियों ने उन्हें वेदान्त के अनुकूल स्वरूप दे दिया हो। तीसरा यह कि प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में ही कपिलाचार्य ने अपने मत के अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्यशास्त्र की उपपत्ति कर दी हो। इन तीनों में से तीसरी बात ही अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती है; क्योंकि, यद्यपि वेदान्त और सांख्य दोनों बहुत प्राचीन हैं, तथापि उनमें वेदान्त या उपनिषद् सांख्य से भी अधिक प्राचीन (श्रौत) हैं। अस्तु; यदि पहले हम न्याय और सांख्य के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ लें तो फिर वेदान्त के—विशेषतः गीता-प्रतिपादित वेदान्त के—तत्त्व जल्दी समझ में आ जायेंगे। इसलिये पहले हमें इस बात का विचार करना चाहिये, कि इन दो स्मार्त शास्त्रों का, क्षर-अक्षर-सृष्टि की रचना के विषय में क्या मत है।

बहुतेरे लोग न्यायशास्त्र का यही उपयोग समझते हैं, कि किसी विवक्षित अथवा गृहीत बात से तर्क के द्वारा कुछ अनुमान कैसे निकाले जावें; और इन अनुमानों में से यह निर्णय कैसे किया जावें, कि कौन-से सही हैं और कौन-से गलत हैं। परन्तु यह भूल है। अनुमानादि प्रमाणखंड न्यायशास्त्र का एक भाग है सही; परन्तु यही कुछ उसका प्रधान विषय नहीं है। प्रमाणों के अतिरिक्त, सृष्टि की अनेक वस्तुओं का यानी प्रमेय पदार्थों का वर्गीकरण करके नीचे के वर्ग से ऊपर के वर्ग की ओर चढ़ते जाने से सृष्टि के सब पदार्थों के मूलवर्ग कितने हैं, उनके गुण-धर्म क्या हैं, उनसे अन्य पदार्थों की उत्पत्ति कैसी होती है, और ये बातें किस प्रकार सिद्ध हो सकती हैं, इत्यादि अनेक प्रश्नों का भी विचार न्याय-शास्त्र में किया गया है। यही कहना उचित होगा, कि यह शास्त्र केवल अनुमान-खंड का विचार करने के लिये नहीं; वरन् उक्त प्रश्नों का विचार करने ही के लिये निर्माण किया गया है। कणाद के न्यायसूत्रों का आरंभ और आगे की रचना भी इसी प्रकार की है। कणाद के अनुयायियों को काणाद कहते हैं। इन दोनों का कहना है, कि जगत् का मूलकारण परमाणु ही है। परमाणु के विषय में कणाद की और पश्चिमी आधिभौतिक-शास्त्रज्ञों की व्याख्या एक ही समान है। किसी भी पदार्थ का विभाग करते करते अन्त में जब विभाग नहीं हो सकता, तब उसे परमाणु (परम + अणु) कहना चाहिये। जैसे जैसे ये परमाणु एकत्र होते जाते हैं, वैसे वैसे संयोग के कारण उनमें नये नये गुण उत्पन्न होते हैं; और भिन्न भिन्न पदार्थ बनते जाते हैं। मन और आत्मा के भी परमाणु होते हैं; और जब वे एकत्र होते हैं तब चैतन्य की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज, और वायु के परमाणु स्वभाव ही से पृथक् पृथक् हैं। पृथ्वी के मूलपरमाणु में चार गुण (रूप, रस, गंध, स्पर्श) हैं; पानी के परमाणु में तीन गुण हैं, तेज के परमाणु में दो गुण

हैं, और वायु के परमाणु में एक ही गुण है। इस प्रकार सब जगत् पहले से ही सूक्ष्म और नित्य परमाणुओं से भरा हुआ है। परमाणुओं के सिवा संसार का मूलकारण और कुछ भी नहीं है। जब सूक्ष्म और नित्य परमाणुओं के परस्पर संयोग का 'आरंभ' होता है, तब सृष्टि के व्यक्त पदार्थ बनने लगते हैं। नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध की कल्पना को 'आरंभ-वाद' कहते हैं। कुछ नैयायिक इसके आगे कभी नहीं बढ़ते। एक नैयायिक के बारे में कहा जाता है, कि मृत्यु के समय जब उससे ईश्वर का नाम लेने को कहा गया, तब वह 'पीलवः! पीलवः! पीलवः!' – परमाणु! परमाणु! परमाणु! – चिल्ला उठा कुछ दूसरे नैयायिक यह मानते हैं, कि परमाणुओं के संयोग का निमित्तकारण ईश्वर है! इस प्रकार वे सृष्टि की कारण-परंपरा की शृंखला को पूर्ण कर लेते हैं। ऐसे नैयायिकों को सेश्वर कहते हैं। वेदान्तसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद में इस परमाणुवाद का (२. २. ११–१७) और इसके साथ ही साथ 'ईश्वर केवल निमित्तकारण है' इस मत का भी (२. २. ३७–३९) खंडन किया गया है।

उल्लिखित परमाणुवाद का वर्णन पढ़ कर अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकों को अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञ डाल्टन के परमाणुवाद का अवश्य ही स्मरण होगा। परन्तु पश्चिमी देशों में प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ डार्विन के उत्क्रान्तिवाद ने जिस प्रकार डाल्टन के परमाणुवाद की जड़ ही उखाड़ दी है, उसी प्रकार हमारे देश में भी प्राचीन समय में सांख्य-मत ने कणाद के मत की बुनियाद हिला डाली थी। कणाद के अनुयायी यह नहीं बतला सकते, कि मूल परमाणु को गति कैसे मिली। इसके अतिरिक्त वे लोग इस बात का भी यथोचित निर्णय नहीं कर सकते कि वृक्ष, पशु, मनुष्य इत्यादि सचेतन प्राणियों की क्रमशः बढ़ती हुई श्रेणियाँ कैसे बनीं; और अचेतन को सचेतनता कैसे प्राप्त हुई। यह निर्णय पश्चिमी देशों में उन्नीसवी सदी में लामार्क और डार्विन ने, तथा हमारे यहाँ प्राचीन समय में कपिलमुनि ने किया है। दोनों मतों का यही तात्पर्य है, कि एक ही मूलपदार्थ के गुणों का विकास हुआ; और फिर धीरे धीरे सब सृष्टि की रचना होती गई। इस कारण पहले हिंदुस्थान में, और सब पश्चिमी देशों में भी, परमाणुवाद पर विश्वास नहीं रहा है। अब तो आधुनिक पदार्थशास्त्रज्ञों ने यह भी सिद्ध कर दिखाया है, कि परमाणु अविभाज्य नहीं हैं। आजकल जैसे सृष्टि के अनेक पदार्थों का पृथक्करण और परीक्षण करके अनेक सृष्टिशास्त्रों के आधार पर परमाणुवाद या उत्क्रान्तिवाद को सिद्ध कर दे सकते हैं, वैसे प्राचीन समय में नहीं कर सकते थे। सृष्टि के पदार्थों पर नये नये और भिन्न भिन्न प्रयोग करना, अथवा अनेक प्रकार से उनका पृथक्करण करके उनके गुण-धर्म निश्चित करना, या सजीव सृष्टि के नये-पुराने अनेक प्राणियों के शारीरिक अवयवों की एकत्र तुलना करना इत्यादि आधिभौतिक शास्त्रों की अर्वाचीन युक्तियाँ कणाद या कपिल को मालूम नहीं थी। उस समय उनकी

दृष्टि के सामने जितनी सामग्री थी, उसी के आधार पर उन्हों ने अपने सिद्धान्त ढूँढ निकाले हैं। तथापि, यह आश्चर्य की बात है, कि सृष्टि की वृद्धि और उसकी घटना के विषय में सांख्यशास्त्रकारों के तात्त्विक सिद्धान्त में और अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रकारों के तात्त्विक सिद्धान्त में, बहुत-सा भेद नहीं है। इसमें संदेह नहीं, कि सृष्टिशास्त्र के ज्ञान की वृद्धि के कारण वर्तमान समय में इस मत की आधिभौतिक उपपत्ति का वर्णन अधिक नियमबद्ध प्रणाली से किया जा सकता है; और आधिभौतिक ज्ञान की वृद्धि के कारण हमें व्यवहार की दृष्टि से भी बहुत लाभ हुआ है। परन्तु आधिभौतिक शास्त्रकार भी एक ही अव्यक्त प्रकृति से अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि कैसे हुई, इस विषय में कपिल की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं बतला सकते। इस बात को भली भाँति समझा देने के लिये ही हमने आगे चल कर, बीच में कपिल के सिद्धान्तों के साथ ही साथ, हेकेल के सिद्धान्तों का भी, तुलना के लिये संक्षिप्त वर्णन किया है। हेकेल ने अपने ग्रन्थ में साफ़ साफ़ लिख दिया है, कि मैंने ये सिद्धान्त कुछ नये सिरे से नहीं खोजे हैं; वरन्, डार्विन, स्पेन्सर, इत्यादि पिछले आधिभौतिक पंडितों के ग्रंथों के आधार से ही मैं अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता हूँ। तथापि, पहले पहल उसी ने इन सब सिद्धान्तों को ठीक ठीक नियमानुसार लिख कर सरलतापूर्वक इनका एकत्र वर्णन 'विश्व की पहेली'* नामक ग्रंथ में किया है। इस कारण, सुभीते के लिये, हमने उसे ही सब आधिभौतिक तत्त्वज्ञों का मुखिया माना है; और उसी के मतों का इस प्रकरण में तथा अगले प्रकरण में विशेष उल्लेख किया है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि यह उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त है; परन्तु इससे अधिक इन सिद्धान्तों का विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं किया जा सकता। जिन्हें इस विषय का विस्तृत वर्णन पढ़ना हो उन्हें स्पेन्सर, डार्विन, हेकेल आदि पंडितों के मूलग्रन्थों को अवलोकन करना चाहिये।

कपिल के सांख्यशास्त्र का विचार करने के पहले यह कह देना उचित होगा, कि 'सांख्य' शब्द के दो भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। पहला अर्थ कपिलाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'सांख्यशास्त्र' है। उसी का उल्लेख इस प्रकरण में, तथा एक बार भगवद्गीता (१८. १३) में भी किया गया है। परन्तु, इस विशिष्ट अर्थ के सिवा सब प्रकार के तत्त्वज्ञान को भी सामन्यतः 'सांख्य' ही कहने की परिपाठी है; और इसी 'सांख्य' शब्द में वेदान्तशास्त्र का भी समावेश किया है। 'सांख्यनिष्ठा' अथवा 'सांख्ययोग' शब्दों में 'सांख्य' का यही सामान्य अर्थ अभीष्ट है। इस निष्ठा के ज्ञानी पुरुषों को भी भगवद्गीता में जहाँ (गी. २. ३९; ३. ३; ५. ४, ५; और १३. २४) 'सांख्य' कहा है, वहाँ सांख्य शब्द का अर्थ केवल कापिल

* *The Riddle of the Universe*, by Ernst Haeckel इस ग्रन्थ की R. P. A. Cheap reprint आवृत्ति का ही हमने सर्वत्र उपयोग किया है।

सांख्यमार्गी ही नहीं है; वरन् उसमें, आत्म-अनात्म-विचार से सब कर्मों का संन्यास करके ब्रह्मज्ञान में निमग्न रहनेवाले वेदान्तियों का भी समावेश किया गया है। शब्द-शास्त्रज्ञों का कथन है, कि 'सांख्य' शब्द 'सं-ख्या' धातु से बना है। इसलिये इसका पहला अर्थ 'गिननेवाला' है; और कपिलशास्त्र के मूलतत्त्व नेगिने सिर्फ़ पचीस ही हैं। इसलिये उसे 'गिननेवाले' के अर्थ में यह विशिष्ट 'सांख्य' नाम दिया गया। अनन्तर फिर 'सांख्य' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक हो गया; और उसमें सब प्रकार के तत्त्वज्ञान का समावेश होने लगा। यही कारण है, कि जब पहले पहल कापिल-भिक्षुओं को 'सांख्य' कहने की परिपाठी प्रचलित हो गई, तब वेदान्ती संन्यासियों को भी यही नाम दिया जाने लगा होगा। कुछ भी हो; इस प्रकरण का हमने जान-बूझकर यह लम्बा-चौड़ा 'कापिलसांख्यशास्त्र' नाम इसलिये रखा है, कि सांख्य शब्द के उक्त अर्थ-भेद के कारण कुछ गड़बड़ी न हो। कापिलसांख्यशास्त्र में भी कणाद के न्यायशास्त्र के समान सूत्र हैं। परंतु गौडपादाचार्य या शारीर-भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने इन सूत्रों का आधार अपने ग्रन्थों में नहीं लिया है। इसलिये बहुतेरे विद्वान् समझते हैं, कि ये सूत्र कदाचित् प्राचीन न हों। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' उक्त सूत्रों से प्राचीन मानी जाती है; और उस पर शंकराचार्य के दादागुरु गौडपाद ने भाष्य लिखा है। शांकर-भाष्य में भी इसी कारिका के कुछ अवतरण लिये हैं। सन् ५७० ईसवी से पहले इस ग्रन्थ का जो अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था वह इस समय उपलब्ध है।* ईश्वरकृष्ण ने अपनी 'कारिका' के अन्त में कहा है, कि 'षष्टितन्त्र' नामक साठ प्रकरणों के एक प्राचीन और विस्तृत ग्रन्थ का भावार्थ (कुछ प्रकरणों को छोड़) सत्तर आर्या-पद्यों में इस ग्रन्थ में दिया गया है। यह षष्टितन्त्र ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसी लिये इन कारिकाओं के आधार पर ही कापिलसांख्यशास्त्र के मूलसिद्धान्तों का विवेचन हमने यहाँ किया है। महाभारत में सांख्य-मत का

---

* अब बौद्ध ग्रन्थों से ईश्वरकृष्ण का बहुत कुछ हाल जाना जा सकता है। बौद्ध पण्डित वसुबंधु का गुरु ईश्वरकृष्ण का समकालीन प्रतिपक्षी था। वसुबन्धु का जो जीवन-चरित, परमार्थ ने (सन ई. ४९९ – ५६९ में) चीनी भाषा में लिखा था, वह अब प्रकाशित हुआ है। इससे डॉक्टर टककस् ने यह अनुमान किया है, कि ईश्वरकृष्ण का समय सन ४५० ई० के लगभग है। *Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland*, 1905 pp. 33–53. परन्तु डॉक्टर विन्सेन्ट स्मिथ की राय है, कि स्वयं वसुबन्धु का समय ही चौथी सदी में (लगभग २८० – ३६०) होना चाहिये। क्योंकि उसके ग्रन्थों का अनुवाद सन ४०४ ईसवी में चीनी भाषा में हुआ है। वसुबन्धु का समय इस प्रकार जब पीछे हट जाता है, तब उसी प्रकार ईश्वरकृष्ण का समय भी करीब २०० वर्ष पीछे हटाना पड़ता है; अर्थात् सन २४० ईसवी के लगभग ईश्वरकृष्ण का समय आ पहुँचता है। Vincent Smith's *Early History of India*, 3rd. Ed. p. 328.

निर्णय कई अध्यायों में किया गया है। परन्तु उनमें वेदान्त-मतों का भी मिश्रण हो गया है; इसलिये कपिल के शुद्ध सांख्य-मत को जानने के लिये दूसरे ग्रन्थों को भी देखने की आवश्यकता होती है। इस काम के लिये उक्त सांख्यकारिका की अपेक्षा कोई भी अधिक प्राचीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। भगवान् ने भगवद्गीता में कहा है, 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गी. १०. २६) – सिद्धों में कपिलमुनि मैं हूँ; – इस से कपिल की योग्यता भली भाँति सिद्ध होती है। तथापि यह बात मालूम नहीं, कि कपिल ऋषि कहाँ और कब हुए। शांतिपर्व (३४०. ६७) में एक जगह लिखा है, कि सनत्कुमार, सनक, सनंदन, सनत्सुजात, सन, सनातन और कपिल ये सातों ब्रह्मदेव के मानसपुत्र हैं। इन्हें जन्म से ही ज्ञान हो गया था। दूसरे स्थान (शां. २१८) में कपिल के शिष्य आसुरि के चेले पंचशिख ने जनक को सांख्यशास्त्र का जो उपदेश दिया था उसका उल्लेख है। इसी प्रकार शांतिपर्व (३०१. १०८. १०९) में भीष्म ने कहा है, कि सांख्यों ने सृष्टि-रचना इत्यादि के बारे में एक बार जो ज्ञान प्रचलित कर दिया है, वही 'पुराण, इतिहास, अर्थशास्त्र' आदि सब में पाया जाता है। वही क्यों; यहाँ तक कहा गया है, कि 'ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्' – अर्थात् इस जगत् का सब ज्ञान सांख्यों से ही प्राप्त हुआ है (म. भा. शां. ३०१. १०९)। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय, कि वर्तमान समय में पश्चिमी ग्रन्थकार उत्क्रान्तिवाद का उपयोग सब जगह कैसे किया करते हैं; तो यह बात आश्चर्यजनक नहीं मालूम होगी, कि इस देश के निवासियों ने भी उत्क्रान्तिवाद की बराबरी के सांख्यशास्त्र का सर्वत्र कुछ अंश में स्वीकार किया है। 'गुरुत्वाकर्षण' सृष्टिरचना के 'उत्क्रान्तितत्त्व'* या 'ब्रह्मात्मैक्य' के समान उदात्त विचार सैकडों बरसों में ही किसी महात्मा के ध्यान में आया करते हैं। इसलिये यह बात सामान्यतः सभी देशों के ग्रन्थों में पाई जाती है, कि जिस समय जो सामान्य सिद्धान्त या व्यापक तत्त्व समाज में प्रचलित रहता है, उस के आधार पर ही किसी ग्रन्थ के विषय का प्रतिपादन किया जाता है।

आजकल कापिलसांख्यशास्त्र का अभ्यास प्रायः लुप्त हो गया है। इसी लिये यह प्रस्तावना करनी पड़ी। अब हम यह देखेंगे, कि इस शास्त्र के मुख्य सिद्धान्त कौन-से हैं। सांख्यशास्त्र का पहला सिद्धान्त यह है, कि इस संसार में नई वस्तु कोई भी उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि, शून्य से, – अर्थात् जो पहले था ही नहीं

* Evolution Theory के अर्थ में 'उत्क्रान्ति-तत्त्व' का उपयोग आजकल किया जाता है। इसलिये हमने भी यहाँ उसी शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु संस्कृत में 'उत्क्रान्ति' शब्द का अर्थ मृत्यु है। इस कारण 'उत्क्रान्ति' के बदले गुणविकास, गुणोत्कर्ष, या गुणपरिणाम आदि सांख्यवादियों के शब्दों का उपयोग करना हमारी समझ में अधिक योग्य होगा।

उससे – शून्य को छोड़ और कुछ भी प्राप्त हो नहीं सकता। इसलिये यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये, कि उत्पन्न हुई वस्तु में – अर्थात् कार्य में – जो गुण दीख पड़ते हैं, वे गुण जिससे यह वस्तु उत्पन्न हुई है, उसमें (अर्थात् कारण में) सूक्ष्म रीति से तो अवश्य होने ही चाहिये (सां. का. ९)। बौद्ध और काणाद यह मानते हैं, कि पदार्थ का नाश हो कर उससे दूसरा नया पदार्थ बनता है। उदाहरणार्थ, बीज का नाश होने के बाद उससे अंकुर और अंकुर का नाश होने के बाद उससे पेड़ होता है। परन्तु सांख्यशास्त्रियों और वेदान्तियों को यह मत पसंद नहीं है। वे कहते हैं, कि वृक्ष के बीज में जो 'द्रव्य' हैं उनका नाश नहीं होता; किन्तु वे ही द्रव्य ज़मीन से और वायु से दूसरे द्रव्यों को खींच लिया करते हैं,; और इसी कारण से बीज को अंकुर का नया स्वरूप या अवस्था प्राप्त हो जाती है (वे. सू. शां. भा. २. १. १८)। इसी प्रकार जब लकड़ी जलती है, तब उसके ही राख या धुआँ आदि रूपान्तर हो जाते हैं। लकड़ी के मूल 'द्रव्यों' का नाश हो कर धुआँ नामक कोई नया पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। छांदोग्योपनिषद (६. २. २) में कहा है 'कथमसतः सज्जायेत' – जो है ही नहीं – उससे जो है – वह कैसे प्राप्त हो सकता है। जगत् के मूलकारण के लिये 'असत्' शब्द का उपयोग कभी कभी उपनिषदों में किया गया है (छां. ३. १९. १; तै. २. ७. १); परन्तु यहाँ 'असत्' का अर्थ 'अभाव – नहीं' नहीं है; किन्तु वेदान्तसूत्रों (२. १. १६. १७) में यह निश्चय किया गया है, कि 'असत्' शब्द से केवल नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप या अवस्था का अभाव ही विवक्षित है। दूध से ही दही बनता है, पानी से नहीं; तिल से ही तेल निकलता है, बालू से नहीं; इत्यादि प्रत्यक्ष देखे हुए अनुभवों से भी यही सिद्धान्त प्रकट होता है। यदि हम यह मान लें, कि 'कारण' में जो गुण नहीं है, वे 'कार्य' में स्वतन्त्र रीति से उत्पन्न होते हैं; तो फिर हम इसका कारण नहीं बतला सकते, कि पानी से दही क्यों नहीं बनता? सारांश यह है, कि जो मूल में है ही नहीं, उससे अभी जो अस्तित्व में है, वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये सांख्यवादियों ने यह सिद्धान्त निकाला है, कि किसी कार्य के वर्तमान द्रव्यांश और गुण मूलकारण में भी किसी-न-किसी रूप से रहते हैं। इसी सिद्धान्त को **'सत्कार्यवाद'** कहते हैं। अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञान के ज्ञाताओं ने भी यही सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला है, कि पदार्थों के जड द्रव्य और कर्मशक्ति दोनों सर्वदा मौजूद रहते हैं। किसी पदार्थ के चाहिये जितने रूपान्तर हो जायँ; तो भी अन्त में सृष्टि के कुल द्रव्यांश का और कर्म-शक्ति का जोड़ हमेशा एक-सा बना रहता है। उदाहरणार्थ, जब हम दीपक को जलता देखते हैं, तब तेल भी धीरे धीरे कम होता जाता है; और अन्त में वह नष्ट हुआ-सा दीख पड़ता है। यद्यपि यह सब तेल जल जाता है, तथापि उसके परमाणुओं का बिलकुल ही नाश नहीं हो जाता। उन परमाणुओं का अस्तित्व धुएँ या काजल

या अन्य सूक्ष्म द्रव्यों के रूप में बना रहता है। यदि हम इन सूक्ष्म द्रव्यों को एकत्र करके तौलें तो मालूम होगा, कि उनका तौल या वज़न तेल और तेल के जलते समय उसमें मिले हुए वायु के पदार्थों के बराबर होता है। अब तो यह भी सिद्ध हो चुका है, कि उक्त नियम कर्म-शक्ति के विषय में भी लगाया जा सकता है। यह बात याद रखनी चाहिये, कि यद्यपि आधुनिक पदार्थविज्ञानशास्त्र का और सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त देखने में एक ही सा जान पड़ता है, तथापि सांख्यवादियों का सिद्धान्त केवल एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति के ही विषय में – अर्थात् सिर्फ़ कार्य-कारण-भाव ही के संबंध में – उपयुक्त होता है। परन्तु, अर्वाचीन पदार्थविज्ञानशास्त्र का सिद्धान्त इससे अधिक व्यापक है। 'कार्य' का कोई भी गुण 'कारण' के बाहर के गुणों से उत्पन्न नहीं हो सकता। इतना ही नहीं; किन्तु जब कारण को कार्य का स्वरूप प्राप्त होता है, तब उस कार्य में रहनेवाले द्रव्यांश और कर्म-शक्ति का कुछ भी नाश नहीं होता। पदार्थ की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के द्रव्यांश और कर्मशक्ति के जोड़ का वज़न भी सदैव एक ही सा रहता है – न तो वह घटता है और न बढ़ता है। यह बात प्रत्यक्ष प्रयोग से गणित के द्वारा सिद्ध कर दी गई है। यही उक्त दोनों सिद्धान्तों में महत्त्व की विशेषता है। इस प्रकार जब हम विचार करते हैं, तो हमें जान पड़ता है, कि भगवद्गीता के 'नासतो विद्यते भावः' – जो है ही नहीं, उसका कभी भी अस्तित्व हो नहीं सकता – इत्यादि सिद्धान्त जो दूसरे अध्याय के आरम्भ में दिये गये हैं (गी. २. १६), वे यद्यपि देखने में सत्कार्यवाद के समान दीख पड़े, तो भी उनकी समता केवल कार्य-कारणात्मक सत्कार्यवाद की अपेक्षा अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञानशास्त्र के सिद्धान्तों के साथ अधिक है। छांदोग्योपनिषद् के उपर्युक्त वचन का भी यही भावार्थ है। सारांश, सत्कार्यवाद का सिद्धान्त वेदान्तियों को मान्य है; परन्तु अद्वैत वेदान्तशास्त्र का मत है, कि इस सिद्धान्त का उपयोग सगुण सृष्टि के परे कुछ भी नहीं किया जा सकता। और निर्गुण की उत्पत्ति कैसे दीख पड़ती है, इस बात की उपपत्ति और ही प्रकार से लगानी चाहिये। इस वेदान्त-मत का विचार आगे चल कर अध्यात्म-प्रकरण में विस्तृत रीति से किया जायगा। इस समय तो हमें सिर्फ़ यही विचार करना है, कि सांख्यवादियों की पहुँच कहाँ तक है। इसलिये अब हम इस बात का विचार करेंगे, कि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मान कर सांख्यों ने क्षर-अक्षर-शास्त्र में उसका उपयोग कैसे किया है।

सांख्यमतानुसार जब सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है, तब यह मत आप-ही-आप गिर जाता है, कि दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति शून्य से हुई है। क्योंकि, शून्य से अर्थात् जो कुछ भी नहीं है, उससे 'अस्तित्व में है' वह उत्पन्न नहीं हो सकता। इस बात से यह साफ़ साफ़ सिद्ध होता है, कि सृष्टि किसी-न-किसी पदार्थ से उत्पन्न हुई है; इस समय सृष्टि में जो गुण हमें दीख पड़ते हैं, वे ही इस मूलपदार्थ

में भी होने चाहिये। अब यदि हम सृष्टि की ओर देखें, तो हमें वृक्ष, पशु, मनुष्य, पत्थर, सोना, चाँदी, हीरा, जल, वायु इत्यादि अनेक पदार्थ दीख पड़ते हैं; और इन सब के रूप तथा गुण भी भिन्न भिन्न हैं। सांख्यवादियों का सिद्धान्त है, कि यह भिन्नता या नानात्व आदि में – अर्थात् मूलपदार्थ में – नहीं है; किन्तु मूल में सब वस्तुओं का द्रव्य एक ही है। अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञों ने भिन्न भिन्न द्रव्यों का पृथक्करण करके पहले ६२ मूलतत्त्व ढूँढ निकाले थे; परन्तु अब पश्चिम विज्ञानवेत्ताओं ने भी यह निश्चय कर लिया है, कि ये ६२ मूलतत्त्व स्वतंत्र या स्वयंसिद्ध नहीं हैं। किन्तु इन सब की जड़ में कोई-न-कोई एक ही पदार्थ है; और उस पदार्थ से ही सूर्य, चंद्र, तारागण, पृथ्वी इत्यादि सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसलिये अब उक्त सिद्धान्त का अधिक विवेचन आवश्यक नहीं है। जगत् के सब पदार्थों का जो यह मूलद्रव्य है, उसे ही सांख्यशास्त्र में 'प्रकृति' कहते हैं। प्रकृति का अर्थ 'मूल का' है। इस प्रकृति से आगे जो पदार्थ बनते हैं, उन्हें 'विकृति' अर्थात् मूलद्रव्य के विकार कहते हैं।

परन्तु यद्यपि सब पदार्थों में मूलद्रव्य एक ही है, तथापि यदि इस मूलद्रव्य में गुण भी एक ही हो, तो सत्कार्यवादानुसार इन एक ही गुण से अनेक गुणों का उत्पन्न होना संभव नहीं है। और, इधर तो जब हम इस जगत् के पत्थर, मिट्टी, पानी, सोना इत्यादि भिन्न भिन्न पदार्थों की ओर देखते हैं, तब उनमें भिन्न भिन्न अनेक गुण पाये जाते हैं। इसलिये पहले सब पदार्थों के गुणों का निरीक्षण करके सांख्यवादियों ने इन गुणों के सत्त्व, रज और तम ये तीन भेद या वर्ग कर दिये हैं। इसका कारण यही है, कि जब हम किसी भी पदार्थ को देखते हैं, तब स्वभावतः उसकी दो भिन्न भिन्न अवस्थाएँ दीख पडती हैं; – पहली शुद्ध, निर्मल या पूर्णावस्था, और दूसरी उसके विरुद्ध निकृष्टावस्था। परन्तु साथ ही साथ निकृष्टावस्था से पूर्णावस्था की ओर बढ़ने की उस पदार्थ की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर हुआ करती है; यही तीसरी अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओं में से शुद्धावस्था या पूर्णावस्था को सात्त्विक, निकृष्टावस्था को तामसिक और प्रवर्तकावस्था को राजसिक कहते हैं। इस प्रकार सांख्यवादी कहते हैं, कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण सब पदार्थों के मूलद्रव्य में अर्थात् प्रकृति में आरम्भ से ही रहा करते हैं। यदि यह कहा जाय, कि इन तीन गुणों ही को प्रकृति कहते हैं, तो अनुचित नहीं होगा। इन तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण का जोर आरम्भ में समान या बराबर रहता है, इसी लिये पहले पहल यह प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। यह साम्यावस्था जगत् के आरम्भ में थी; और जगत् का लय हो जाने पर वैसी ही फिर हो जायगी। साम्यावस्था में कुछ भी हलचल नहीं होती, सब कुछ स्तब्ध रहता है। परन्तु जब उक्त तीनों गुण न्यूनाधिक होने लगते हैं, तब प्रवृत्त्यात्मक रजोगुण के कारण मूलप्रकृति से भिन्न भिन्न पदार्थ होने लगते हैं;

और सृष्टि का आरम्भ होने लगता है। अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है, कि यदि पहले सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में थे, तो इनमें न्यूनाधिकता कैसे हुई है? इस प्रश्न का सांख्यवादी यही उत्तर देते हैं, कि यह प्रकृति का मूल-भूत ही है (सां. का. ६१)। यद्यपि प्रकृति जड है, तथापि वह आप-ही-आप व्यवहार करती रहती है। इन तीनों गुणों में से सत्त्वगुण का लक्षण ज्ञान अर्थात् जानना और तमोगुण का लक्षण अज्ञानता है। रजोगुण बुरे या भले कार्य का प्रवर्तक है। ये तीनों गुण कभी अलग अलग नहीं रह सकते। सब पदार्थों में सत्त्व, रज और तम तीनों का मिश्रण रहता ही है; और यह मिश्रण हमेशा इन तीनों की परस्पर-न्यूनाधिकता से हुआ करता है। इसलिये यद्यपि मूलद्रव्य एक ही है, तो भी गुण-भेद के कारण एक मूलद्रव्य के ही सोना, मिट्टी, जल, आकाश, मनुष्य का शरीर इत्यादि भिन्न भिन्न अनेक विकार हो जाते हैं। जिसे हम सात्त्विक गुण का पदार्थ कहते हैं, उसमें, रज और तम की अपेक्षा, सत्त्वगुण का जोर या परिणाम अधिक रहता है, इस कारण उस पदार्थ में हमेशा रहनेवाले रज और तम दोनों गुण दब जाते हैं और वे हमें दीख नहीं पड़ते। वस्तुतः सत्त्व, रज और तम तीनों गुण अन्य पदार्थों के समान, सात्त्विक पदार्थ में भी विद्यमान रहते हैं। केवल सत्त्वगुण का, केवल रजोगुण का, या केवल तमोगुण का कोई पदार्थ ही नहीं है। प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुणों का रगड़ा-झगड़ा चला ही करता है; और, इस झगड़े में जो गुण प्रबल हो जाता है, उसी के अनुसार हम प्रत्येक पदार्थ को सात्त्विक, राजस या तामस कहा करते हैं (सां. का. १२; म. भा. अश्व. – अनुगीता – ३६, और शां. ३०५)। उदाहरणार्थ, अपने शरीर में जब रज और तम गुणों पर सत्त्व का प्रभाव जम जाता है, तब अपने अंतःकरण में ज्ञान उत्पन्न होता है, सत्य का परिचय होने लगता है, और चित्तवृत्ति शान्त हो जाती है। उस समय यह नहीं समझना चाहिये, कि अपने शरीर में रजोगुण और तमोगुण बिलकुल हैं ही नहीं; बल्कि वे सत्त्वगुण के प्रभाव से दब जाते हैं। इसलिये उनका कुछ अधिकार चलने नहीं पाता (गी. १४.१०)। यदि सत्त्व के बदले रजोगुण प्रबल हो जाय, तो अन्तःकरणमें लोभ जागृत हो जाता है, इच्छा बढ़ने लगती है, और वह हमें अनेक कामों में प्रवृत्त करती है। इसी प्रकार जब सत्त्व और रज की अपेक्षा तमोगुण प्रबल हो जाता है, तब निद्रा, आलस्य, स्मृतिभ्रंश इत्यादि दोष शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। तात्पर्य यह है, कि इस जगत् के पदार्थों में सोना, लोहा, पारा इत्यादि जो अनेकता या भिन्नता दीख पड़ती है, वह प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की ही परस्पर-न्यूनाधिकता का फल है। मूलप्रकृति यद्यपि एक ही है, तो भी जानना चाहिये, कि यह अनेकता या भिन्नता कैसे उत्पन्न हो जाती है। बस, इसी विचार को 'विज्ञान' कहते हैं। इसी में सब आधिभौतिक शास्त्रों का भी समावेश हो जाता है।

उदाहरणार्थ, रसायनशास्त्र, विद्युच्छास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र, सब विविध-ज्ञान या विज्ञान ही हैं।

साम्यावस्था में रहनेवाली प्रकृति को सांख्यशास्त्र में 'अव्यक्त' अर्थात् इन्द्रियों को गोचर न होनेवाली कहा है। इस प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की परस्पर-न्यूनाधिकता के कारण जो अनेक पदार्थ हमारी इन्द्रियों को गोचर होते हैं, अर्थात् जिन्हें हम देखते हैं, सुनते हैं, चखते हैं, सूँघते हैं, या स्पर्श करते हैं, उन्हें सांख्यशास्त्र में 'व्यक्त' कहा है। स्मरण रहे, कि जो पदार्थ हमारी इन्द्रियों को स्पष्ट रीति से गोचर हो सकते हैं, वे सब 'व्यक्त' कहलाते हैं। चाहे फिर वे पदार्थ अपनी आकृति के कारण, रूप के कारण, गंध के कारण, या किसी अन्य गुण के कारण व्यक्त होते हों। व्यक्त पदार्थ अनेक हैं। उनमें से कुछ, जैसे पत्थर, पेड़, पशु इत्यादि स्थूल कहलाते हैं; और कुछ जैसे मन, बुद्धि, आकाश इत्यादि (यद्यपि ये इन्द्रिय-गोचर अर्थात् व्यक्त हैं, तथापि) सूक्ष्म कहलाते हैं। यहाँ 'सूक्ष्म' से छोटे का मतलब नहीं है। क्योंकि आकाश यद्यपि सूक्ष्म है, तथापि वह सारे जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। इसलिये, सूक्ष्म शब्द से ' स्थूल के विरुद्ध ' या वायु से भी अधिक महीन, यही अर्थ लेना चाहिये। 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' शब्दों से किसी वस्तु की शरीर-रचना का ज्ञान होता है; और 'व्यक्त' एवं 'अव्यक्त' शब्दों से हमें यह बोध होता है, कि उस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें हो सकता है या नहीं। अतएव भिन्न भिन्न पदार्थों में से (चाहे वे दोनों सूक्ष्म हों तो भी) एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि हवा सूक्ष्म है, तथापि हमारी स्पर्शेन्द्रिय को उसका ज्ञान होता है। इसलिये उसे व्यक्त कहते हैं। और सब पदार्थों की मूलप्रकृति (या मूलद्रव्य) वायु से भी अत्यंत सूक्ष्म है और उसका ज्ञान हमारी किसी इन्द्रिय को नहीं होता; इसलिये उसे अव्यक्त कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यदि इस प्रकृति का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय को नहीं होता, तो उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्यवादी इस प्रकार देते हैं, कि अनेक व्यक्त पदार्थों के अवलोकन से सत्कार्यवाद के अनुसार यही अनुमान सिद्ध होता है, कि इन सब पदार्थों का मूलरूप (प्रकृति) यद्यपि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष गोचर न हो, तथापि उसका अस्तित्व सूक्ष्म रूप से अवश्य होना ही चाहिये (सां. का. ८)। वेदान्तियों ने भी ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये इसी युक्ति को स्वीकार किया है (कठ. ६. १२, १३ पर शांकरभाष्य देखो)। यदि हम प्रकृति को इस प्रकार अत्यंत सूक्ष्म और अव्यक्त मान लें, तो नैयायिकों के परमाणुवाद की जड़ ही उखड़ जाती है। क्योंकि परमाणु यद्यपि अव्यक्त और असंख्य हो सकते हैं, तथापि प्रत्येक परमाणु के स्वतंत्र व्यक्ति या अवयव हो जाने के कारण यह प्रश्न फिर भी शेष रह जाता

है, कि दो परमाणुओं के बीच में कौन-सा पदार्थ है ? इसी कारण सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है, कि प्रकृति में परमाणुरूप अवयव-भेद नहीं है। किन्तु वह सदैव एक से एक लगी हुई – बीच में थोड़ा भी अंतर न छोड़ती हुई – एक ही समान है; अथवा यों कहिये कि वह अव्यक्त (अर्थात् इंद्रियों को गोचर न होनेवाले) और निरवयवरूप से निरंतर और सर्वत्र है। परब्रह्म का वर्णन करते हुए दासबोध (२०. २. ३) में श्रीसमर्थ रामदासस्वामी कहते हैं, " जिधर देखिये उधर ही वह अपार है, उसका किसी ओर पार नहीं है। वह एक ही प्रकार का और स्वतंत्र है, उसमें द्वैत (या और कुछ) नहीं है। "* सांख्यवादियों की 'प्रकृति' विषय में भी यही वर्णन उपयुक्त हो सकता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति अव्यक्त, स्वयंभू और एक ही प्रकार की है; और चारों ओर निरंतर व्याप्त है। आकाश, वायु आदि भेद पीछे से हुए; और यद्यपि वे सूक्ष्म हैं तथापि व्यक्त हैं, और इन सब की मूल-प्रकृति एक ही सी तथा सर्वव्यापी और अव्यक्त है। स्मरण रहे, कि वेदान्तियों के 'परब्रह्म' में और सांख्य-वादियों की 'प्रकृति' में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसका कारण यह है, कि परब्रह्म चैतन्यरूप और निर्गुण है; परन्तु प्रकृति जडरूप और सत्त्वरज-तमोमयी अर्थात् सगुण है। इस विषय पर अधिक विचार आगे किया जायगा। यहाँ सिर्फ़ यही विचार है, कि सांख्यवादियों का मत क्या है। जब हम इस प्रकार 'सूक्ष्म' और 'स्थूल', 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्दों का अर्थ समझने लगे, तब कहना पड़ेगा, कि सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृति के रूप से रहता है। फिर वह (चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल हो) व्यक्त अर्थात् इन्द्रिय-गोचर होता है, और जब प्रलयकाल में इस व्यक्त स्वरूप का नाश होता है, तब फिर वह पदार्थ अव्यक्त प्रकृति में मिलकर अव्यक्त हो जाता है। गीता में भी यही मत दीख पड़ता है (गी. २. २८ और ८. १८)। सांख्यशास्त्र में इस अव्यक्त प्रकृति ही को 'अक्षर' भी कहते हैं; और प्रकृति से होनेवाले सब पदार्थों को 'क्षर' कहते हैं। यहाँ 'क्षर' शब्द का अर्थ, सम्पूर्ण नाश नहीं है; किन्तु सिर्फ़ व्यक्त स्वरूप का नाश ही अपेक्षित है। प्रकृति के और भी अनेक नाम हैं। जैसे प्रधान, गुण-क्षोभिणी, बहुधानक, प्रसव-धर्मिणी इत्यादि। सृष्टि के सब पदार्थों का मुख्य मूल होने के कारण उसे (प्रकृति को) प्रधान कहते हैं। तीनों गुणों की साम्यावस्था का भंग स्वयं आप ही करती हैं, इसलिये उसे गुण-क्षोभिणी कहते हैं। गुणत्रयरूपी पदार्थ-भेद के बीज प्रकृति में हैं; इसलिये उसे बहुधानक कहते हैं। और प्रकृति से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसे प्रसवधर्मिणी कहते हैं। इस प्रकृति ही को वेदान्तशास्त्र में 'माया' अर्थात् मायिक दिखावा कहते हैं।

सृष्टि के सब पदार्थों को 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' या 'क्षर' और 'अक्षर'

* हिन्दी दासबोध, पृष्ठ ४८१ (चित्रशाला, पूना)।

इन दो विभागों में बाँटने के बाद, अब यह सोचना चाहिये, कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में बतलाये गये आत्मा, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों को सांख्य-मत के अनुसार, किस विभाग या वर्ग में रखना चाहिये। क्षेत्र और इन्द्रियाँ तो जड ही हैं; इस कारण उनका समावेश व्यक्त पदार्थों में हो सकता है। परन्तु मन, अहंकार, बुद्धि और विशेष करके आत्मा के विषय में क्या कहा जा सकता है? यूरोप के वर्तमान समय के प्रसिद्ध सृष्टिशास्त्रज्ञ हेकेल ने अपने ग्रन्थ में लिखा है, कि मन, बुद्धि, अहंकार और आत्मा ये सब शरीर के धर्म ही हैं। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं, कि जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड़ जाता है, तब उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है; और वह पागल भी हो जाता है। इसी प्रकार सिर पर चोट लगने से जब मस्तिष्क का कोई भाग बिगड़ जाता है, तब भी इस भाग की मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। सारांश यह है, कि मनोधर्म भी जड मस्तिष्क के ही गुण हैं; अतएव ये जड वस्तु से कभी अलग नहीं किये जा सकते; और इसी लिये मस्तिष्क के साथ साथ मनोधर्म और आत्मा को भी 'व्यक्त' पदार्थों के वर्ग में शामिल करना चाहिये। यदि यह जडवाद मान लिया जाय, तो अन्त में केवल अव्यक्त और जड प्रकृति ही शेष रह जाती है। क्योंकि सब व्यक्त पदार्थ इस मूल-अव्यक्त-प्रकृति से ही बने हैं। ऐसी अवस्था में प्रकृति के सिवा जगत् का कर्ता या उत्पादक दूसरा कोई भी नहीं हो सकता। तब तो यही कहना होगा, कि मूलप्रकृति की शक्ति धीरे धीरे बढ़ती गई, और अन्त में उसी को चैतन्य या आत्मा का स्वरूप प्राप्त हो गया। सत्कार्यवाद के समान, इस मूलप्रकृति के कुछ क़ायदे या नियम बने हुए हैं। और उन्हीं नियमों के अनुसार सब जगत्, और साथ ही साथ मनुष्य भी कैदी के समान बर्ताव किया करता है। जड प्रकृति के सिवा आत्मा कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं; तब कहना नहीं होगा, कि आत्मा न तो अविनाशी है; और न स्वतंत्र। तब मोक्ष या मुक्ति की आवश्यकता ही क्या है? प्रत्येक मनुष्य को मालूम होता है, कि मैं अपनी इच्छा के अनुसार अमुक काम कर लूँगा; परन्तु वह सब केवल भ्रम है। प्रकृति जिस ओर खींचेगी, उसी ओर मनुष्य को झुकना पड़ेगा! अथवा किसी कवि के अर्थानुसार कहना चाहिये, कि 'यह सारा विश्व एक बहुत बड़ा कारागार है, प्राणिमात्र कैदी हैं; और पदार्थों के गुण-धर्म बेड़ियाँ हैं। इन बेड़ियों को कोई तोड़ नहीं सकता।' बस, यही हेकेल के मत का सारांश है। उसके मतानुसार सारी सृष्टि का मूलकारण एक जड और अव्यक्त प्रकृति ही है। इसलिये उसने अपने सिद्धान्त को सिर्फ़* 'अद्वैत' कहा है। परन्तु यह अद्वैत जड़मूलक है, अर्थात् अकेली जड प्रकृति में ही सब बातों का समावेश करता है; इस कारण हम इसे जडाद्वैत या आधिभौतिक-शास्त्राद्वैत कहेंगे।

* हेकेल का मूल शब्द monism है। और इस विषय पर उसने स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा है।

हमारे सांख्यशास्त्रकार इस जडाद्वैत को नहीं मानते। वे कहते हैं, कि मन, बुद्धि और अहंकार पंचमहाभूतात्मक जड प्रकृति ही के धर्म हैं; और सांख्यशास्त्र में भी यही लिखा है, कि अव्यक्त प्रकृति से ही बुद्धि, अहंकार इत्यादि गुण क्रम से उत्पन्न होते जाते हैं। परन्तु उनका कथन है, कि जड प्रकृति से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इतना ही नहीं; वरन् जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने ही कंधों पर बैठ नहीं सकता, उसी प्रकार प्रकृति को जाननेवाला या देखनेवाला जब तक प्रकृति से भिन्न न हो, तब तक वह 'मैं यह जानता हूँ – वह जानता हूँ' इत्यादि भाषा-व्यवहार का उपयोग कर ही नहीं सकता। और इस जगत् के व्यवहारों की ओर देखने से तो सब लोगों का यही अनुभव जान पड़ता है, कि 'मैं जो कुछ देखता हूँ, या जानता हूँ, वह मुझ से भिन्न है।' इसलिये सांख्यशास्त्रवालों ने कहा है, कि ज्ञाता और ज्ञेय, देखनेवाला और देखने की वस्तु या प्रकृति को देखनेवाला और जड प्रकृति, इन दोनों बातों को मूल से ही पृथक् पृथक् मानना चाहिये (सां. का. १७)। पिछले प्रकरण में जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है, वही यह देखनेवाला, ज्ञाता या उपभोग करनेवाला है; और इसे ही सांख्यशास्त्र में 'पुरुष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते हैं। यह ज्ञाता प्रकृति से भिन्न है। इस कारण निसर्ग से ही प्रकृति के तीनों (सत्त्व, रज और तम) गुणों के परे रहता है। अर्थात् यह निर्विकार और निर्गुण है; और जानने या देखने के सिवा कुछ भी नहीं करता। इससे यह भी मालूम हो जाता है, कि जगत् में जो घटनाएँ होती रहती हैं, वे सब प्रकृति ही के खेल हैं। सारांश यह है, कि प्रकृति अचेतन या जड है; और पुरुष सचेतन है। **प्रकृति** सब काम किया करती है; और **पुरुष** उदासीन या अकर्ता है। **प्रकृति** त्रिगुणात्मक है; और **पुरुष** निर्गुण है। **प्रकृति** अंधी है; और **पुरुष** साक्षी है। इस प्रकार इस सृष्टि में यही दो भिन्न भिन्न तत्त्व अनादिसिद्ध, स्वतंत्र और स्वयंभू हैं। यही सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है। इस बात को ध्यान में रख करके ही भगवद्गीता में पहले कहा गया है, कि 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' – प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं (गी. १३. १९)। इसके बाद उनका वर्णन इस प्रकार किया है। 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते' अर्थात् देह और इंद्रियों का व्यापार प्रकृति करती है; और 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते' – अर्थात् पुरुष सुखदुःखों का उपभोग करने के लिये, कारण है। यद्यपि गीता में भी प्रकृति और पुरुष अनादि माने गये हैं, तथापि यह बात ध्यान में रखनी चाहिये, कि सांख्यवादियों के समान, गीता में ये दोनों तत्त्व स्वतंत्र या स्वयंभू नहीं माने गये हैं। कारण यह है, कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकृति को अपनी 'माया' कहा है (गी. ७. १४; १४. ३), और पुरुष के विषय में भी यही कहा है, कि 'ममैवांशो जीवलोके' (गी. १५. ७) अर्थात् वह भी मेरा अंश है। इससे मालूम हो जाता है, कि गीता

सांख्यशास्त्र से भी आगे बढ़ गई है। परन्तु अभी इस बात की ओर ध्यान न दे कर हम देखेंगे, कि सांख्यशास्त्र क्या कहता है।

सांख्यशास्त्र के अनुसार सृष्टि के सब पदार्थों के तीन वर्ग होते हैं। पहला अव्यक्त (प्रकृति मूल), दूसरा व्यक्त (प्रकृति के विकार) और तीसरा पुरुष अर्थात् ज्ञ। परन्तु इनमें से प्रलयकाल के समय व्यक्त पदार्थों का स्वरूप नष्ट हो जाता है। इसलिये अब मूल में केवल प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं। ये दोनों मूलतत्त्व, सांख्यवादियों के मतानुसार अनादि और स्वयंभू हैं। इसलिये सांख्यों को द्वैतवादी (दो मूलतत्त्व माननेवाले) कहते हैं। वे लोग प्रकृति और पुरुष के परे ईश्वर, काल, स्वभाव या अन्य किसी भी मूलतत्त्व को नहीं मानते।* इसका कारण यह है कि सगुण ईश्वर, काल और स्वभाव, ये सब व्यक्त होने के कारण प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले व्यक्त पदार्थों में ही शामिल हैं। और, यदि ईश्वर को निर्गुण मानें, तो सत्कार्यवादानुसार निर्गुण मूलतत्त्व से त्रिगुणात्मक

* ईश्वरकृष्ण कट्टर निरीश्वरवादी था। उसने अपनी सांख्यकारिका की अंतिम उपसंहारात्मक तीन आर्याओं में कहा है, कि मूल विषयपर ७० आर्याएँ थीं। परन्तु कोलब्रुक और विल्सन के अनुवाद के साथ बंबई में श्रीयुत तुकाराम तात्या ने जो पुस्तक मुद्रित की है, उसमें मूल विषय पर केवल ६९ आर्याएँ हैं। इसलिये विल्सन साहब ने अपने अनुवाद में यह संदेह प्रकट किया है, कि ७० वीं आर्या कौन-सी है। परन्तु वह आर्या उनको नहीं मिली; और उनकी शंका का समाधान नहीं हुआ। हमारी मत है, कि यह वर्तमान ६१ वी आर्या के आगे होगी। कारण यह है, कि ६१ वी आर्या पर गौडपादाचार्य का जो भाष्य है, वह कुछ एक ही आर्या पर नहीं है; किन्तु दो आर्याओं पर है। और यदि इस भाष्य के प्रतीक पदों को लेकर आर्या बनाई जाय, तो वह इस प्रकार होगी :–

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

यह आर्या पिछले और अगले संदर्भ (अर्थ या भाव) से ठीक ठीक मिलती भी है। इस आर्या में निरीश्वरमत का प्रतिपादन है। इसलिये जान पड़ता है, कि किसी ने इसे पीछे से निकाल डाला होगा। परन्तु इस आर्या का शोधन करनेवाला मनुष्य इसका भाष्य भी निकाल डालना भूल गया। इसलिये अब हम इस आर्या का ठीक ठीक पता लगा सकते हैं; और इसी से उस मनुष्य को धन्यवाद ही देना चाहिये। श्वेताश्वतरोपनिषद् के छठवें अध्याय के पहले मंत्र से प्रकट होता है, कि प्राचीन समय में कुछ लोग स्वभाव और काल को – और वेदान्ती तो उसके भी आगे बढ़ कर ईश्वर को – जगत् का मूलकारण मानते थे वह मंत्र यह है :–

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैषा महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥

परन्तु ईश्वरकृष्ण ने उपर्युक्त आर्या को वर्तमान ६१ वी आर्या के बाद सिर्फ़ यह बतलाने के लिये रखा है, कि ये तीनों मूलकारण (अर्थात् स्वभाव, काल और ईश्वर) सांख्य-वादियों को मान्य नहीं है।

प्रकृति कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये, उन्होंने यह निश्चित सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुष को छोड़ कर इस सृष्टि का और कोई तिसरा मूलकारण नहीं हैं। इस प्रकार जब उन लोगों ने दो ही मूलतत्त्व निश्चित कर लिये, तब उन्हों ने अपने मत के अनुसार इस बात को भी सिद्ध कर दिया है, कि इन दोनों मूलतत्त्वों से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई है। वे कहते हैं, कि यद्यपि निर्गुण पुरुष कुछ भी कर नहीं सकता, तथापि जब प्रकृति के साथ उसका संयोग होता है, तब जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिये दूध देती है, या लोहचुंबक पास होने से लोहे में आकर्षणशक्ति आ जाती है, उसी प्रकार मूल अव्यक्त प्रकृति अपने गुणों (सूक्ष्म और स्थूल) का व्यक्त फैलाव पुरुष के सामने फैलाने लगती है (सां. का. ५७)। यद्यपि पुरुष सचेतन और ज्ञाता है, तथापि केवल अर्थात् निर्गुण होने के कारण स्वयं कर्म करने के कोई साधन उसके पास नहीं है; और प्रकृति यद्यपि काम करनेवाली है, तथापि जड़ या अचेतन होने के कारण वह नहीं जानती, कि क्या करना चाहिये। इस प्रकार लँगड़े और अंधे की वह जोड़ी है। जैसे अंधे के कंधे पर लँगड़ा बैठे; और वे दोनों एक दूसरे की सहायता से मार्ग चलने लगें; वैसी ही अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुष का संयोग हो जाने पर सृष्टि के सब कार्य आरम्भ हो जाते हैं (सां. का. २१)। और जिस प्रकार नाटक की रंगभूमि पर प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ एक ही नटी कभी एक तो कभी दूसरा ही स्वाँग बना कर नाचती रहती है, उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिये (पुरुषार्थ के लिये) यद्यपि पुरुष कुछ भी पारितोषिक नहीं देता; तो भी यह प्रकृति सत्त्व-रज-तम गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक रूप धारण करके उसके सामने लगातार नाचती रहती है (सां. का. ४९)। प्रकृति के इस नाच को देख कर – मोह से भूल जाने के कारण, या वृथाभिमान के कारण – जब तक पुरुष इस प्रकृति के कर्तृत्व को स्वयं अपना ही कर्तृत्व मानता रहता है; और जब तक वह सुखदुःख के काल में स्वयं अपने को फँसा रखता है, तब तक उसे मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती (गी. ३. २७)। परन्तु जिस समय पुरुष को यह ज्ञान हो जाय, कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हैं; उस समय वह मुक्त ही है (गी. १३. २९, ३०; १४. २०)। क्योंकि, यथार्थ में पुरुष न तो कर्ता है और न बँधा ही है – वह सब प्रकृति ही का खेल है। यहाँ तक कि मन और बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार हैं। इसलिये बुद्धि को जो होता है, वह भी प्रकृति के कार्य का फल है। यह ज्ञान तीन प्रकार का होता है; जैसे : सात्त्विक, राजस और तामस (गी. १८. २०–२२)। जब बुद्धि को सात्त्विक ज्ञान प्राप्त होता है, तब पुरुष को यह मालूम होने लगता है, कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। सत्त्व-रज-तमोगुण प्रकृति के ही धर्म हैं; पुरुष के नहीं। पुरुष निर्गुण है; और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है (म. भा. शां. २०४. ८)।

जब यह वर्णन स्वच्छ या निर्मल हो जाता है, अर्थात् जब अपनी यह बुद्धि – जो प्रकृति का विकार है – सात्त्विक हो जाती है, तब इस निर्मल वर्णन में पुरुष को अपना सात्त्विक स्वरूप दीखने लगता है; और उसे यह बोध हो जाता है, कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। उस समय यह प्रकृति लज्जित हो कर उस पुरुष के सामने नाचना, खेलना या जाल फैलाना बंद कर देती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब पुरुष सब पाशों या जालों से मुक्त हो कर अपने स्वाभाविक कैवल्यपद को पहुँच जाता है। 'कैवल्य' शब्द का अर्थ है केवलता, अकेलापन, या प्रकृति के साथ संयोग न होना। पुरुष के इस नैसर्गिक या स्वाभाविक स्थिति को ही सांख्यशास्त्र में मोक्ष (मुक्ति या छुटकारा) कहते हैं। इस अवस्था के विषय में सांख्यवादियों ने एक बहुत ही नाजुक प्रश्न का विचार उपस्थित किया है। उनका प्रश्न है, कि पुरुष प्रकृति को छोड़ देता है, या प्रकृति पुरुष को छोड़ देती है ? कुछ लोगों की समझ में यह प्रश्न वैसा ही निरर्थक प्रतीत होगा, जैसा यह प्रश्न कि दुलहे के लिये दुलहिन ऊँची है या दुलहिन के लिये दुलहा ठिंगना है। क्योंकि जब दो वस्तुओं का एक दूसरे से वियोग होता है, तब हम देखते हैं, कि दोनों एक दूसरे को छोड़ देती हैं। इसलिये ऐसे प्रश्न का विचार करने से कुछ लाभ नहीं है, कि किसने किसको छोड़ दिया। परन्तु कुछ अधिक सोचने पर मालूम हो जायगा, कि सांख्यवादियों का उक्त प्रश्न उनकी दृष्टि से अयोग्य नहीं है। सांख्यशास्त्र के अनुसार 'पुरुष' निर्गुण, अकर्ता और उदासीन है। इसलिये तत्त्वदृष्टि से 'छोड़ना' या 'पकड़ना' क्रियाओं का कर्ता पुरुष नहीं हो सकता (गी. १३. ३१, ३२)। इसलिये सांख्यवादी कहते हैं, कि प्रकृति ही 'पुरुष' को छोड़ दिया करती है। अर्थात् वही 'पुरुष' से अपना छुटकारा या मुक्ति कर लेती है। क्योंकि कर्तृत्वधर्म 'प्रकृति' ही का है (सां. का. ६२ और गी. १३. ३४)। सारांश यह है, कि मुक्ति नाम की ऐसी कोई निराली अवस्था नहीं है, जो 'पुरुष' को कहीं बाहर से प्राप्त हो जाती हो। अथवा यह कहिये, कि वह 'पुरुष' की मूल और स्वाभाविक स्थिति से कोई भिन्न स्थिति भी नहीं है। प्रकृति और पुरुष में वैसा ही संबंध है, जैसा कि घास के बाहरी छिलके और अंदर के गूदे में रहता है; या जैसा पानी और उसमें रहनेवाली मछली में। सामान्य पुरुष प्रकृति के गुणों से मोहित हो जाते हैं; और अपनी यह स्वाभाविक भिन्नता पहचान नहीं सकते। इसी कारण वे संचार-चक्र में फँसे रहते हैं। परन्तु जो इस भिन्नता को पहचान लेता है, वह मुक्त ही है। महाभारत (शां. १९४. ५७; २४८. ११; और ३०६–३०८) में लिखा है, कि ऐसे ही पुरुष को 'ज्ञाता' या 'बुद्ध' और 'कृतकृत्य' कहते हैं। गीता के वचन 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्' (गी. १५. २०) में बुद्धिमान् शब्द का भी यही अर्थ है। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से मोक्ष का सच्चा स्वरूप भी यही है (वे. सू. शां. भा. १. १. ४)। परन्तु सांख्य-

वादियों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्तियों का विशेष कथन यह है, कि आत्मा ही मैं परब्रह्मस्वरूप है; और जब वह अपने मूलस्वरूप को अर्थात् परब्रह्म को पहचान लेता है, तब वही उसकी मुक्ति है। वे लोग वह कारण नहीं बतलाते, कि पुरुष निसर्गतः 'केवल' है। सांख्य और वेदान्त का यह भेद अगले प्रकरण में स्पष्ट रीति से बतलाया जायगा।

यद्यपि अद्वैत वेदान्तियों को सांख्यवादियों की यह बात मान्य है, कि पुरुष (आत्मा) निर्गुण, उदासीन और अकर्ता है; तथापि वे लोग सांख्यशास्त्र की 'पुरुष'-सम्बन्धी इस दूसरी कल्पना को नहीं मानते, कि एक ही प्रकृति को देखनेवाले (साक्षी) स्वतंत्र पुरुष मूल में ही असंख्य हैं (गी. ८. ४; १३. २०–२२; म. भा. शां. ३५१; और वे. सू. शां. भा. २. १. १ देखो)। वेदान्तियों का कहना है, कि उपाधिभेद के कारण सब जीव भिन्न भिन्न मालूम होते हैं; परन्तु वस्तुतः सब ब्रह्म ही है। सांख्यवादियों का मत है, कि जब हम देखते हैं, कि प्रत्येक मनुष्य का जन्म, मृत्यु और जीवन अलग अलग हैं; और जब इस जगत् में हम यह भेद पाते हैं, कि कोई सुखी है तो कोई दुःखी है; तब मानना पड़ता है, कि प्रत्येक आत्मा या पुरुष मूल से ही भिन्न है, और उनकी संख्या भी अनंत है (सां. का. १८)। केवल प्रकृति और पुरुष ही सब सृष्टि के मूलतत्त्व हैं सही; परन्तु उनमें से पुरुष शब्द में सांख्यवादियों के मतानुसार 'असंख्य पुरुषों के समुदाय' का समावेश होता है। इन असंख्य पुरुषों के और त्रिगुणात्मक प्रकृति के संयोग से सृष्टि का सब व्यवहार हो रहा है। प्रत्येक पुरुष और प्रकृति का जब संयोग होता है, तब प्रकृति अपने गुणों का जाला उस पुरुष के सामने फैलाती है; और पुरुष उसका उपभोग करता रहता है। ऐसा होते होते जिस पुरुष के चारों ओर की प्रकृति के खेल सात्त्विक हो जाते हैं, उस पुरुष को ही (सब पुरुषों को नहीं) सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है; और उस पुरुष के लिये ही प्रकृति के सब खेल बंद हो जाते हैं; एवं वह अपने मूल तथा कैवल्यपद को पहुँच जाता है। परन्तु यद्यपि उस पुरुष को मोक्ष मिल गया, तो भी शेष सब पुरुषों को संसार में फँसे ही रहना पड़ता है। कदाचित् कोई यह समझें, कि ज्योंही पुरुष इस प्रकार कैवल्यपद को पहुँच जाता है, त्योंही वह एकदम प्रकृति के जाले से छूट जाता होगा। परन्तु सांख्यमत के अनुसार यह समझ गलत है। देह और इन्द्रियरूपी प्रकृति के विकार उस मनुष्य की मृत्यु तक उसे नहीं छोड़ते। सांख्यवादी इसका यह कारण बतलाते हैं, कि 'जिस प्रकार कुम्हार का पहिया – घड़ा बन कर निकाल लिया जाने पर भी – पूर्व संस्कार के कारण कुछ देर तक घूमता ही रहता है, उसी प्रकार कैवल्यपद की प्राप्ति हो जाने पर भी इस मनुष्य का शरीर कुछ समय तक शेष रहता है' (सां. का. ६७)। तथापि उस शरीर से, कैवल्यपद पर आरूढ होनेवाले पुरुष को कुछ भी अड़चन या सुख-दुःख की बाधा नहीं होती। क्योंकि, यह शरीर जड प्रकृति का विकार होने के

कारण स्वयं जड ही है। इसलिये इसे सुखदुःख दोनों समान ही हैं; और यदि यह कहा जाय, कि पुरुष को सुखदुःख की बाधा होती है, तो यह भी ठीक नहीं। क्यों कि उसे मालूम है, कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ, सब कर्तृत्व प्रकृति का है, मेरा नहीं। ऐसी अवस्था में प्रकृति के मनमाने खेल हुआ करते हैं। परन्तु उसे सुख-दुःख नहीं होता; और वह सदा उदासीन ही रहता है। जो पुरुष प्रकृति के तीनों गुणों से छूट कर यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, वह जन्म-मरण से छुट्टी नहीं पा सकता। चाहे वह सत्त्वगुण के उत्कर्ष के कारण देवयोनि में जन्म ले, या रजोगुण के उत्कर्ष के कारण मानवयोनि में जन्म ले, या तमोगुण की प्रबलता के कारण पशु-कोटि में जन्म ले (सां. का. ४४. ५४)। जन्ममरणरूपी चक्र के ये फल प्रत्येक मनुष्य को उसके चारों ओर की प्रकृति अर्थात् उसकी बुद्धि के सत्त्व-रज-तम गुणों के उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण प्राप्त हुआ करते हैं। गीता में भी कहा है, कि ' ऊर्ध्वगच्छन्ति सत्त्वस्थाः ' सात्त्विक वृत्ति के पुरुष स्वर्ग को जाते हैं; और तामस पुरुषों को अधोगति प्राप्त होती है (गी. १४. १८)। परन्तु स्वर्गादि फल अनित्य हैं। जिसे जन्म-मरण से छुट्टी पाना है, या सांख्यों की परिभाषा के अनुसार जिसे प्रकृति से अपनी भिन्नता अर्थात् कैवल्य चिरस्थायी रखना है, उसे त्रिगुणातीत हो कर विरक्त (संन्यस्त) होने के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। कपिलाचार्य को यह वैराग्य और ज्ञान जन्म से ही प्राप्त हुआ था; परन्तु यह स्थिति सब लोगों को जन्म ही से प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये तत्त्व-विवेक-रूप साधन से प्रकृति और पुरुष की भिन्नता को पहचान कर प्रत्येक पुरुष को अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेने का यत्न करना चाहिये। ऐसे प्रयत्नों से जब बुद्धि सात्त्विक हो जाती है, तो फिर उसमें ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुण उत्पन्न होते हैं; और मनुष्य को अन्त में कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु को पाने की मनुष्य इच्छा करता है, उसे प्राप्त कर लेने के योग्य सामर्थ्य को ही यहाँ ऐश्वर्य कहा है। सांख्यमत के अनुसार धर्म की गणना सात्त्विक गुण में ही की जाती है। परन्तु कपिलाचार्य ने अन्त में यह भेद किया है, कि केवल धर्म से स्वर्गप्राप्ति ही होती है; और ज्ञान तथा वैराग्य (संन्यास) से मोक्ष या कैवल्य-पद प्राप्त होता है; तथा पुरुष के दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है।

जब देहेन्द्रियों और बुद्धि में पहले सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है; और जब धीरे धीरे उन्नति होते होते अन्त में पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है, कि मैं त्रि-गुणात्मक प्रकृति से भिन्न हैं, तब उसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' अर्थात् सत्त्व-रज-तम गुणों के परे पहुँचा हुआ कहते हैं। इस त्रिगुणातीत अवस्था में सत्त्व-रज-तम में से कोई भी गुण शेष नहीं रहता। कुछ सूक्ष्म विचार करने से मानना पड़ता है, कि वह त्रिगुणातीत अवस्था सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। इसी अभिप्राय से भागवत में भक्ति के तामस, राजस और सात्त्विक

भेद करने के पश्चात् एक और चौथा भेद किया गया है। तीनों गुणों के पार हो जानेवाला पुरुष निर्हेतुक कहलाता है; और अभेदभाव से जो भक्ति की जाती है, उसे 'निर्गुण भक्ति' कहते हैं (भाग. ३. २९. ७ – १४)। परन्तु सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों वर्गों की अपेक्षा वर्गीकरण के तत्त्वों को व्यर्थ अधिक बढ़ाना उचित नहीं है। इसलिये सांख्यवादी कहते हैं, कि सत्त्वगुण के अत्यन्त उत्कर्ष से ही अन्त में त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त हुआ करती है; और इसलिये वे इस अवस्था की गणना सात्त्विक वर्ग में ही करते हैं। गीता में भी यह मत स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ, वहाँ कहा है, कि 'जिस अभेदात्मक ज्ञान से यह मालूम हो, कि सब कुछ एक ही है, उसी को सात्त्विक ज्ञान कहते हैं' (गी. १८. २०)। इसके सिवा सत्त्वगुण के वर्णन के बाद ही, गीता में १४ वे अध्याय के अन्त में, त्रिगुणातीत अवस्था का वर्णन है। परन्तु भगवद्गीता को यह प्रकृति और पुरुष-वाला द्वैत मान्य नहीं है। इसलिये ध्यान रखना चाहिये, कि गीता में 'प्रकृति', 'पुरुष', 'त्रिगुणातीत' इत्यादि सांख्यवादियों के पारिभाषिक शब्दों का उपयोग कुछ भिन्न अर्थ में किया गया है; अथवा यह कहिये, कि गीता में सांख्य-वादियों के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की 'छाप' सर्वत्र लगी हुई है। उदाहरणार्थ, सांख्यवादियों के प्रकृति-पुरुष भेद का ही गीता के १३ वे अध्याय में वर्णन है (गी. १३. १९–३४)। परन्तु वहाँ 'प्रकृति' और 'पुरुष' शब्दों का उपयोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार १४ वें अध्याय में त्रिगुणातीत अवस्था का वर्णन (गी. १४. २२–२७) भी उस सिद्ध पुरुष के विषय में किया गया है; जो त्रिगुणात्मक माया के फंदे से छूटकर उस परमात्मा को पहचानता है, कि जो प्रकृति और पुरुष के भी परे है। यह वर्णन सांख्यवादियों के उस सिद्धान्त के अनुसार नहीं है; जिसके द्वारा वे यह प्रतिपादन करते हैं, कि 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों पृथक् पृथक् तत्त्व हैं; और पुरुष का 'कैवल्य' ही त्रिगुणातीत अवस्था है। यह भेद आगे अध्यात्म-प्रकरण में अच्छी तरह समझा दिया गया है। परन्तु, गीता में यद्यपि अध्यात्मपक्ष ही प्रतिपादित किया गया है, तथापि आध्यात्मिक तत्त्वों का वर्णन करते समय भगवान् श्रीकृष्ण ने सांख्यपरिभाषा का और युक्तिवाद का हर जगह उपयोग किया है। इसलिये सम्भव है, की गीता पढ़ते समय कोई यह समझ बैठें, कि गीता को सांख्यवादियों के ही सिद्धान्त ग्राह्य हैं। इस भ्रम को हटाने के लिये ही सांख्यशास्त्र और गीता के तत्सदृश सिद्धन्तों का भेद फिर से यहाँ बतलाया गया है। वेदान्तसूत्रों के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा है, कि उपनिषदों के इस अद्वैत सिद्धान्त को न छोड़ कर – कि 'प्रकृति और पुरुष के परे इस जगत् का परब्रह्मरूपी एक की मूलभूत तत्त्व है; और उसी से प्रकृति-पुरुष आदि सब सृष्टि की उत्पत्ति हुई है –' सांख्यशास्त्र के शेष सिद्धान्त हमें अग्राह्य नहीं है (वे. सू. शां. भा. २. १. ३)। यही बात गीता के उप-पादन के विषय में भी चरितार्थ होती है।

आठवाँ प्रकरण

विश्व की रचना और संहार

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च। *

– महाभारत, शांति. ३०५. २३

इस बात का विवेचन हो चुका, कि कापिलसांख्य के अनुसार संसार में जो दो स्वतंत्र मूलतत्त्व – प्रकृति और पुरुष – हैं उनका स्वरूप क्या है, और जब इन दोनों का संयोग ही निमित्त-कारण हो जाता है, तब पुरुष के सामने प्रकृति अपने गुणों का जाला कैसे फैलाया करती है; और उस जाले से हम को अपना छुटकारा किस प्रकार कर लेना चाहिये। परन्तु अब तक इस का स्पष्टीकरण नहीं किया गया, कि प्रकृति अपने जाले को (अथवा खेल, संहार या ज्ञानेश्वर महाराज के शब्दों में 'प्रकृति की टकसाल' को) किस क्रम से पुरुष के सामने फैलाया करती है; और उसका लय किस प्रकार हुआ करता है। प्रकृति के इस व्यापार ही को 'विश्व की रचना और संहार' कहते हैं; और इसी विषय का विवेचन प्रस्तुत प्रकरण में किया जायगा। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति ने इस जगत् या सृष्टि को असंख्य पुरुषों के लाभ के लिये ही निर्माण किया है। 'दासबोध' में श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने भी प्रकृति से सारे ब्रह्माण्ड के निर्माण होने का बहुत अच्छा वर्णन किया है। उसी वर्णन से 'विश्व की रचना और संहार' शब्द इस प्रकरण में लिये गये हैं। इसी प्रकार, भगवद्गीता के सातवे और आठवे अध्यायों में मुख्यतः इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। और, ग्यारहवे अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो यह प्रार्थना की है, कि "भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तारशो मया" (गी. ११. २) – भूतों की उत्पत्ति और प्रलय (जो आपने) विस्तारपूर्वक (बतलाया, उसको) मैंने सुना। अब मुझे अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखला कर कृतार्थ कीजिये – उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि विश्व की रचना और संहार क्षर-अक्षर-विचार ही का एक मुख्य भाग है। 'ज्ञान' वह है, जिससे यह बात मालूम हो जाती है, कि सृष्टि के अनेक (नाना) व्यक्त पदार्थों में एक ही अव्यक्त मूलद्रव्य है (गीता १८. २०); और 'विज्ञान' उसे कहते हैं, जिससे यह मालूम हो, कि एक ही मूलभूत अव्यक्त द्रव्य से भिन्न भिन्न अनेक पदार्थ किस प्रकार अलग अलग निर्मित हुए (गी. १३. ३०); और इस में न केवल क्षर-अक्षर-विचार ही का समावेश होता है, किन्तु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान और अध्यात्म-विषयों का भी समावेश हो जाता है।

* "गुणों से ही गुणों की उत्पत्ति होती है और उन्हीं में उनका लय हो जाता है।"

भगवद्गीता के मतानुसार प्रकृति अपना खेल करने या सृष्टि का कार्य चलाने के लिये स्वतंत्र नहीं है; किन्तु उसे यह काम ईश्वर की इच्छा के अनुसार करना पड़ता है (गी. ९. १०)। परन्तु, पहले बतलाया जा चुका है, कि कपिलाचार्य ने प्रकृति को स्वतंत्र माना है। सांख्यशास्त्र के अनुसार, प्रकृति का संसार आरम्भ होने लिये ' पुरुष का संयोग ' ही निमित्त-कारण बस हो जाता है। इस विषय में प्रकृति और किसी की अपेक्षा नहीं करती। सांख्यों का यह कथन है, कि ज्योंही पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है, त्योंही उसकी टकसाल जारी हो जाती है। जिस प्रकार वसन्तऋतु में नये पत्ते दीख पड़ते हैं; और क्रमशः फूल और फल आने लगते हैं (म. भा. शां. २३१, ७३; मनु. १. ३०), उसी प्रकार प्रकृति की मूल साम्यावस्था नष्ट हो जाती है; और उसके गुणों का विस्तार होने लगता है। इसके विरुद्ध वेदसंहिता, उपनिषद् और स्मृति-ग्रन्थों में प्रकृति को मूल न मान कर परब्रह्म को मूल माना है; और परब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति होने के विषय में भिन्न भिन्न वर्णन किये गये हैं; – " हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् " – पहले हिरण्यगर्भ (ऋ. १०. १२१. १) और इस हिरण्यगर्भ से अथवा सत्य से सब सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ. १०. ७२; १०. १९०); अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ (ऋ. १०. ८२. ६; तै. ब्रा. १. १. ३. ७; ऐ. उ. १. १. २), और फिर उससे सृष्टि हुई। इस पानी में एक अण्डा उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ; तथा ब्रह्मा से अथवा उस मूल अण्डे से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ (मनु. १. ८–१३; छां. ३. ९); अथवा वही ब्रह्मा (पुरुष) आधे हिस्से से स्त्री हो गया (बृ. १. ४. ३; मनु. १. ३२); अथवा पानी उत्पन्न होने के पहले ही पुरुष था (कठ. ४. ६); अथवा पहले परब्रह्म से तेज, पानी और पृथ्वी (अन्न) यही तीन तत्त्व उत्पन्न हुए, और पश्चात् उनके मिश्रण से सब पदार्थ बने (छां. ६. २–६)। यद्यपि उक्त वर्णनों में बहुत भिन्नता है; तथापि वेदान्तसूत्रों (२. ३. १–१५) में अन्तिम निर्णय यह किया गया है, कि आत्मरूपी मूलब्रह्म से ही आकाश आदि पंचमहाभूत क्रमशः उत्पन्न हुए हैं (तै. उ. २. १)। प्रकृति, महत् आदि तत्त्वों का भी उल्लेख कठ. (३. ११), मैत्रायणी (६. १०), श्वेताश्वतर (४. १०; ६. १६), आदि उपनिषदों में स्पष्ट रीति से किया गया है। इससे दीख पड़ेगा, कि यद्यपि वेदान्तमतवाले प्रकृति को स्वतन्त्र न मानते हों, तथापि जब एक बार शुद्ध ब्रह्म ही में मायात्मक प्रकृति-रूप विकार दृग्गोचर होने लगता है तब, आगे सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के सम्बन्ध में उनका और सांख्यमतवालों का अन्त में मेल हो गया; और इसी कारण महाभारत में कहा है, कि " इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र आदि में जो कुछ ज्ञान भरा है, वह सब सांख्यों से प्राप्त हुआ है " (शां. ३०१. १०८, १०९)। उसका यह मतलब नहीं है, कि वेदान्तियों ने अथवा पौराणिकों ने यह

ज्ञान कपिल से प्राप्त किया है; किन्तु यहाँ पर केवल इतना ही अर्थ अभिप्रेत है, कि सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का ज्ञान सर्वत्र एक-सा दीख पड़ता है। इतना ही नहीं; किन्तु यह भी कहा जा सकता है, कि यहाँ पर सांख्य शब्द का प्रयोग 'ज्ञान' के व्यापक अर्थ ही में किया गया है। कपिलाचार्य ने सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का वर्णन शास्त्रीय दृष्टि से विशेष पद्धतिपूर्वक किया है; और भगवद्गीता में भी विशेष करके इसी सांख्यक्रम का स्वीकार किया गया है। इस कारण उसी का विवेचन इस प्रकरण में किया जायगा।

सांख्यों का सिद्धान्त है, कि इन्द्रियों को अगोचर अर्थात् अव्यक्त, सूक्ष्म और चारों ओर अखंडित भरे हुए एक ही निरवयव मूलद्रव्य से सारी व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह सिद्धान्त पश्चिमी देशों के अर्वाचीन आधिभौतिक शास्त्रज्ञों को ग्राह्य है। ग्राह्य ही क्यों, अब तो उन्हों ने यह भी निश्चित किया है, कि इसी मूल द्रव्य की शक्ति का क्रमशः विकास होता आया है; और इस पूर्वापार क्रम को छोड़ अचानक या निरर्थक कुछ भी निर्माण नहीं हुआ है। इसी मत को उत्क्रान्तिवाद या विकास-सिद्धान्त कहते हैं। जब यह सिद्धान्त पश्चिमी राष्ट्रों में, गत शताब्दी में, पहले पहल ढूँढ़ निकाला गया, तब वहाँ बड़ी खलबली मच गई थी। ईसाई धर्म-पुस्तकों में वर्णन है, कि ईश्वर ने पंचमहाभूतों को और जंगमवर्ग के प्रत्येक प्राणी की जाति को भिन्न भिन्न समय पर पृथक् पृथक् और स्वतंत्र निर्माण किया है; और इसी मत को उत्क्रान्तिवाद के पहले सब ईसाई लोग सत्य मानते थे। अतएव, जब ईसाई धर्म का उक्त सिद्धान्त उत्क्रान्तिवाद से असत्य ठहराया जाने लगा, तब उत्क्रान्तिवादियों पर खूब जोर से आक्रमण और कटाक्ष होने लगे। ये कटाक्ष आजकल भी न्यूनाधिक होते ही रहते हैं। तथापि, शास्त्रीय सत्य में अधिक शक्ति होने के कारण सृष्ट्युत्पत्ति के संबंध में सब विद्वानों को उत्क्रान्तिमत ही आजकल अधिक ग्राह्य होने लगा है। इस मत का सारांश यह है— सूर्यमाला में पहले कुछ एक ही सूक्ष्मद्रव्य था। उसकी गति अथवा उष्णता का परिणाम घटता गया। तब द्रव्य का अधिकाधिक संकोच होने लगा; और पृथ्वी-समवेत सब ग्रह क्रमशः उत्पन्न हुए। अन्त में जो शेष अंश बचा, वही सूर्य है। पृथ्वी का भी सूर्य के सदृश पहले एक उष्ण गोला था। परंतु ज्यों ज्यों उसका उष्णता कम होती गई, त्यों त्यों मूलद्रव्यों में से कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने हो गये। इस प्रकार पृथ्वी के ऊपर की हवा और पानी तथा उसके नीचे का पृथ्वी का जड गोला – ये तीन पदार्थ बने; और इसके बाद, इन तीनों के मिश्रण अथवा संयोग से सब सजीव तथा निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई है। डार्विन प्रभृति पंडितों ने तो यह प्रतिपादन किया है, कि इसी तरह मनुष्य भी छोटे कीड़े से बढ़ते बढ़ते अपनी वर्तमान अवस्था में आ पहुँचा है। परन्तु अब तक आधिभौतिकवादियों में और अध्यात्मवादियों में इस बात पर बहुत

मतभेद है, कि इस सारी सृष्टि के मूल में आत्मा जैसे किसी भिन्न और स्वतंत्र तत्त्व को मानना चाहिये या नहीं। हेकेल के सदृश कुछ पंडित यह मान कर, कि जड पदार्थों से ही बढ़ते बढ़ते आत्मा और चैतन्य की उत्पत्ति हुई, जडाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं; और इसके विरुद्ध कान्ट सरीखे अध्यात्मज्ञानियों का यह कथन है, कि हमें सृष्टि का जो ज्ञान होता है, वह हमारी आत्मा के एकीकरण-व्यापार का फल है; इसलिये आत्मा को एक स्वतंत्र तत्त्व मानना ही पड़ता है। क्योंकि यह कहना – कि जो आत्मा बाह्य-सृष्टि का ज्ञाता है वह उसी सृष्टि का एक भाग है अथवा उस सृष्टि ही से वह उत्पन्न हुआ है – तर्कदृष्टि से ठीक वैसा ही असमंजस या भ्रामक प्रतीत होगा, जैसे यह उक्ति कि हम स्वयं अपने ही कंधे पर बैठ सकते हैं। यही कारण है, कि सांख्यशास्त्र में प्रकृति और पुरुष ये दो स्वतंत्र तत्त्व माने गये हैं। सारांश यह है, कि आधिभौतिक सृष्टिज्ञान चाहे जितना बढ़ गया हो; तथापि अब तक पश्चिमी देशों में बहुतेरे बड़े बड़े पंडित यही प्रतिपादन किया करते हैं, कि सृष्टि के मूलतत्त्व के स्वरूप का विवेचन भिन्न पद्धति ही से किया जाना चाहिये। परन्तु, यदि केवल इतना ही विचार किया जाय, कि एक जड प्रकृति से आगे सब व्यक्त पदार्थ किस क्रम से बने हैं, तो पाठकों को मालूम हो जायगा, कि पश्चिमी उत्क्रान्ति-मत में और सांख्यशास्त्र में वर्णित प्रकृति के कार्य-संबंधी तत्त्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि इस मुख्य सिद्धान्त से दोनों सहमत हैं, कि अव्यक्त, सूक्ष्म और एक ही मूलप्रकृति से क्रमशः (सूक्ष्म और स्थूल) विविध तथा व्यक्त सृष्टि निर्मित हुई है। परन्तु अब आधिभौतिक शास्त्रों के ज्ञान की खूब वृद्धि हो जाने के कारण, सांख्यवादियों के 'सत्त्व, रज, तम,' इन तीनों गुणों के बदले, आधुनिक सृष्टिशास्त्रों ने गति, उष्णता और आकर्षण-शक्ति को प्रधान गुण मान रखा है। यह बात सच है, कि 'सत्त्व, रज, तम' गुणों की न्यूनाधिकता के परिमाणों की अपेक्षा, उष्णता अथवा आकर्षणशक्ति की न्यूनाधिकता की बात आधिभौतिकशास्त्र की दृष्टि से सरलतापूर्वक समझ में आ जाती है। तथापि गुणों के विकास अथवा गुणोत्कर्ष का जो यह तत्त्व है, कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी. ३. २८), यह दोनों ओर समान ही है। सांख्य-शास्त्रज्ञों का कथन है, कि जिस तरह मोड़दार पंखे को धीरे धीरे खोलते हैं, उसी तरह सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था में रहनेवाली प्रकृति की तह जब धीरे धीरे खुलने लगती है, तब सब व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है – इस कथन में और उत्क्रान्तिवाद में वस्तुतः कुछ भेद नहीं है। तथापि, यह भेद तात्त्विक धर्मदृष्टि से ध्यान में रखने योग्य है, कि ईसाई धर्म के समान गुणोत्कर्षतत्त्व का अनादर न करते हुए, गीता में और अंशतः उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में भी, अद्वैत वेदान्त के साथ ही साथ, बिना किसी विरोध के गुणोत्कर्षवाद स्वीकार किया गया है।

अब देखना चाहिये, कि प्रकृति के विकास के विषय में सांख्यशास्त्रकारों का क्या कथन है। इस क्रम ही को गुणोत्कर्ष अथवा गुणपरिणामवाद कहते हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि कोई काम आरंभ करने के पहले मनुष्य उसे अपनी बुद्धि से निश्चित कर लेता है, अथवा पहले काम करने की बुद्धि या इच्छा उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उपनिषदों में भी इस प्रकार का वर्णन है, कि आरम्भ में मूल परमात्मा को यह बुद्धि या इच्छा हुई, कि हमें अनेक होना चाहिये – 'बहु स्यां प्रजायेय' – और इसके बाद सृष्टि उत्पन्न हुई (छां. ६. २. ३; तै. २. ६)। इसी न्याय के अनुसार अव्यक्त प्रकृति भी अपनी साम्यावस्था को भंग करके व्यक्त सृष्टि के निर्माण करने का निश्चय पहले कर लिया करती है। अतएव, सांख्यों ने यह निश्चित किया है, कि प्रकृति में 'व्यवसायात्मिक बुद्धि' का गुण पहले उत्पन्न हुआ करता है। सारांश यह है, कि जिस प्रकार मनुष्य को पहले कुछ काम करने की इच्छा या बुद्धि हुआ करती है, उसी प्रकार प्रकृति को भी अपना विस्तार करने या पसारा पसारने की बुद्धि पहले हुआ करती है। परन्तु इन दोनों में बड़ा भारी अंतर यह है, कि मनुष्य-प्राणी सचेतन होने के कारण – अर्थात् उसमें प्रकृति की बुद्धि के साथ अचेतन पुरुष का (आत्मा का) संयोग होने के कारण – वह स्वयं अपनी व्यवसायात्मिक बुद्धि को जान सकता है; और प्रकृति स्वयं अचेतन अर्थात् जड है; इसलिये उसको अपनी बुद्धि का कुछ ज्ञान नहीं रहता। यह अंतर पुरुष के संयोग से प्रकृति में उत्पन्न होनेवाले चैतन्य के कारण हुआ करता है; यह केवल जड या अचेतन प्रकृति का गुण नहीं है। अर्वाचीन आधिभौतिक सृष्टिशास्त्रज्ञ भी अब कहने लगे हैं, कि यदि यह न माना जाय, कि मानवी इच्छा की बराबरी करनेवाली किन्तु अस्वयंवेद्य शक्ति जड पदार्थों में भी रहती है, तो गुरुत्वाकर्षण अथवा रसायन-क्रिया का और लोहचुंबक का आकर्षण तथा अपसारण प्रभृति केवल जड सृष्टि में ही दृग्गोचर होनेवाले गुणों का मूल कारण ठीक ठीक बतलाया नहीं जा सकता।* आधुनिक सृष्टिशास्त्रज्ञों के उक्त मत

---

* "Without the assumption of an atomic soul the commonest and the most general phenomena of Chemistry are inexplicable. Pleasure and pain, desire and aversion, attraction and repulsion must be common to all atoms of an aggregate : for the movements of atoms which must take place in the formation and dissolution of a chemical compound can be explained only by attributing to them *Sensation and Will*." – Haeckel in the *Perigenesis of the Plastidule*–cited in Martineau's *Types of Ethical Theory*, Vol. II, p. 399, 3rd Ed. Haeckel himself explains this statement as follows :— "I explicitly stated that I conceived the elementary psychic qualities of *sensation* and *will* which may be attributed to atoms, to be *un-*

पर ध्यान देने से सांख्यों का यह सिद्धान्त आश्चर्यकारक नहीं प्रतीत होता, कि प्रकृति में पहले बुद्धि-गुण का प्रादुर्भाव होता है। प्रकृति में प्रथम उत्पन्न होनेवाले इस गुण को यदि आप चाहें, अचेतन अथवा अस्वयंवेद्य अर्थात् अपने आप को ज्ञात न होनेवाली बुद्धि कह सकते हैं। परन्तु, उसे चाहे जो कहें; इसमें संदेह नहीं, कि मनुष्य को होनेवाली बुद्धि और प्रकृति को होनेवाली बुद्धि दोनों मूल में एक ही श्रेणी की हैं; और इसी कारण दोनों स्थानों पर उनकी व्याख्याएँ भी एक-ही-सी की गई हैं। उस बुद्धि के ही 'महत्, ज्ञान, मति, आसुरी, प्रजा, ख्याति' आदि अन्य नाम भी हैं। मालूम होता है, कि इनमें से 'महत्' (पुल्लिंग कर्ता का एकवचन महान् – बड़ा) नाम इस गुण की श्रेष्ठता के कारण दिया गया होगा; अथवा इसलिये दिया गया होगा, कि अब प्रकृति बढ़ने लगती है। प्रकृति में पहले उत्पन्न होनेवाला महान् अथवा बुद्धि-गुण 'सत्त्व-रज-तम' के मिश्रण ही का परिणाम है। इसलिये प्रकृति की यह बुद्धि यद्यपि देखने में एक ही प्रतीत होती हो, तथापि यह आगे कई प्रकार की हो सकती है। क्योंकि ये गुण – सत्त्व, रज, और तम – प्रथम दृष्टि से यद्यपि तीन हैं, तथापि विचार-दृष्टि से प्रकट हो जाता है, कि इनके मिश्रण में प्रत्येक गुण का परिणाम अनंत रीति से भिन्न भिन्न हुआ करता है; और, इसी लिये इन तीनों में से एक प्रत्येक गुण के अनन्त भिन्न परिणाम से उत्पन्न होनेवाली बुद्धि के प्रकार भी त्रिघात अनन्त हो सकते हैं। अव्यक्त प्रकृति से निर्मित होनेवाली यह बुद्धि भी प्रकृति के ही सदृश होती है। परन्तु पिछले प्रकरण में 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' तथा 'सूक्ष्म' का जो अर्थ बतलाया गया है, उसके अनुसार यह बुद्धि प्रकृति के समान सूक्ष्म होने पर भी उसके समान अव्यक्त नहीं है – मनुष्य को इसका ज्ञान हो सकता है। अतएव, अब यह सिद्ध हो चुका, कि इस बुद्धि का समावेश व्यक्त में (अर्थात् मनुष्य को गोचर होनेवाले पदार्थों में) होता है; और सांख्यशास्त्र में, न केवल बुद्धि किन्तु बुद्धि के आगे प्रकृति के सब विकार भी व्यक्त ही माने जाते हैं। एक मूल प्रकृति के सिवा कोई भी अन्य तत्त्व अव्यक्त नहीं है।

इस प्रकार, यद्यपि अव्यक्त प्रकृति में व्यक्त व्यवसायात्मिक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तथापि प्रकृति अब तक एक ही बनी रहती है। इस एकता का भंग होना और बहुसा-पन या विविधत्व का उत्पन्न होना ही पृथक्त्व कहलाता है। उदाहरणार्थ, पारे का ज़मीन पर गिरना और उसकी अलग अलग छोटी छोटी

---

conscious – just as unconscious as the elementary memory, which I, in common with the distinguished psychologist Ewald Herind, consider to be a common function of all organised matter, or more correctly the living substances." – *The Riddle of the Universe*, Chap. IX. p. 63 (R. P. A. Cheap Ed.).

गोलियाँ बन जाना। बुद्धि के बाद जब तक यह पृथक्ता या विविधता उत्पन्न न हो, तब तक एक प्रकृति के अनेक पदार्थ हो जाना संभव नहीं। बुद्धि से आगे उत्पन्न होनेवाली पृथक्ता के गुण को ही 'अहंकार' कहते हैं। क्योंकि पृथक्ता 'मैं-तू' शब्दों से ही प्रथम व्यक्त की जाती है; और 'मैं-तू' का अर्थ ही अहं-कार, अथवा अहं-अहं (मैं-मैं) करना है। प्रकृति में उत्पन्न होनेवाले अहंकार के इस गुण को यदि आप चाहें, तो अस्वयंवेद्य अर्थात् अपने आप को ज्ञात न होनेवाला अहंकार कह सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे, कि मनुष्य में प्रकट होनेवाला अहंकार, और वह अहंकार कि जिसके कारण पेड़, पत्थर, पानी अथवा भिन्न भिन्न मूल परमाणु एक ही प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, – ये दोनों एक ही जाति के हैं। भेद केवल इतना ही है, कि पत्थर में चैतन्य न होने के कारण उसे 'अहं' का ज्ञान नहीं होता; और मुँह न होने के कारण ' मैं–तू ' कह कर स्वाभिमानपूर्वक वह अपनी पृथक्ता किसी पर प्रकट नहीं कर सकता। सारांश यह है, कि दूसरों से पृथक् रहने का – अर्थात् अभिमान या अहंकार का – तत्त्व सब जगह समान ही है। इस अहंकार ही को तैजस, अभिमान, भूतादि और धातु भी कहते हैं। अहंकार बुद्धि ही का एक भाग है। इसलिये पहले जब तक बुद्धि न होगी, तब तक अहंकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अतएव सांख्यों ने यह निश्चित किया है, कि 'अहं-कार' यह दूसरा – अर्थात् बुद्धि के बाद का – गुण है। अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि सात्त्विक, राजस और तामस भेदों से बुद्धि के समान के अहंकार भी अनन्त प्रकार हो जाते हैं। इसी तरह उनके बाद के गुणों के भी प्रत्येक के त्रिघात अनन्त भेद हैं। अथवा यह कहिये, कि व्यक्त सृष्टि में प्रत्येक वस्तु के इसी प्रकार अनन्त सात्त्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं; और इसी सिद्धान्त को लक्ष्य करके गीता में गुणत्रय-विभाग और श्रद्धात्रय-विभाग बतलाये गये हैं (गी. अ. १४ और १७)।

व्यवसायात्मिक बुद्धि और अहंकार, दोनों व्यक्त गुण जब मूल साम्यावस्था की प्रकृति में उत्पन्न हो जाते हैं, तब प्रकृति की एकता भंग हो जाती है; और उससे अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। तथापि उसकी सूक्ष्मता अब तक कायम रहती है। अर्थात्, यह कहना अयुक्त न होगा, कि अब नैयायिकों के सूक्ष्म परमाणुओं का आरम्भ होता है। क्योंकि अहंकार उत्पन्न होने के पहले प्रकृति अखंडित और निरवयव थी। वस्तुतः देखने से तो प्रतीत होता है, कि निरी बुद्धि और निरा अहंकार केवल गुण हैं। अतएव, उपर्युक्त सिद्धान्तों से यह मतलब नहीं लेना चाहिये, कि वे (बुद्धि और अहंकार) प्रकृति के द्रव्य से पृथक् रहते हैं। वास्तव में बात यह है, कि जब मूल और अवयवरहित एक ही प्रकृति में इन गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसी को विविध और अवयवसहित द्रव्यात्मक व्यक्त रूप प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जब अहंकार से मूलप्रकृति में भिन्न

भिन्न पदार्थ बनने की शक्ति आ जाती है, तब आगे उसकी वृद्धि की दो शाखाएँ हो जाती हैं। एक, – पेड़, मनुष्य आदि सेन्द्रिय प्राणियों की सृष्टि; और दूसरी, – निरिन्द्रिय पदार्थों की सृष्टि। यहाँ इन्द्रिय शब्द से केवल ' इन्द्रियवान् प्राणियों की इन्द्रियों की शक्ति ' इतना ही अर्थ लेना चाहिये। इसका कारण यह है, कि सेन्द्रिय प्राणियों के जड देह का समावेश जड यानी निरिन्द्रिय सृष्टि में होता है; और इन प्राणियों का आत्मा 'पुरुष' नामक अन्य वर्ग में शामिल किया जाता है। इसी लिये सांख्यशास्त्र में सेन्द्रिय सृष्टि का विचार करते समय, देह और आत्मा को छोड़ केवल इन्द्रियों का ही विचार किया गया है। इस जगत् में सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय पदार्थों के अतिरिक्त किसी तीसरे पदार्थ का होना सम्भव नहीं। इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं, कि अहंकार से दो से अधिक शाखाएँ निकल ही नहीं सकती। इनमें निरिन्द्रिय पदार्थों की अपेक्षा इन्द्रियशक्ति श्रेष्ठ है। इस लिये इन्द्रिय-सृष्टि को सात्त्विक (अर्थात् सत्त्वगुण के उत्कर्ष से होनेवाली) कहते हैं; और निरिन्द्रिय-सृष्टि को तामस (अर्थात् तमोगुण के उत्कर्ष से होनेवाली) कहते हैं। सारांश यह है, कि जब अहंकार अपनी शक्ति के भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने लगता है, तब उसीमें एक बार तमोगुण का उत्कर्ष हो कर एक ओर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ और मन मिल कर इन्द्रिय-सृष्टि की मूल-भूत ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं; और दूसरी ओर, तमोगुण का उत्कर्ष हो कर उससे निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलभूत पाँच तन्मात्रद्रव्य उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रकृति की सूक्ष्मता अब तक कायम रही है; इसलिये अहंकार से उत्पन्न होनेवाले ये सोलह तत्त्व भी सूक्ष्म ही रहते हैं। *

शब्द, स्पर्श, रूप और रस की तन्मात्राएँ – अर्थात् बिना मिश्रण हुएं प्रत्येक गुण के भिन्न भिन्न अति सूक्ष्म मूलस्वरूप – निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलतत्त्व है; और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ सेन्द्रिय-सृष्टि की बीज है। इस विषय की सांख्यशास्त्र की उपपत्ति विचार करने योग्य है, कि निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलतत्त्व (तन्मात्र) पाँच ही क्यों और सेन्द्रिय-सृष्टि के मूलतत्त्व ग्यारह ही क्यों माने जाते हैं। अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रज्ञों ने सृष्टि के पदार्थों के तीन भेद – घन, द्रव

* संक्षेप में यही अर्थ अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है :–

The Primeval matter (*Prakriti*) was at first *homogeneous*. It *resolved* (*Buddhi*) to unfold itself, and by the *principle of differentiation* (*Ahamkara*) became *heterogeneous*. It then branched off into *two* sections – one organic (*Sendriya*) and the other *inorganic* (*Nirindriya*). There are *eleven* elements of the organic and *five* of the inorganic creation. *Purusha* or the observer is different from all these and falls under none of the above categories.

और वायुरूपी – किये हैं; परन्तु सांख्यशास्त्रकारों का वर्गीकरण इससे भिन्न है। उनका कथन है कि मनुष्य को सृष्टि के सब पदार्थों का ज्ञान केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियों से हुआ करता है; और इन ज्ञानेन्द्रियों की रचना कुछ ऐसी विलक्षण है, कि एक इन्द्रिय को सिर्फ़ एक ही गुण का ज्ञान हुआ करता है। आँखों से सुगन्ध नहीं मालूम होती और न कान से दीखता ही है; त्वचा से मीठा-कडुवा नहीं समझ पड़ता और न जिह्वा से शब्दज्ञान ही होता है; नाक से सफ़ेद और काले रंग का भेद भी नहीं मालूम होता। जब इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके पाँच विषय – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध – निश्चित हैं, तब यह प्रकट है, कि सृष्टि के सब गुण भी पाँच से अधिक नहीं माने जा सकते। क्योंकि यदि हम कल्पना से यह मान भी लें, कि पाँच से अधिक हैं; तो कहना नहीं होगा, कि उनको जानने के लिये हमारे पास कोई साधन या उपाय नहीं है। इन पांच गुणों में से प्रत्येक के अनेक भेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि 'शब्द'-गुण एक ही है, तथापि उसके छोटा, मोटा, कर्कश, भद्दा, फटा हुआ, कोमल, अथवा गायनशास्त्र के अनुसार निषाद, गांधार, षड्ज आदि; और व्याकरणशास्त्र के अनुसार कंठ्य, तालव्य, ओष्ठ्य आदि अनेक प्रकार हुआ करते हैं। इसी तरह यद्यपि 'रूप' एक ही गुण है, तथापि उसके भी अनेक भेद हुआ करते हैं; जैसे सफ़ेद, काला, नीला, पीला, हरा, आदि। इसी तरह यद्यपि 'रस' या 'रुचि' एक ही गुण है, तथापि उसके खट्टा, मीठा, तीखा, कडुवा, खारा, आदि अनेक भेद हो जाते हैं। और, 'मिठास' यद्यपि एक विशिष्ट रुचि है, तथापि हम देखते हैं, कि गन्ने का मिठास, दूध का मिठास, गुड़ का मिठास और शक्कर का मिठास भिन्न भिन्न होता है; तथा इस प्रकार उस एक ही 'मिठास' के अनेक भेद हो जाते हैं। यदि भिन्न भिन्न गुणों के भिन्न भिन्न मिश्रणों पर विचार किया जाय, तो यह गुणवैचित्र्य अनन्त प्रकार से अनन्त हो सकता है। परन्तु चाहे जो हो; पदार्थों के मूलगुण पाँच से कभी अधिक हो नहीं सकते। क्योंकि इन्द्रियाँ केवल पाँच हैं, और प्रत्येक को एक ही एक गुण का बोध हुआ करता है। इसलिये सांख्यों ने यह निश्चित किया है, कि यद्यपि केवल शब्दगुण के अथवा केवल स्पर्शगुण के पृथक् पृथक् यानी दूसरे गुणों के मिश्रणरहित पदार्थ हमें दीख न पड़ते हों, तथापि इसमें संदेह नहीं, की मूलप्रकृति में निरा शब्द, निरा स्पर्श, निरा रूप, निरा रस और निरा गंध है। अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गंधतन्मात्र ही हैं। अर्थात् मूलप्रकृति के ये ही पाँच भिन्न भिन्न सूक्ष्म तन्मात्रविकार अथवा द्रव्य निःसंदेह हैं। आगे इस बात का विचार किया गया है, कि पंचतन्मात्राओं अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाले पंचमहाभूतों के सम्बन्ध में उपनिषत्कारों का कथन क्या है।

इस प्रकार निरिंद्रिय-सृष्टि का विचार करके यह निश्चित किया गया, है

कि उसमें पाँच ही मूलतत्त्व हैं। और जब हम सेन्द्रिय-सृष्टि पर दृष्टि डालते हैं, तब भी यही प्रतीत होता है, कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, इन ग्यारह इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक इन्द्रियाँ किसी के भी नहीं हैं। स्थूल देह में हाथ-पैर आदि इन्द्रियाँ यद्यपि स्थूल प्रतीत होती हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक की जड़ में किसी मूल-सूक्ष्म-तत्त्व का अस्तित्व माने बिना इन्द्रियों की भिन्नता का यथोचित कारण मालूम नहीं होता। पश्चिमी आधिभौतिक उत्क्रान्तिवादियों ने इस बात की खूब चर्चा की है। वे कहते हैं, कि मूल के अत्यंत छोटे और गोलाकार जन्तुओं में सिर्फ़ 'त्वचा' ही एक इन्द्रिय होती है; और इस त्वचा से ही अन्य इन्द्रियाँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, मूलजंतु की त्वचा से प्रकाश का संयोग होने पर आँख उत्पन्न हुई, इत्यादि। आधिभौतिकवादियों का यह तत्त्व – कि प्रकाश आदि के संयोग से स्थूल-इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है – सांख्यों को भी ग्राह्य है। महाभारत (शां. २१३. १६) में, सांख्यप्रक्रिया के अनुसार इन्द्रियों के प्रादुर्भाव का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है:–

शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः।
रूपरागात् तथा चक्षुः घ्राणं गन्धजिघृक्षया॥

अर्थात् "प्राणियों के आत्मा को जब सुनने की भावना हुई, तब कान उत्पन्न हुआ; रूप पहचानने की इच्छा से आँख; सूँघने की इच्छा से नाक उत्पन्न हुई।" परन्तु सांख्यों का यह कथन है, कि यद्यपि त्वचा का प्रादुर्भाव पहले होता हो, तथापि मूलप्रकृति में ही यदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों के उत्पन्न होने की शक्ति न हो, तो सजीव-सृष्टि के अत्यन्त छोटे कीड़ों की त्वचा पर सूर्यप्रकाश का चाहे जितना आघात या संयोग होता रहे, तो भी उन्हें आँखें – और वे भी शरीर के एक विशिष्ट भाग ही में – कैसे प्राप्त हो सकती हैं? डार्विन का सिद्धान्त सिर्फ़ यह आशय प्रकट करता है, कि दो प्राणियों – एक चक्षुवाला और दूसरा चक्षुरहित – के निर्मित होने पर, इस जड सृष्टि के कलह में चक्षुवाला अधिक समय तक टिक सकता है; और दूसरा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक सृष्टिशास्त्रज्ञ इस बात का मूलकारण नहीं बतला सकते, कि नेत्र आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले हुई ही क्यों। सांख्यों का मत यह है, कि ये सब इन्द्रियाँ किसी एक ही मूल इन्द्रिय से क्रमशः उत्पन्न नहीं होतीं; किन्तु जब अहंकार के कारण प्रकृति में विविधता आरम्भ होने लगती है, तब पहले उस अहंकार से (पाँच सूक्ष्म कर्मेंद्रियाँ, पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ और मन, इन सब को मिला कर) ग्यारह भिन्न भिन्न गुण (शक्ति) सब के सब एक साथ (युगपत्) स्वतंत्र हो कर मूलप्रकृति में ही उत्पन्न होते हैं; और फिर इसके आगे स्थूल-सेन्द्रिय सृष्टि उत्पन्न हुआ करती है। इन ग्यारह इन्द्रियों में से मन के बारे में पहले ही छठवे प्रकरण में बतला दिया गया है, कि वह ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प-विकल्पात्मक होता है;

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किये गये संस्कारों की व्यवस्था करके वह उन्हें बुद्धि के सामने निर्णयार्थक उपस्थित करता है; और कर्मेन्द्रियों के साथ वह व्याकरणात्मक होता है। अर्थात् उसे बुद्धि के निर्णय को कर्मेंद्रियों के द्वारा अमल में लाना पड़ता है। इस प्रकार वह उभयविध, अर्थात् इन्द्रियभेद के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के काम करनेवाला होता है। उपनिषदों में इन्द्रियों को ही 'प्राण' कहा है; और सांख्यों के मतानुसार उपनिषत्कारों का भी यही मत है, कि ये प्राण पंचमहाभूतात्मक नहीं हैं; किन्तु परमात्मा से पृथक् उत्पन्न हुए हैं (मुंड. २. १. ३) इन प्राणों की – अर्थात् इन्द्रियों की – संख्या उपनिषदों में कहीं सात, कहीं दस, ग्यारह, बारह और कहीं कहीं तेरह बतलाई गई है। परन्तु वेदान्तसूत्रों के आधार से श्रीशंकराचार्य ने निश्चित किया है, कि उपनिषदों के सब वाक्यों की एकरूपता करने पर इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही सिद्ध होती है (वे. सू. शां. भा. २. ४. ५. ६)। और, गीता में तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, 'इन्द्रियाणि दशैकं च' (गी. १३. ५) – अर्थात् इन्द्रियाँ 'दस और एक' अर्थात् ग्यारह हैं। अब इस विषय पर सांख्य और वेदान्त दोनों में कोई मतभेद नहीं रहा।

सांख्यों के निश्चित किये हुए मत का सारांश यह है – सात्त्विक अहंकार से सेन्द्रिय-सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रियशक्तियाँ (गुण) उत्पन्न होती हैं; और तामस अहंकार से निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूलभूत पाँच तन्मात्र द्रव्य निर्मित होते हैं। इसके बाद पञ्चतन्मात्रद्रव्यों से क्रमशः स्थूल पंचमहाभूत (जिन्हें 'विशेष' भी कहते हैं) और स्थूल निरिन्द्रिय पदार्थ बनने लगते हैं; तथा, यथासम्भव इन पदार्थों का संयोग ग्यारह इन्द्रियों के साथ हो जाने पर सेन्द्रिय-सृष्टि बन जाती है।

सांख्यमतानुसार प्रकृति से प्रादुर्भूत होनेवाले तत्त्वों का क्रम, जिसका वर्णन अब तक किया गया है, निम्न लिखित वंशवृक्ष से अधिक स्पष्ट हो जायगा :–

ब्रह्मांड का वंशवृक्ष

पुरुष →(दोनों स्वयंभू और अनादि)← **प्रकृति** (अव्यक्त और **सूक्ष्म**)
(निर्गुण; पर्यायशब्द :– ज्ञ, द्रष्टा इ.)। (सत्त्व-रज-तमोगुणी; पर्यायशब्द :– प्रधान, अव्यक्त, माया, प्रसव-धर्मिणी आदि)

|

महान् अथवा **बुद्धि** (अव्यक्त और **सूक्ष्म**)
(पर्यायशब्द :– आसुरी, मति, ज्ञान, ख्याति इ.)

|

अहंकार (व्यक्त और **सूक्ष्म**)
(पर्यायशब्द :– अभिमान, तैजस आदि)

|

(सात्त्विक सृष्टि अर्थात् व्यक्त और सूक्ष्म इंद्रियाँ) (तामस अर्थात् निरिंद्रिय-सृष्टि)

|

पाँच बुद्धिन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पञ्चतन्मात्राएँ (सूक्ष्म)

|

विशेष या पञ्चमहाभूत (स्थूल)

अठारह तत्त्वों का लिंगशरीर (सूक्ष्म)

स्थूल पञ्चमहाभूत और पुरुष को मिला कर कुल तत्त्वों की संख्या पचीस है। इनमें से महान् अथवा बुद्धि के बाद के तेईस गुण मूलप्रकृति के विकार हैं। किन्तु उनमें भी यह भेद है, कि सूक्ष्मतन्मात्राएँ और पाँच स्थूल महाभूत द्रव्यात्मक विकार हैं और बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियाँ केवल शक्ति या गुण हैं। ये तेईस तत्त्व व्यक्त हैं और मूलप्रकृति अव्यक्त है। सांख्यों ने इन तेईस तत्त्वों में से आकाशतत्त्व ही में दिक् और काल को भी सम्मिलित कर दिया है। वे 'प्राण' को भिन्न तत्त्व नहीं मानते। किन्तु जब सब इन्द्रियों के व्यापार आरम्भ होने लगते हैं, तब उसी को वे प्राण कहते हैं (सां. का. २९)। परन्तु वेदान्तियों को यह मत मान्य नहीं है। उन्हों ने प्राण को स्वतन्त्र तत्त्व माना है (वे. सू. २. ४. ९)। यह पहले ही बतलाया जा चुका है, कि वेदान्ती लोग प्रकृति और पुरुष को स्वयम्भू और स्वतन्त्र नहीं मानते, जैसा कि सांख्यमतानुयायी मानते हैं; किन्तु उसका कथन है, कि दोनों (प्रकृति और पुरुष) एक ही परमेश्वर की विभूतियाँ हैं। सांख्य और वेदान्त के उक्त भेदों को छोड़ कर शेष सृष्ट्युत्पत्तिक्रम दोनों पक्षों को ग्राह्य है। उदाहरणार्थ, महाभारत में अनुगीता में 'ब्रह्मवृक्ष' अथवा 'ब्रह्मवन' का जो दो बार वर्णन किया गया है (म. भा. अश्व. ३५. २०-२३, और ४७. १२-१५) यह सांख्यतत्त्वों के अनुसार ही है –

> **अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कंधमयो महान्।**
> **महाहंकारविटपः इन्द्रियान्तरकोटरः॥**
> **महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान्।**
> **सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः॥**
> **आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।**
> **एवं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः॥**
> **हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान्।**
> **निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः॥**

अर्थात् " अव्यक्त (प्रकृति) जिसका बीज है, बुद्धि (महान्) जिसका तना या पिंड है, अहंकार जिसका प्रधान पल्लव है, मन और दस इन्द्रियाँ जिसकी अन्तर्गत खोखली या खोड़र है, (सूक्ष्म) महाभूत (पंचतन्मात्राएँ) जिसकी बड़ी बड़ी शाखाएँ हैं, और विशेष अर्थात् स्थूल महाभूत जिसकी छोटी छोटी टहनियाँ हैं, इसी प्रकार सदा पत्र, पुष्प, और शुभाशुभ फल धारण करनेवाला, समस्त प्राणिमात्र के लिये आधारभूत यह सनातन बृहद् ब्रह्मवृक्ष है। ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह उसे तत्त्वज्ञानरूपी तलवार से काट कर टूक टूक कर डाले; जन्म, जरा और मृत्यु उत्पन्न करनेवाले संगमय पाशों को नष्ट करे और ममत्वबुद्धि तथा अहंकार को त्याग कर दे; तब वह निःसंशय मुक्त

होता है। ” संक्षेप में, यही ब्रह्मवृक्ष प्रकृति अथवा माया का ‘खेल’, ‘जाला’ या ‘पसारा’ है। अत्यन्त प्राचीन काल ही से – ऋग्वेदकाल ही से – इसे ‘वृक्ष’ कहने की रीति पड़ गई है; और उपनिषदों में भी उसको ‘ सनातन अश्वत्थवृक्ष ’ कहा है (कठ. ६. १)। परन्तु वेदों में इसका सिर्फ़ यही वर्णन किया गया है, कि उस वृक्ष का मूल (परब्रह्म) ऊपर है; और शाखाएँ (दृश्य-सृष्टि का फैलाव) नीचे हैं। इस वैदिक वर्णन को और सांख्यों के तत्त्वों को मिला कर गीता में अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन किया गया है। इसका स्पष्टीकरण हमने गीता के १५. १–२ श्लोकों की अपनी टीका में कर दिया है।

ऊपर बतलाये गये पचीस तत्त्वों का वर्गीकरण सांख्य और वेदान्ती भिन्न भिन्न रीति से किया करते हैं। अतएव यहाँ पर उस वर्गीकरण के विषय में कुछ लिखना चाहिये। सांख्यों का यह कथन है, कि इन पचीस तत्त्वों के चार वर्ग होते हैं – अर्थात् मूलप्रकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति और न-प्रकृति। (१) प्रकृति-तत्त्व किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं हुआ है; अतएव उसे ‘मूलप्रकृति’ कहते हैं। (२) मूलप्रकृति से आगे बढ़ने पर जब हम दूसरी सीढ़ी पर आते हैं, तब ‘महान्’ तत्त्व का पता लगता है। यह महान् तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न हुआ है; इसलिये वह ‘ प्रकृति की विकृति या विकार ’ है। और इसके बाद महान् तत्त्व से अहंकार निकला है; अतएव ‘महान्’ अहंकार की प्रकृति अथवा मूल है। इस प्रकार महान् अथवा बुद्धि एक ओरसे अहंकार की प्रकृति या मूल है और दूसरी ओर से वह मूलप्रकृति की विकृति अथवा विकार है। इसीलिये सांख्यों ने उसे ‘ प्रकृति-विकृति ’ नामक वर्ग में रखा; और इसी न्याय के अनुसार अहंकार ताथ पञ्चतन्मात्राओं का समावेश भी ‘प्रकृति-विकृति’ वर्ग ही में किया जाता है। जो तत्त्व अथवा गुण स्वयं दूसरे से उत्पन्न (विकृति) हो, और आगे वही स्वयं अन्य तत्त्वों का मूलभूत (प्रकृति) हो जावे, उसे ‘प्रकृति-विकृति’ कहते हैं। इस वर्ग के सात तत्त्व ये हैं :– महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ। (३) परन्तु पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और स्थूल-पंच-महाभूत, इन सोलह तत्त्वों से फिर और अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु ये स्वयं दूसरे तत्त्वों से प्रादुर्भूत हुए हैं। अतएव इन सोलह तत्त्वों को ‘प्रकृति-विकृति’ न कह कर केवल ‘विकृति’ अथवा विकार कहते हैं। (४) ‘पुरुष’ न प्रकृति है; और न विकृति। वह स्वतन्त्र और उदासीन द्रष्टा है। ईश्वरकृष्ण ने इस प्रकार वर्गीकरण करके फिर उसका स्पष्टीकरण यों किया है –

मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

अर्थात् “ यह मूलप्रकृति अविकृति है – अर्थात् किसी का भी विकार नहीं है;

महदादि सात (अर्थात् महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) तत्त्व प्रकृति-विकृति हैं; और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ तथा स्थूल पञ्चमहाभूत मिलकर सोलह तत्त्वों को केवल विकृति अथवा विकार कहते हैं। पुरुष न प्रकृति है न विकृति " (सां. का. ३)। आगे इन्हीं पचीस तत्त्वों के और तीन भेद किये गये हैं—अव्यक्त, व्यक्त और ज्ञ। इनमें से केवल एक मूलप्रकृति ही अव्यक्त है; प्रकृति से उत्पन्न हुए तेईस तत्त्व व्यक्त हैं, और पुरुष 'ज्ञ' है। ये हुए सांख्यों के वर्गीकरण के भेद। पुराण, स्मृति, महाभारत आदि वैदिकमार्गीय ग्रन्थों में प्रायः इन्हीं पचीस तत्त्वों का उल्लेख पाया जाता है (मैत्र्यु. ६. १०; मनु. १. १४, १५ देखो)। परन्तु, उपनिषदों में वर्णन किया गया है, कि ये सब तत्त्व परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं; और वहीं इनका विशेष विवेचन या वर्गीकरण भी नहीं किया गया है। उपनिषदों के बाद जो ग्रन्थ हुए हैं, उनमें इनका वर्गीकरण किया हुआ दीख पड़ता है; परन्तु वह उपर्युक्त सांख्यों के वर्गीकरण से भिन्न है। कुल तत्त्व पचीस हैं। इनमें से सोलह तत्त्व तो सांख्यमत के अनुसार ही विकार, अर्थात् दूसरे तत्त्वों से उत्पन्न हुए हैं। इस कारण उन्हें प्रकृति में अथवा मूलभूत पदार्थों के वर्ग में सम्मिलित नहीं कर सकते। अब ये नौ तत्त्व शेष रहे—१ पुरुष, २ प्रकृति, ३–९ महत्, और पाँच तन्मात्राएँ। इनमें से पुरुष और प्रकृति को छोड़ शेष सात तत्त्वों को सांख्यों ने प्रकृति-विकृति कहा है। परन्तु वेदान्तशास्त्र में प्रकृति को स्वतंत्र न मान कर यह सिद्धान्त निश्चित किया है, कि पुरुष और प्रकृति दोनों एक ही परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने से, सांख्यों के 'मूल-प्रकृति' और 'प्रकृति-विकृति' भेदों के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। क्योंकि प्रकृति भी परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण मूल नहीं कही जा सकती; किन्तु वह प्रकृति-विकृति के ही वर्ग में शामिल हो जाती है। अतएव, सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते समय वेदान्ती कहा करते हैं, कि परमेश्वर ही से एक ओर जीव निर्माण हुआ; दूसरी ओर (महदादि सात प्रकृति-विकृतिसहित) अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृति निर्मित हुई (म. भा. शां. ३०६. २९ और ३१०. १० देखो)। अर्थात्, वेदान्तियों के मत से पचीस तत्त्वों में से सोलह तत्त्वों को छोड़ शेष नौ तत्त्वों के केवल दो ही वर्ग किये जाते हैं – एक 'जीव' और दूसरी 'अष्टधा प्रकृति'। भगवद्गीता में वेदान्तियों का यही वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है। परन्तु इसमें भी अन्त में थोड़ा-सा फ़र्क हो गया है। सांख्यवादी जिसे पुरुष कहते हैं, उसे ही गीता में जीव कहा है; और यह बतलाया है, कि वह (जीव) ईश्वर की 'परा प्रकृति' अर्थात् श्रेष्ठ स्वरूप है; और सांख्यवादी जिसे मूलप्रकृति कहते हैं, उसे ही गीता में परमेश्वर का 'अपर' अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप कहा गया है (गी. ७. ४. ५)। इस प्रकार पहले दो बड़े बड़े वर्ग कर लेने पर उनमें से दूसरे वर्ग के अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप के जब और भी

भेद या प्रकार बतलाने पड़ते हैं, तब इस कनिष्ठ स्वरूप के अतिरिक्त उससे उपजे हुए शेष तत्त्वों को भी बतलाना आवश्यक होता है। क्योंकि यह कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् सांख्यों की मूलप्रकृति) स्वयं अपना ही एक प्रकार या भेद हो नहीं सकता। उदाहरणार्थ, जब यह बतलाना पड़ता है, कि बाप के लड़के कितने हैं; तब उन लड़कों में ही बाप की गणना नहीं की जा सकती। अतएव परमेश्वर के कनिष्ठ स्वरूप के अन्य भेदों को बतलाते समय कहना पड़ता है, कि वेदान्तियों की अष्टधा प्रकृति में से मूलप्रकृति को छोड़ शेष सात तत्त्व ही (अर्थात् महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) उस मूलप्रकृति के भेद या प्रकार हैं। परन्तु ऐसा करने से कहना पड़ेगा, कि परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् मूलप्रकृति) सात प्रकार का है; और ऊपर कह आये हैं, कि वेदान्ती तो प्रकृति को अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की मानते हैं। अब इस स्थान पर यह विरोध दीख पड़ता है, कि जिस प्रकृति को वेदान्ती अष्टधा या आठ प्रकार की कहें, उसी को गीता सप्तधा या सात प्रकार की कहे। परन्तु गीताकार को अभीष्ट था, कि उक्त विरोध दूर हो जावें; और 'अष्टधा प्रकृति' का वर्णन बना रहे। इसीलिये महान्, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ, इन सातों में ही आठवे मनतत्त्व को सम्मिलित कर के गीता में वर्णन किया गया है, कि परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप अर्थात् मूलप्रकृति अष्टधा है (गी. ७. ५)। इनमें से केवल मन ही में दस इन्द्रियों और पंचतन्मात्राओं में पंचमहाभूतों का समावेश किया गया है। अब यह प्रतीत हो जायगा, कि गीता में किया गया वर्गीकरण सांख्यों और वेदान्तियों के वर्गीकरण से यद्यपि कुछ भिन्न है, तथापि इससे कुल तत्त्वों की संख्या में कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। सब जगह तत्त्व पचीस ही माने गये हैं। परन्तु वर्गीकरण की उक्त भिन्नता के कारण किसी के मन में कुछ भ्रम न हो जाय, इसलिये ये तीनों वर्गीकरण कोष्टक के रूप में एकत्र करके आगे दिये गये हैं। गीता के तेरहवे अध्याय (१३. ५) में वर्गीकरण के झगड़े में न पड़ कर, सांख्यों के पचीस तत्त्वों का वर्णन ज्यों-का-त्यों पृथक् पृथक् किया गया है; और इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि चाहे वर्गीकरण में कुछ भिन्नता हो; तथापि तत्त्वों की संख्या दोनों स्थानों पर बराबर ही है।

पचीस मूलतत्त्वों का वर्गीकरण

सांख्यों का वर्गीकरण।	तत्त्व।	वेदान्तियों का वर्गीकरण।	गीता का वर्गीकरण
न-प्रकृति न-विकृति	१ पुरुष	परब्रह्म का श्रेष्ठ स्वरूप	परा प्रकृति
मूलप्रकृति	१ प्रकृति	परब्रह्म का कनिष्ठ स्वरूप (आठ प्रकार का)	अपरा प्रकृति
७ प्रकृति-विकृति	१ महान् १ अहंकार ५ तन्मात्राएँ		अपरा प्रकृति के आठ प्रकार
१६ विकार	१ मन ५ बुद्धीन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ ५ महाभूत	विकार होनेके कारण इन सोलह तत्त्वों को वेदान्ती मूलतत्त्व नहीं मानते।	विकार होने के कारण, गीता में इन पंद्रह तत्त्वों की गणना मूलतत्त्वों में नहीं की गई है।
	२५		

यहाँ तक इस बात का विवेचन हो चुका, कि पहले मूलसाम्यावस्था में रहनेवाली एक ही अवयवरहित जड प्रकृतिमें व्यक्तसृष्टि उत्पन्न करने की अस्वयं-वेद्य 'बुद्धि' कैसे प्रकट हुई; फिर उसमें 'अहंकार' से अवयवसहित विविधता कैसे उपजी; और इसके बाद 'गुणों से गुण' इस गुणपरिणामवाद के अनुसार एक ओर सात्त्विक (अर्थात् सेन्द्रिय) सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रियाँ, तथा दूसरी ओर तामस (अर्थात् निरिन्द्रिय) सृष्टि की मूलभूत पांच सूक्ष्मतन्मात्राएँ कैसे निर्मित हुई। अब इसके बाद की सृष्टि (अर्थात् स्थूल पंचमहाभूतों या उनसे उत्पन्न होनेवाले अन्य जड पदार्थों) की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन किया जावेगा। सांख्य-शास्त्र में सिर्फ़ यही कहा है, कि सूक्ष्मतन्मात्राओं में 'स्थूल पंचमहाभूत' अथवा 'विशेष', गुणपरिणाम के कारण, उत्पन्न हुए हैं। परन्तु वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों में इस विषय का अधिक विवेचन किया गया है; इसलिये प्रसंगानुसार उसका भी संक्षिप्त वर्णन – इस सूचना के साथ कि यह वेदान्तशास्त्र का मत है, सांख्यों का नहीं – कर देना आवश्यक जान पड़ता है। 'स्थूल पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश' को पंचमहाभूत अथवा विशेष कहते हैं। इनका उत्पत्तिक्रम तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार है :– 'आत्मनः आकाशः संभूतः। आकाशा-द्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथ्वी। पृथिव्या ओषधयः। इ.' (तै उ. २. १) – अर्थात् पहले परमात्मा से (जड-मूलप्रकृति से नहीं; जैसा कि सांख्यवादियों का कथन है) आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, और फिर पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। तैत्तिरीयोपनिषद् में यह नहीं बतलाया गया, कि इस क्रम का कारण क्या है। परन्तु प्रतीत होता है, कि उत्तर-वेदान्तग्रन्थों में पंचमहाभूतों के उत्पत्तिक्रम के कारणों का विचार सांख्यशास्त्रोक्त गुणपरिणाम के तत्त्व पर ही किया गया है। इन उत्तर-वेदान्तियों का यह कथन है, कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इस न्याय से पहले एक ही गुण का पदार्थ उत्पन्न हुआ। उससे दो गुणों के और फिर तीन गुणों के पदार्थ उत्पन्न हुए। इसी प्रकार वृद्धि होती गई। पंचमहाभूतों में से आकाश का मुख्य एक गुण केवल शब्द ही है। इसलिये पहले आकाश उत्पन्न हुआ। इसके बाद वायु की उत्पत्ति हुई। क्योंकि उसमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। जब वायु जोर से चलती है, तब उसकी आवाज़ सुन पड़ती है; और हमारी स्पर्शेन्द्रिय को भी उसका ज्ञान होता है। वायु के बाद अग्नि की उत्पत्ति होती है। क्योंकि शब्द और स्पर्श के अतिरिक्त उसमें तीसरा गुण (रूप) भी है। इन तीनों गुणों के साथ-ही-साथ पानी में चौथा गुण (रुचि या रस) होता है। इसलिये उसका प्रादुर्भाव अग्नि के बाद ही होना चाहिये। और अन्त में, इन चारों गुणों की अपेक्षा पृथ्वी में 'गन्ध' गुण विशेष होने से यह सिद्ध किया गया है, कि पानी के बाद ही पृथ्वी उत्पन्न हुई है। यास्काचार्य

का यही सिद्धान्त है (निरुक्त १४. ४)। तैत्तिरीयोपनिषद् में आगे चल कर किया गया है; कि उक्त क्रम से स्थूल पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हो चुकने पर फिर –' पृथिव्या औषधयः। औषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः : ' – पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ (तै. २. १) यह सृष्टि पंचमहाभूतों के मिश्रण से बनती है। इसलिये इस मिश्रणक्रिया को वेदान्तग्रन्थों में 'पंचीकरण' कहते हैं। पंचीकरण का अर्थ " पंचमहाभूतों में से प्रत्येक का न्यूनाधिक भाग ले कर सब के मिश्रण से किसी नये पदार्थ का बनना " है। यह पंचीकरण, स्वभावतः अनेक प्रकार का हो सकता है। श्रीसमर्थ रामदास-स्वामी ने अपने 'दासबोध' में जो वर्णन किया है, वह भी इसी बात को सिद्ध करता है। देखिये :– " काला और सफ़ेद मिलाने से नीला बनता है, और काला और पीला मिलाने से हरा बनता है (दा. ९. ६. ४०)। पृथ्वी में अनन्त कोटि बीजों की जातियाँ होती हैं। पृथ्वी और पानी का मेल होने पर उन बीजों से अंकुर निकलते हैं। अनेक प्रकार की बेलें होती हैं, पत्र-पुष्प होते हैं, और अनेक प्रकार के स्वादिष्ट फल होते हैं। ... ... अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, सब का बीज पृथ्वी और पानी है। यही सृष्टिरचना का अद्भुत चमत्कार है। इस प्रकार चार खानी, चार वाणी, चौरासी लाख* जीवयोनि,

* यह बात स्पष्ट है, कि चौरासी लाख योनियों की कल्पना पौराणिक है, और वह अंदाज़ से की गई है। तथापि, वह निरी निराधार भी नहीं है। उत्क्रान्तितत्त्व के अनुसार पश्चिमी आधिभौतिकशास्त्री यह मानते, हैं कि सृष्टि के आरंभ में उपस्थित एक छोटे से सजीव सूक्ष्म गोल जन्तु से मनुष्य प्राणी उत्पन्न हुआ। इस कल्पना से यह बात स्पष्ट है, कि सूक्ष्म गोल जन्तु का स्थूल गोल जन्तु बनने में, स्थूल जन्तु का पुनश्च छोटा कीड़ा होने में, छोटे कीड़े के बाद उसका अन्य प्राणी होने में, पृथक् योनि अर्थात् जात की अनेक पीढ़ियाँ बीत गई होंगी। इससे एक आंग्ल जीवशास्त्रज्ञ ने गणित के द्वारा सिद्ध किया है, कि पानी में रहनेवाली छोटी छोटी मछलियों के गुणधर्मों का विकास होते होते उन्हीं को मनुष्यस्वरूप प्राप्त होने में, भिन्न भिन्न जातियों की लगभग ५३ लाख ७५ हज़ार पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं; और संभव है, कि इन पीढ़ियों की संख्या कदाचित् इससे दस गुणी भी हो। ये हुई पानी में रहनेवाले जलचरों से ले कर मनुष्य तक की योनियाँ। अब यदि इनमें ही छोटे जलचरों से पहले के सूक्ष्म जन्तुओं का समावेश कर दिया जाय तो न मालूम कितने लाख पीढ़ियों की कल्पना करनी होगी। इससे मालूम हो जायगा, कि हमारे पुराणों में वर्णित चौरासी लाख योनियों की कल्पना की अपेक्षा आधिभौतिक शास्त्रज्ञों के पुराणों में वर्णित पीढ़ियों की कल्पना कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। कल्पना-संबंधी यह न्याय काल (समय) को भी उपयुक्त हो सकता है। भूगर्भगतजीव-शास्त्रज्ञों का कथन है, कि इस बात का स्थूलदृष्टि से निश्चय नहीं किया जा सकता, कि सजीव-सृष्टि के सूक्ष्म जन्तु इस पृथ्वी पर कब उत्पन्न हुए। और सूक्ष्म जलचरों की उत्पत्ति तो कई करोड़ वर्षों के पहले हुई है। इस विषय का विवेचन The Last Link by Ernst Haeckel, with notes, etc. by Dr. H. Gadow (1898) नामक पुस्तक में

तीन लोक, पिण्ड, ब्रह्माण्ड सब निर्मित होते हैं (दा. १३. ३. १०-१५)। परन्तु पञ्चीकरण से केवल जड पदार्थ अथवा जड शरीर ही उत्पन्न होते हैं। ध्यान रहे, कि जब इस जड देह का संयोग प्रथम सूक्ष्म इन्द्रियों से और फिर आत्मा से अर्थात् पुरुष से होता है, तभी इस जड देह से सचेतन प्राणी हो सकता है।

यहाँ यह भी बतला देना चाहिये, कि उत्तर-वेदान्त-ग्रन्थों में वर्णित यह पञ्चीकरण प्राचीन उपनिषदों में नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् में पाँच तन्मात्राएँ या पाँच महाभूत नहीं माने गये हैं, किन्तु कहा है, कि 'तेज, आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी)' इन्हीं तीन सूक्ष्म मूलतत्त्वों के मिश्रण से अर्थात् 'त्रिवृत्करण' से सब विविध सृष्टि बनी है। और, श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि, "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वेता. ४, ५) अर्थात् लाल (तेजोरूप), सफ़ेद (जलरूप) और काले (पृथ्वीरूप) रंगों की (अर्थात् तीन तत्त्वों की) एक अजा (बकरी) से नामरूपात्मक प्रजा (सृष्टि) उत्पन्न हुई। छांदोग्योपनिषद् के छठवे अध्याय में श्वेतकेतु और उसके पिता का संवाद है। संवाद के आरम्भ में श्वेतकेतु के पिता ने स्पष्ट कह दिया है, कि "अरे! इस जगत् के आरम्भ में 'एकमेवाद्वितीयं सत्' के अतिरिक्त – अर्थात् जहाँ तहाँ सब एक ही और नित्य परब्रह्म के अतिरिक्त – और कुछ भी नहीं था। जो असत् (अर्थात् नहीं है) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतएव, आदि में सर्वत्र सत् ही व्याप्त था। इसके बाद उसे अनेक अर्थात् विविध होने की इच्छा हुई और उससे क्रमशः सूक्ष्म तेज (अग्नि), आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) की उत्पत्ति हुई। पश्चात् इन तीन तत्त्वों में ही जीवरूप से परब्रह्म का प्रवेश होने पर उनके त्रिवृत्करण से जगत् की अनेक नामरूपात्मक वस्तुएँ निर्मित हुई। स्थूल अग्नि, सूर्य, या विद्युल्लता की ज्योति में, जो लाल (लोहित) रंग है, वह सूक्ष्म तेजोरूपी मूलतत्त्व का परिणाम है, जो सफ़ेद (शुक्ल) रंग है, वह सूक्ष्म आप-तत्त्व का परिणाम है; और जो कृष्णकाला रंग है, वह सूक्ष्म पृथ्वी-तत्त्व का परिणाम है। इसी प्रकार मनुष्य जिस अन्न का सेवन करता है, उसमें भी सूक्ष्म तेज, सूक्ष्म आप और सूक्ष्म अन्न (पृथ्वी), – ये ही तीन तत्त्व होते हैं। जैसे दही को मथने से मक्खन ऊपर आ जाता है, वैसे ही उक्त तीन सूक्ष्म तत्त्वों से बना हुआ अन्न जब पेट में जाता है, तब उसमें से तेजतत्त्व के कारण मनुष्य के शरीर में स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम – जिन्हें क्रमशः अस्थि, मज्जा और वाणी कहते हैं – उत्पन्न कहते हैं। इसी प्रकार आप अर्थात् जलतत्त्व से मूत्र, रक्त और प्राण; तथा अन्न अर्थात्

किया गया है। डाक्टर गेडो ने इस पुस्तक में जो दो-तीन उपयोगी परिशिष्ट जोड़े हैं, उनसे ही उपर्युक्त बातें ली गई हैं। हमारे पुराणों में चौरासी योनियों की गिनती इस प्रकार की गई है – ९ लाख जलचर, १० लाख पक्षी, ११ लाख कृमि, २० लाख पशु, ३० लाख स्थावर और ४ लाख मनुष्य (दासबोध २०. ६ देखो)।

पृथ्वीतत्त्व से पुरीष, मांस और मन ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं" (छां. ६. २–६)। छान्दोग्योपनिषद् की यही पद्धति वेदान्त-सूत्रों (२. ४. २०) में भी कही गई है, कि मूल महाभूतों की संख्या पाँच नहीं, केवल तीन ही है; और उनके त्रिवृत्करण से सब दृश्य पदार्थों की उत्पत्ति भी मालूम की जा सकती है। बादरायणाचार्य तो पञ्चीकरण का नाम तक नहीं लेते। तथापि तैत्तिरीय (२. १), प्रश्न (४. ८), बृहदारण्यक (४. ४. ५) आदि अन्य उपनिषदों में, और विशेषतः श्वेताश्वतर (२. १२), वेदान्तसूत्र (२. ३. १–१४) तथा गीता (७. ४; १३. ५) में भी तीन के बदले पाँच महाभूतों का वर्णन है। गर्भोपनिषद् के आरम्भ ही में कहा है, कि मनुष्यदेह 'पञ्चात्मक' है; और महाभारत तथा पुराणों में तो पञ्चीकरण का स्पष्ट वर्णन ही किया गया है (म. भा. शां. १८४–१८६)। इससे यही सिद्ध होता है, कि यद्यपि त्रिवृत्करण प्राचीन है, तथापि जब महाभूतों की संख्या तीन के बदले पाँच मानी जाने लगी, तब त्रिवृत्करण के उदाहरण ही से पञ्चीकरण की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ; त्रिवृत्करण पीछे रह गया। एवं अन्त में पञ्चीकरण की कल्पना सब वेदान्तियों को ग्राह्य हो गई। आगे चल कर इसी पञ्चीकरण शब्द के अर्थ में यह बात भी शामिल हो गई, कि मनुष्य का शरीर केवल पंचमहाभूतों से ही बना नहीं है; किन्तु उन पंचमहाभूतों में से हर एक पाँच प्रकार से शरीर में विभाजित भी हो गया है। उदाहरणार्थ, त्वक्, माँस, अस्थि, मज्जा और स्नायु ये पाँच विभाग अन्नमय पृथ्वीतत्त्व के हैं, इत्यादि (म. भा. शां. १८४. २० – २५; और दासबोध १७. ८ देखो)। प्रतीत होता है, कि यह कल्पना भी उपर्युक्त छान्दोग्योपनिषद् के त्रिवृत्करण के वर्णन से सूझ पड़ी है। क्योंकि वहाँ भी अन्तिम वर्णन यही है, कि 'तेज, आप और पृथ्वी' इन तीनों में से प्रत्येक, तीन-तीन प्रकार से मनुष्य के देह में पाया जाता है।

इस बात का विवेचन हो चुका, कि मूल अव्यक्त प्रकृति से अथवा वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म से अनेक नाम और रूप धारण करनेवाले सृष्टि के अचेतन अर्थात् निर्जीव या जड पदार्थ कैसे बने हैं। अब इसका विचार करना चाहिये, कि सृष्टि के सचेतन अर्थात् सजीव प्राणियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र का विशेष कथन क्या है; और फिर यह देखना चाहिये, कि वेदान्त-शास्त्र के सिद्धान्तों से उसका कहाँ तक मेल है। जब मूलप्रकृति से प्रादुर्भूत पृथ्वी आदि स्थूल पंचमहाभूतों का संयोग सूक्ष्म इन्द्रियों के साथ होता है, तब उससे सजीव प्राणियों का शरीर बनता है। परन्तु यद्यपि यह शरीर सेन्द्रिय हो, तथापि वह जड ही रहता है। इन इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाला तत्त्व जड प्रकृति से भिन्न होता है, जिसे 'पुरुष' कहते हैं। सांख्यों के इन सिद्धान्तों का वर्णन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है, कि यद्यपि मूल में 'पुरुष' अकर्ता है, तथापि प्रकृति के

साथ उसका संयोग होने पर सजीव सृष्टि का आरम्भ होता है; और 'मैं प्रकृति से भिन्न हूँ' यह ज्ञान हो जाने पर पुरुष का प्रकृति से संयोग छूट जाता है; तथा वह मुक्त हो जाता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो जन्म-मरण के चक्कर में उसे घुमना पड़ता है। परन्तु इस बात का विवेचन नहीं किया गया, कि जिस 'पुरुष' की मृत्यु प्रकृति और 'पुरुष' की भिन्नता का ज्ञान हुए बिना ही हो जाती है, उसको नये नये जन्म कैसे प्राप्त होते हैं। अतएव यहीं विषय का कुछ अधिक विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है। यह स्पष्ट है, कि जो मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, उसका आत्मा प्रकृति के चक्र से सदा के लिये छूट नहीं सकता। क्योंकि यदि ऐसा हो, तो ज्ञान अथवा पाप-पुण्य का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जायगा। और फिर चार्वाक के मतानुसार यह कहना पड़ेगा, कि मृत्यु के बाद हर एक मनुष्य प्रकृति के फंदे से छूट जाता है – अर्थात् वह मोक्ष पा जाता है। अच्छा; यदि यह कहें, कि मृत्यु के बाद केवल आत्मा अर्थात् पुरुष बच जाता है; और वही स्वयं नये नये जन्म लिया करता है; तो यह मूलभूत सिद्धान्त – कि पुरुष अकर्ता और उदासीन है, और सब कर्तृत्व प्रकृति ही का है – मिथ्या प्रतीत होने लगता है। इसके सिवा जब हम यह मानते हैं, कि आत्मा स्वयं ही नये नये जन्म लिया करता है, तब वह उसका गुण या धर्म हो जाता है। और तब तो ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जाती है, कि वह जन्म-मरण के आवा-गमन से कभी छूट ही नहीं सकता। इसलिये यह सिद्ध होता है, कि यदि बिना ज्ञान प्राप्त किये कोई मनुष्य मर जाय तो भी आगे नया जन्म प्राप्त करा देने के लिये उसके आत्मा से प्रकृति का संबंध अवश्य रहना ही चाहिये। मृत्यु के बाद स्थूल देह का नाश हो जाया करता है। इसलिये यह प्रकट है, कि अब उक्त सम्बन्ध स्थूल महाभूतात्मक प्रकृति के साथ नहीं रह सकता। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि प्रकृति केवल स्थूल पंचमहाभूतों ही से बनी है। प्रकृति से कुल तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं; और स्थूल पञ्चमहाभूत उन तेईस तत्त्वों में से अन्तिम पाँच हैं। इन अन्तिम पाँच तत्त्वों (स्थूल पंचमहाभूतों) को तेईस तत्त्वों में से अलग करने पर १८ तत्त्व शेष रहते हैं। अतएव अब यह कहना चाहिये, कि जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है; वह यद्यपि पंचमहाभूतात्मक स्थूल-शरीर से – अर्थात् अन्तिम पाँच तत्त्वों से – छट जाता है, तथापि इस प्रकार की मृत्यु से प्रकृति के अन्य १८ तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। वे अठारह तत्त्व ये हैं:– महान् (बुद्धि), अहंकार, मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ (इस प्रकरण में दिया गया ब्रह्माण्ड का वंशवृक्ष, पृष्ठ १७९ देखिये)। ये सब तत्त्व सूक्ष्म हैं। अतएव इन तत्त्वों के साथ पुरुष का संयोग स्थिर हो कर जो शरीर बनता है, उसे स्थूलशरीर के विरुद्ध सूक्ष्म अथवा लिंगशरीर कहते हैं (सां. का. ४०)। जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, तब

मृत्यु के समय उसके आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त १८ तत्त्वों से बना हुआ यह लिंगशरीर भी स्थूल देह से बाहर हो जाता है। और जब तक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं जाती, तब तक उस लिंगशरीर ही के कारण उसको नये नये ज़न्म लेने पड़ते हैं। इस पर कुछ लोगों का यह प्रश्न है, कि मनुष्य की मृत्यु के बाद जीव के साथ साथ इस जड देह में बुद्धि, अहंकार, मन और दस इन्द्रियों के व्यापार भी, नष्ट होते हुए हमें प्रत्यक्ष में दीख पड़ते हैं। इस कारण लिंग-शरीर में इन तेरह तत्त्वों का समावेश किया जाना तो उचित है; परन्तु इन तेरह तत्त्वों के साथ पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी समावेश लिंगशरीर में क्यों किया जाना चाहिये? इस पर सांख्यों का उत्तर यह है, कि ये तेरह तत्त्व – निरी बुद्धि, निरा अहंकार, मन और दस इन्द्रियाँ – प्रकृति के केवल गुण हैं। और, जिस तरह छाया को किसी-न-किसी पदार्थ का – तथा चित्र को दीवार, कागज़ आदि का – आश्रय आवश्यक है; उसी तरह इन गुणात्मक तेरह तत्त्वों को भी एकत्र रहने के लिये किसी द्रव्य के आश्रय की आवश्यकता होती है। अब आत्मा (पुरुष) स्वयं निर्गुण और अकर्ता है; इसलिये वह स्वयं किसी भी गुण का आश्रय हो नहीं सकता। मनुष्य की जीवितावस्था में उसके शरीर के स्थूल पंचमहाभूत ही इन तेरह तत्त्वों के आश्रयस्थान हुआ करते हैं। परन्तु, मृत्यु के बाद अर्थात् स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर स्थूल पंचमहाभूतों का यह आधार छूट जाता है। तब उस अवस्था में, इन तेरह गुणात्मक तत्त्वों के लिये किसी अन्य द्रव्यात्मक आश्रय की आवश्यकता होती है। यदि मूलप्रकृति ही को आश्रय मान लें, तो वह अव्यक्त और अविकृत अवस्था को – अर्थात् अनंत और सर्वव्यापी होने के कारण – एक छोटे-से लिंगशरीर के अहंकार, बुद्धि आदि गुणों का आधार नहीं हो सकती। अतएव मूलप्रकृति के ही द्रव्यात्मक विकारों में से, स्थूल-पञ्चमहाभूतों के बदले उसके मूलभूत पाँच सूक्ष्म तन्मात्रद्रव्यों का समावेश उपर्युक्त तेरह गुणों के साथ-ही-साथ उनके आश्रयस्थान की दृष्टि से लिंगशरीर में करना पड़ता है (सां. का. ४१)। बहुतेरे सांख्य ग्रन्थकार, लिंगशरीर और स्थूलशरीर के बीच एक और तीसरे शरीर (पञ्चतन्मात्राओं से बने हुए) की कल्पना करके प्रतिपादन करते हैं, कि यह तीसरा शरीर लिंगशरीर का आधार है। परन्तु हमारा मत यह है, कि यह सांख्यकारिका की इकतालीसवीं आर्या का यथार्थ भाव वैसा नहीं है। टीकाकारों ने भ्रम से तीसरे शरीर की कल्पना की है। हमारे मतानुसार उस आर्या का उद्देश सिर्फ़ इस बात का कारण बतलाना ही है, कि बुद्धि आदि तेरह तत्त्वों के साथ पञ्चतन्मात्राओं का भी समावेश लिंगशरीर में क्यों किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं है।*

* भट्ट कुमारिल कृत 'मीमांसाश्लोकवार्तिक' ग्रन्थ के एक श्लोक से (आत्मवाद,

कुछ विचार करने से प्रतीत हो जायगा, कि सूक्ष्म अठारह तत्त्वों के सांख्योक्त लिंगशरीर में और उपनिषदों में वर्णित लिंगशरीर में विशेष भेद नहीं है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है, कि – 'जिस प्रकार जोंक (जलायुका) घास के तिनके के छोर तक पहुँचने पर दूसरे तिनके पर (सामने के पैरों से) अपने शरीर का अग्रभाग रखती है; और फिर पहले तिनके पर से अपने शरीर के अंतिम भाग को खींच लेती है; उसी प्रकार आत्मा एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाता है' (बृ. ४. ४. ३)। परन्तु केवल इस दृष्टान्त से ये दोनों अनुमान सिद्ध नहीं होते, कि निरा आत्मा ही दूसरे शरीर में जाता है; और वह भी एक शरीर से छूटते ही चला जाता है। क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् (४. ४. ५) में आगे चल कर यह वर्णन किया गया है, कि आत्मा के साथ साथ पाँच (सूक्ष्म) भूत, मन, इन्द्रियाँ, प्राण और धर्माधर्म भी शरीर से बाहर निकल जाते हैं। और यह भी कहा है, कि आत्मा को अपने धर्म के अनुसार भिन्न भिन्न लोक प्राप्त होते हैं। एवं वहाँ उसे कुछ कालपर्यंत निवास करना पड़ता है (बृ. ६. २. १४ और १५)। इसी प्रकार, छान्दोग्योपनिषद् में भी आप (पानी) मूलतत्त्व के साथ जीव की जिस गति का वर्णन किया गया है (छां. ५. ३. ३; ५. ९. १) उससे और वेदान्तसूत्रों में उनके अर्थ का जो निर्णय किया गया है (वे. सू. ३. १. १-७) इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि लिंगशरीर में – पानी, तेज और अन्न – इन तीनों मूलतत्त्वों का समावेश किया जाना छान्दोग्योपनिषद् को भी अभिप्रेत है। सारांश, यही दीख पड़ता है, कि महदादि अठारह सूक्ष्मतत्त्वों से बने हुए सांख्यों के 'लिंगशरीर' में ही प्राण और धर्माधर्म अर्थात् कर्म को भी शामिल कर देने से वेदान्तमतानुसार लिंग-शरीर हो जाता है। परन्तु सांख्यशास्त्र के अनुसार प्राण का समावेश ग्यारह इन्द्रियों की वृत्तियों में ही, और धर्म-अधर्म का समावेश बुद्धीन्द्रियों के व्यापार में ही हुआ करता है। अतएव उक्त भेद के विषय में यह कहा जा सकता है, कि वह केवल शाब्दिक है – वस्तुतः लिंगशरीर के घटकावयव के सम्बन्ध में वेदान्त और सांख्यमतों में कुछ भी भेद नहीं है। इसी लिये मैत्र्युपनिषद् (६. १०) में

श्लोक ६२) देख पड़ेगा, कि उन्होंने इस आर्या का अर्थ हमारे अनुसार ही किया है। वह श्लोक यह है :–

अंतराभवदेहो हि नेष्यते विंध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किंचिदवगम्यते॥

"अंतराभव अर्थात् लिंगशरीर और स्थूलशरीर के बीचवाले शरीर से विंध्यवासी सहमत नहीं है। यह मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, कि उक्त प्रकार का कोई शरीर है।" ईश्वरकृष्ण विंध्याचल पर्वत पर रहता था; इसलिये उसको विंध्यवासी कहा है। अंतराभवशरीर को 'गंधर्व' भी कहते हैं – अमरकोश ३. ४. १३२. और उसपर श्री. कृष्णाजी गोविंद ओकद्वारा प्रकाशित क्षीरस्वामी की टीका तथा उस ग्रन्थ की प्रस्तावना पृष्ठ ८ देखो।

'महदादि सूक्ष्मपर्यंत' यह सांख्योक्त लिंगशरीर का लक्षण, 'महदाद्यविशेषान्तं' इस पर्याय से ज्यों-का-त्यों रख दिया है।* भगवद्गीता (१५. ७) में पहले यह बतला कर, कि 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' – मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों ही का सूक्ष्म शरीर होता है – आगे ऐसा वर्णन किया है, 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' (१५. ८) – जिस प्रकार हवा फूलों की सुगन्ध को हर लेती है, उसी प्रकार जीव स्थूल-शरीर का त्याग करते समय इस लिंगशरीर को अपने साथ ले जाता है। तथापि, गीता में जो अध्यात्म-ज्ञान है, वह उपनिषदों ही में से लिया गया है। इसलिये कहा जा सकता है, कि 'मनसहित छः इन्द्रियाँ' इन शब्दों में ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएँ, प्राण और पाप-पुण्य का संग्रह भगवान् को अभिप्रेत है। मनुस्मृति (१२. १६, १७) में भी यह वर्णन किया गया है, कि मरने पर मनुष्य को, इस जन्म में किये हुए पाप-पुण्य का फल भोगने के लिये, पञ्चतन्मात्रात्मक सूक्ष्मशरीर प्राप्त होता है। गीता के 'वायुर्गन्धानिवाशयात्' इस दृष्टान्त से केवल इतना ही सिद्ध होता है, कि यह शरीर सूक्ष्म है। परन्तु उससे यह नहीं मालूम होता, कि उसका आकार कितना बड़ा है। महाभारत के सावित्री-उपाख्यान में यह वर्णन पाया जाता है, कि सत्यवान् के (स्थूल) शरीर में से अँगूठे के बराबर एक पुरुष को यमराज ने बाहर निकाला–'अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्' (म. भा. वन. २९७. १६)। इससे प्रतीत होता है, कि दृष्टान्त के लिये ही क्यों न हो, लिंगशरीर अँगूठे के आकार का माना जाता था।

इस बात का विवेचन हो चुका, कि यद्यपि लिंगशरीर हमारे नेत्रों को गोचर नहीं है, तथापि उसका अस्तित्व किन अनुमानों से सिद्ध हो सकता है, और उस शरीर के घटकावयव कौन-से हैं। परन्तु केवल यह कह देना ही यथेष्ट प्रतीत नहीं होता, कि प्रकृति और पाँच स्थूल-महाभूतों के अतिरिक्त अठारह तत्त्वों के समुच्चय से लिंगशरीर निर्माण होता है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि

* आनन्दाश्रम, पूना, से प्रकाशित द्वात्रिंशदुपनिषदों की पोथी मैत्र्युपनिषद् में उपर्युक्त मंत्र का 'महदाद्यं विशेषान्तं' पाठ है; और उसी को टीकाकार ने भी माना है। यदि यह पाठ लिया जाय, तो लिंगशरीर में आरंभ के महत्तत्त्व का समावेश करके विशेषान्त पद से सूचित विशेष अर्थात् पञ्चमहाभूतों को छोड़ देना पड़ता है। यानी, यह अर्थ करना पड़ता है, कि महदाद्यं में से महत् को ले लेना और विषेशान्तं में से विशेष को छोड़ देना चाहिये। परन्तु जहाँ आद्यन्त का उपयोग किया जाता है, वहाँ उन दोनों को छोड़ना युक्त होता है। अतएव प्रो. डॉयसेन का कथन है, कि महादाद्यं पद के अन्तिम अक्षर का अनुस्वार निकालकर 'महदाद्यविशेषान्तम्' (महदादि + अविशेषान्तम्) पाठ कर देना चाहिये। ऐसा करने पर अविशेष पद बन जाने से, महत् और अविशेष अर्थात् आदि और अंत दोनों को भी एक ही न्याय पर्याप्त होगा; और लिंगशरीर में दोनों का ही समावेश किया जा सकेगा। यही इस पाठ का विशेष गुण है। परन्तु स्मरण रहे, कि पाठ कोई भी लिया जाय, अर्थ में भेद नहीं पड़ता।

जहाँ जहाँ लिंगशरीर रहेगा, वहाँ वहाँ इन अठारह तत्त्वों का समुच्चय अपने अपने गुण-धर्म के अनुसार माता-पिता के स्थूलशरीर में से तथा आगे स्थूल-सृष्टि के अन्न से, हस्तपाद आदि स्थूल अवयव या स्थूल-इन्द्रियाँ उत्पन्न करेगा; अथवा उनका पोषण करेगा। परन्तु अब यह बतलाना चाहिये, कि अठारह तत्त्वों के समुच्चय से बना हुआ लिंगशरीर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भिन्न भिन्न देह क्यों उत्पन्न करता है। सजीव सृष्टि के सचेतन तत्त्व को सांख्यवादी 'पुरुष' कहते हैं; और सांख्यमतानुसार ये पुरुष चाहे असंख्य भी हों; तथापि प्रत्येक पुरुष स्वभावतः उदासीन तथा अकर्ता है। इसलिये पशु-पक्षी आदि प्राणियों के भिन्न भिन्न शरीर उत्पन्न करने का कर्तृत्व पुरुष के हिस्से में नहीं आ सकता। वेदान्तशास्त्र में कहा है, कि पाप-पुण्य आदि कर्मों के परिणाम से ये भेद उत्पन्न हुआ करते हैं। इस कर्म-विपाक का विवेचन आगे चल कर किया जायगा। सांख्यशास्त्र के अनुसार कर्म को (पुरुष और प्रकृति से भिन्न) तीसरा तत्त्व नहीं मान सकते; और जब कि पुरुष उदासीन ही है, तब कहना पड़ता है, कि कर्म प्रकृति के सत्त्व-रज-तमो-गुणों का ही विकार है। लिंगशरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समुच्चय है, उनमें से बुद्धितत्त्व प्रधान है। इसका कारण यह है, कि बुद्धि ही से आगे अहंकार आदि सत्रह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। अर्थात्, जिसे वेदान्त में कर्म कहते हैं, उसी को सांख्यशास्त्र में सत्त्व-रज-तम गुणों के न्यूनाधिक परिमाण से उत्पन्न होनेवाला बुद्धि का व्यापार-धर्म या विकार कहते हैं। बुद्धि के इस धर्म का नाम 'भाव' है। सत्त्व-रज-तम गुणों के तारतम्य से ये 'भाव' कई प्रकार के हो जाते हैं। जिस प्रकार फूल में सुगंध तथा कपड़े में रंग लिपटा रहता है, उसी प्रकार लिंगशरीर में ये भाव भी लिपटे रहते हैं। (सां. का. ४०)। इन भावों के अनुसार, अथवा वेदान्त-परिभाषा से कर्म के अनुसार, लिंगशरीर नये नये जन्म लिया करता है; और जन्म लेते समय, माता-पिताओं के शरीरों में से जिन द्रव्यों को वह आकर्षित किया करता है, उन द्रव्यों में भी दूसरे भाव आ जाया करते हैं। 'देवयोनि, मनुष्ययोनि, पशुयोनि तथा वृक्षयोनि' ये सब भेद इन भावों की समुच्चयता के ही परिणाम हैं। (सां. का. ४३ – ५५)। इन सब भावों में सात्त्विक गुण का उत्कर्ष होने से जब मनुष्य को ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति होती है, और उसके कारण प्रकृति और पुरुष की भिन्नता समझ में आने लगती है, तब मनुष्य अपने मूलस्वरूप अर्थात् कैवल्यपद को पहुँच जाता है; और तब तक लिंगशरीर छूट जाता है। एवं मनुष्य के दुःखों का पूर्णतया निवारण हो जाता है। परन्तु प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान न होते हुए, यदि केवल सात्त्विक गुण ही का उत्कर्ष हो, तो लिंगशरीर देवयोनि में अर्थात् स्वर्ग में जन्म लेता है; रजोगुण की प्रबलता हो, तो मनुष्ययोनि में अर्थात् पृथ्वी पर पैदा होता है; और तमोगुण की अधिकता हो जाने से उसे

तिर्यग्योनि में प्रवेश करना पड़ता है (गी. १४. १८)। 'गुणा गुणेषु जायन्ते' इस तत्त्व के ही आधार पर सांख्यशास्त्र में वर्णन किया गया है, कि मानवयोनि में जन्म होने के बाद रेत-बिन्दु से क्रमानुसार कलल, बुद्बुद, मांस, पेशी और भिन्न भिन्न स्थूल इन्द्रियाँ कैसे बनती जाती हैं (सां. का. ४३; म. भा. शां. ३२०)। गर्भोपनिषद् का वर्णन प्रायः सांख्यशास्त्र के उक्त वर्णन के समान ही है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात मालूम हो जायगी, कि सांख्यशास्त्र में 'भाव' शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ बतलाया गया है, वह यद्यपि वेदान्तग्रन्थों में विवक्षित नहीं है, तथापि भगवद्गीता में (१०. ४, ५; ७. १२) 'बुद्धिर्ज्ञानम-संमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः' इत्यादि गुणों को (इसके आगे के श्लोक में) जो 'भाव' नाम दिया है, वह प्रायः सांख्यशास्त्र की परिभाषा को सोच कर ही दिया गया होगा।

इस प्रकार सांख्यशास्त्र के अनुसार मूल-अव्यक्त-प्रकृति से अथवा वेदान्त के अनुसार मूल सद्रूपी परब्रह्म से सृष्टि के सब सजीव और निर्जीव व्यक्त पदार्थ क्रमशः उत्पन्न हुए। और जब सृष्टि के संहार का समय आ पहुँचता है; तब सृष्टि-रचना का जो गुणपरिणामक्रम ऊपर बतलाया गया है, ठीक इसके विरुद्ध क्रम से सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृति में अथवा मूल ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। यह सिद्धान्त सांख्य और वेदान्त दोनों शास्त्रों को मान्य है (वे. सू. २. ३. १४; म. भा. शा. २६२)। उदाहरणार्थ, पंचमहाभूतों में से पृथ्वी का लय पानी में, पानी का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का तन्मा-त्राओं में, तन्मात्राओं का अहंकार में, अहंकार का बुद्धि में, और बुद्धि या महान् का लय प्रकृति में हो जाता है; तथा वेदान्त के अनुसार प्रकृति का लय मूल ब्रह्म में हो जाता है। सांख्यकारिका में किसी स्थान पर यह नहीं बतलाया गया है, कि सृष्टि की उत्पत्ति या रचना हो जाने पर उसका लय तथा संहार होने तक बीच में कितना समय लग जाता है। तथापि, ऐसा प्रतीत होता है, कि मनुसंहिता (१. ६६–७३), भगवद्गीता (८. १७) तथा महाभारत (शां. २३१) में वर्णित कालगणना सांख्यों को भी मान्य है। हमारा उत्तरायण देवताओं का दिन है और हमारा दक्षिणायन उनकी रात है। क्योंकि, स्मृतिग्रन्थों में और ज्योतिषशास्त्र की संहिता (सूर्यसिद्धान्त १. १३; १२. ३५, ६७) में भी यही वर्णन है, कि देवता मेरुपर्वत पर अर्थात् उत्तरध्रुव में रहते हैं। अर्थात् दो अयनों का हमारा एक वर्ष देवताओं के एक दिनरात के बराबर है; और हमारे ३६० वर्ष देवताओं के ३६० दिनरात अथवा एक वर्ष के बराबर हैं। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि हमारे चार युग हैं। युगों की कालगणना इस प्रकार है – कृतयुग में चार हज़ार वर्ष, त्रेतायुग में तीन हज़ार, द्वापर में दो हज़ार और कलि में एक हज़ार वर्ष। परन्तु एक युग समाप्त होते ही दूसरा युग एकदम आरम्भ नहीं हो

जाता। बीच में दो युगों के संधिकाल में कुछ वर्ष बीत जाते हैं। इस प्रकार कृतयुग आदि और अन्त में से प्रत्येक ओर चार सौ वर्ष का, त्रेतायुग के आगे और पीछे प्रत्येक ओर तीन सौ वर्ष का, द्वापर के पहले और बाद प्रत्येक ओर दो सौ वर्ष का, कलियुग के पूर्व तथा अनन्तर प्रत्येक ओर सौ वर्ष का सन्धिकाल होता है। सब मिला कर चारों युगों का आदि-अन्त-सहित सन्धिकाल दो हजार वर्ष का होता है। ये दो हजार वर्ष और पहले बतलाये हुए सांख्यमतानुसार चारों युगों के दस हजार वर्ष मिला कर कुल बारह हज़ार वर्ष होते हैं। ये बारह हज़ार वर्ष मनुष्यों के है या देवताओं के? यदि मनुष्यों के माने जायँ, तो कलियुग का आरम्भ हुए पाँच हजार वर्ष बीत चुकने के कारण यह कहना पड़ेगा, कि हज़ार मानवी वर्षों का कलियुग पूरा हो चुका। उसके बाद फिर से आनेवाला कृतयुग भी समाप्त हो गया; और हमने अब त्रेतायुग में प्रवेश किया है! यह विरोध मिटाने के लिये पुराणों में निश्चित किया है, कि ये बारह हज़ार वर्ष देवताओं के हैं। देवताओं के बारह हज़ार वर्ष, मनुष्यों के ३६०×१२०००=४३२०,००० (तेतालीस लाख बीस हजार) वर्ष होते हैं। वर्तमान पंचांगों का युग-परिमाण इसी पद्धति से निश्चित किया जाता है। (देवताओं के) बारह हज़ार वर्ष मिल कर मनुष्यों का एक महायुग या देवताओं का युग होता है। देवताओं के इकहत्तर युगों को मन्वन्तर कहते हैं; और ऐसे मन्वन्तर चौदह हैं। परन्तु पहले मन्वन्तर के आरम्भ तथा अन्त में, और आगे चलकर प्रत्येक मन्वन्तर के आखिर में दोनों ओर कृतयुग की बराबरी के एक एक ऐसे १५ सन्धिकाल होते हैं। ये पंद्रह संधिकाल और चौदह मन्वन्तर मिल कर देवताओं के एक हजार युग अथवा ब्रह्मदेव का एक दिन होता है (सूर्यसिद्धान्त १. १५–२०); और मनुस्मृति तथा महाभारत में लिखा है, कि ऐसे ही हज़ार युग मिल कर ब्रह्मदेव की रात होती है (मनु. १. ६९–७३ और ७६; म. भा. शां. २३१. १७–३१ और यास्क का निरुक्त १४. ९ देखो)। इस गणना के अनुसार ब्रह्मदेव का एक दिन मनुष्यों के चार अब्ज बत्तीस करोड़ वर्ष के बराबर होता है; और इसी का नाम है कल्प।* भगवद्गीता (८. १८ और ९. ७) में कहा है, कि जब ब्रह्मदेव के इस दिन अर्थात् कल्प का आरम्भ होता है तब :–

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

"अव्यक्त से सृष्टि के सब पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं; और जब ब्रह्मदेव की रात्रि

* ज्योतिःशास्त्र के आधार पर युगादिगणना का विचार स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' नामक (मराठी) ग्रंथ में किया है, पृ. १०३–१०५; १९३ इ. देखो।

आरम्भ होती है, तब सब व्यक्त पदार्थ पुनश्च अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।" स्मृतिग्रन्थ और महाभारत में भी यही बतलाया है। इसके अतिरिक्त पुराणों में अन्य प्रलयों का भी वर्णन है; परन्तु इन प्रलयों में सूर्य-चन्द्र आदि सारी सृष्टि का नाश नहीं हो जाता; इसलिये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और संहार का विवेचन करते समय इनका विचार नहीं किया जाता। कल्प ब्रह्मदेव का एक दिन अथवा रात्रि है; और ऐसे ३६० दिन तथा ३६० रात्रियाँ मिल कर ब्रह्मदेव का एक वर्ष होता है। इसी से पुराणादिकों (विष्णुपुराण १. ३) में यह वर्णन पाया जाता है, कि ब्रह्मदेव की आयु उनके सौ वर्ष की है। उसमें से आधी बीत गई। शेष आयु के अर्थात् इक्यावनवे वर्ष के पहले दिन का अथवा श्वेतवाराह नामक कल्प का अब आरम्भ हुआ है; और इस कल्प के चौदह मन्वन्तरों में से छः मन्वन्तर बीत चुके, तथा सातवें (अर्थात् वैवस्वत) मन्वन्तर के ७१ महायुगों में से २७ महायुग पूरे हो गये। एवं अब २८ वें महायुग के कलियुग का प्रथम चरण अर्थात् चतुर्थ भाग जारी है। संवत् १९५६ (शक १८२१) में इस कलियुग के ठीक ५००० वर्ष बीत चुके। इस प्रकार गणित करने से मालूम होगा, कि इस कलियुग का प्रलय होने के लिये संवत् १९५६ में मनुष्य के ३ लाख ९१ हज़ार वर्ष शेष थे; फिर वर्तमान मन्वन्तर के अन्त में अथवा वर्तमान कल्प के अन्त में होनेवाले महाप्रलय की बात ही क्या! मानवी चार अब्ज बत्तीस करोड़ वर्ष का जो ब्रह्मदेव का दिन इस समय जारी है, उसका पूरा मध्याह्न भी नहीं हुआ। अर्थात् सात मन्वन्तर भी अब तक नहीं बीते हैं।

सृष्टि की रचना और संहार का जो अब तक विवेचन किया गया, वह वेदान्त के – और परब्रह्म को छोड़ देने से सांख्यशास्त्र के तत्त्वज्ञान के आधार पर किया गया है। इसलिये सृष्टि के उत्पत्तिक्रम की इसी परम्परा को हमारे शास्त्रकार सदैव प्रमाण मानते हैं; और यही क्रम भगवद्गीता में भी दिया हुआ है। इस प्रकरण के आरम्भ ही में बतला दिया गया है, कि सृष्ट्युत्पत्तिक्रम के बारे में कुछ भिन्न भिन्न विचार पाये जाते हैं। जैसे श्रुतिस्मृतिपुराणों में कहीं कहीं कहा है, कि प्रथम ब्रह्मदेव या हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ; अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ और उसमें परमेश्वर के बीज से एक सुवर्णमय अण्डा निर्मित हुआ। परन्तु इन सब विचारों को गौण तथा उपलक्षणात्मक समझ कर जब उनकी उपपत्ति बतलाने का समय आता है तब यही कहा जाता है, कि हिरण्यगर्भ अथवा ब्रह्मदेव ही प्रकृति है। भगवद्गीता (१४. ३) में त्रिगुणात्मक प्रकृति ही को ब्रह्म कहा है – 'मम योनिर्महत् ब्रह्म।' और भगवान् ने यह भी कहा है, कि हमारे बीज से इस प्रकृति में त्रिगुणों के द्वारा अनेक मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं। अन्य स्थानों में ऐसा वर्णन है, कि ब्रह्मदेव से आरम्भ में दक्षप्रभृति सात मानसपुत्र अथवा मनु उत्पन्न हुए; और उन्होंने आगे सब चर-अचर सृष्टि को निर्माण किया (म. भा. आ. ६५–६७; म. भा.

शां. २०. ७; मनु. १. ३४–६३); और इसी का गीता में भी एक बार उल्लेख किया गया है (गी. १०. ६)। परन्तु वेदान्तग्रन्थ यह प्रतिपादन करते हैं, कि इन सब भिन्न भिन्न वर्णनों में ब्रह्मदेव को ही प्रकृति मान लेने से उपर्युक्त तात्त्विक सृष्ट्युत्पत्तिक्रम से मेल हो जाता है; और यही न्याय अन्य स्थानों में भी उपयोगी हो सकता है। उदाहरणार्थ, शैव तथा पाशुपत दर्शनों में शिव को निमित्तकारण मान कर यह कहते हैं, कि उसी से कार्यकारणादि पाँच पदार्थ उत्पन्न हुए। और नारायणीय या भागवतधर्म में वासुदेव को प्रधान मान कर यह वह वर्णन किया है, कि पहले वासुदेव से संकर्षण (जीव) हुआ, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन), और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) उत्पन्न हुआ। परन्तु वेदान्तशास्त्र के अनुसार जीव प्रत्येक समय नये सिरे से उत्पन्न नहीं होता। वह नित्य और सनातन परमेश्वर का नित्य – अतएव अनादि – अंश है। इसलिये वेदान्तसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद (वे. सू. २. २. ४२–४५) में, भागवतधर्म में वर्णित जीव के उत्पत्तिविषयक उपर्युक्त मत का खंडन करके कहा है, कि वह मत वेदविरुद्ध अतएव त्याज्य है। गीता (१३. ४; १५. ७) में वेदान्तसूत्रों के इसी सिद्धान्त का अनुवाद किया गया है। इसी प्रकार, सांख्यवादी प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं; परन्तु इस द्वैत को स्वीकार न कर वेदान्तियों ने यह सिद्धान्त किया है, कि प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व एक ही नित्य और निर्गुण परमात्मा की विभूतियाँ हैं। यही सिद्धान्त भगवद्गीता को भी ग्राह्य है (गी. ९. १०)। परन्तु इस का विस्तारपूर्वक विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही बतलाया है, कि भागवत या नारायणीय धर्म में वर्णित वासुदेव-भक्ति का और प्रकृतिप्रधान धर्म का तत्त्व यद्यपि भगवद्गीता को मान्य है, तथापि गीता भागवतधर्म की इस कल्पना से सहमत नहीं है, कि पहले वासुदेव से संकर्षण या जीव उत्पन्न हुआ; और उससे आगे प्रद्युम्न (मन) तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) का प्रादुर्भाव हुआ। संकर्षण, प्रद्युम्न या अनिरुद्ध का नाम तक गीता में नहीं पाया जाता। पाञ्चरात्र में बतलाये हुए भागवतधर्म में तथा गीता-प्रतिपादित भागवतधर्म में यही तो महत्त्व का भेद है। इस बात का उल्लेख यहाँ जान-बूझ कर किया गया है। क्योंकि केवल इतने ही से – कि 'भगवद्गीता में भागवतधर्म बतलाया गया है' – कोई यह न समझ लें, कि सृष्ट्युत्पत्तिक्रमविषयक अथवा जीवपरमेश्वरस्वरूपविषयक भागवत आदि भक्तिसम्प्रदाय के मत भी गीता को मान्य हैं। अब इस बात का विचार किया जायगा, कि सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति और पुरुष के भी परे सब व्यक्ताव्यक्त तथा क्षराक्षर जगत् के मूल में कोई दूसरा तत्त्व है या नहीं। इसी को अध्यात्म या वेदान्त कहते हैं।

नौवाँ प्रकरण

अध्यात्म

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ *

— गीता ८. २०

पिछले दो प्रकरणों का सारांश यही है, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार में जिसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, उसी को सांख्यशास्त्र में पुरुष कहते हैं। सब क्षर-अक्षर या चर-अचर सृष्टि के संहार और उत्पत्ति का विचार करने पर सांख्यमत के अनुसार अन्त में केवल प्रकृति और पुरुष ये ही दो स्वतन्त्र तथा अनादि मूलतत्त्व रह जाते हैं; और पुरुष को अपने क्लेशों की निवृत्ति कर लेने तथा मोक्षानन्द प्राप्त कर लेने के लिये प्रकृति से अपना भिन्नत्व अर्थात् कैवल्य जान कर त्रिगुणातीत होना चाहिये। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर प्रकृति अपना खेल पुरुष के सामने किस प्रकार खेला करती है, इस विषय का क्रम अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रवेत्ताओं ने सांख्यशास्त्र से कुछ निराला बतलाया है; और सम्भव है, कि आगे आधिभौतिक शास्त्रों की ज्यों ज्यों उन्नति होगी, त्यों त्यों इस क्रम में और भी सुधार होते जावेंगे। जो हो; इस मूलसिद्धान्त में कभी कोई फ़र्क नहीं पड़ सकता, कि केवल एक अव्यक्त प्रकृति से ही सारे व्यक्त पदार्थ गुणोत्कर्ष के अनुसार क्रम क्रम से निर्मित होते गये हैं। परन्तु वेदान्तकेसरी इस विषय को अपना नहीं समझता — यह अन्य शास्त्रों का विषय है; इसलिये वह इस विषय पर वादविवाद भी नहीं करता। वह इन सब शास्त्रों से आगे बढ़ कर यह बतलाने के लिये प्रवृत्त हुआ है, कि पिण्ड-ब्रह्माण्ड की भी जड़ में कौन-सा श्रेष्ठ तत्त्व है; और मनुष्य उस श्रेष्ठ तत्त्व में कैसे मिला जा सकता है — अर्थात् तद्रूप कैसे हो सकता है। वेदान्त-केसरी अपने इस विषयप्रवेश में और किसी शास्त्र की गर्जना नहीं होने देता। सिंह के आगे गीदड़ भाँति वेदान्त के सामने सारे शास्त्र चुप हो जाते हैं। अत-एव किसी पुराने सुभाषितकार ने वेदान्त का यथार्थ वर्णन यों किया है :—

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जंबुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिः यावद्वेदान्तकेसरी॥

सांख्यशास्त्र का कथन है, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार करने पर निष्पन्न होने-

* "जो दूसरा अव्यक्त पदार्थ (सांख्य) अव्यक्त से भी श्रेष्ठ तथा सनातन है; और प्राणियों का नाश हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता, वही अंतिम गति है।"

वाला 'द्रष्टा' अर्थात् पुरुष या आत्मा, और क्षर-अक्षर-सृष्टि का विचार करने पर निष्पन्न होनेवाली सत्त्व-रज-तम-गुणमयी अव्यक्त प्रकृति, ये दोनों स्वतंत्र हैं; और इस प्रकार जगत् के मूलतत्त्व को द्विधा मानना आवश्यक है। परन्तु वेदान्त इसके आगे जा कर यों कहता है, कि सांख्य के 'पुरुष' निर्गुण भले ही हों; तो भी वे असंख्य हैं। इसलिये वह मान लेना उचित नहीं, कि इन असंख्य पुरुषों का लाभ जिस बात में हो, उसे जान कर प्रत्येक पुरुष के साथ तदनुसार बर्ताव करने का सामर्थ्य प्रकृति में है। ऐसा मानने की अपेक्षा सात्त्विक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तो यही अधिक युक्तिसंगत होगा, कि उस एकीकरण की ज्ञान-क्रिया का अन्त तक निरपवाद उपयोग किया जावे; और प्रकृति तथा असंख्य पुरुषों का एक ही परम-तत्त्व में अविभक्तरूप से समावेश किया जावे; जो 'अविभक्तं विभक्तेषु' के अनुसार नीचे से ऊपर तक की श्रेणियों में दीख पड़ती है; और जिसकी सहायता से ही सृष्टि के अनेक व्यक्त पदार्थों का एक अव्यक्त प्रकृति में समावेश किया जाता है (गी. १८. २०–२२)। भिन्नता का भास होना अहंकार का परिणाम है; और पुरुष यदि निर्गुण है, तो असंख्य पुरुषों के अलग अलग रहने का गुण उसमें रह नहीं सकता। अथवा यह कहना पड़ता है, कि वस्तुतः पुरुष असंख्य नहीं है। केवल प्रकृति की अहंकारगुणरूपी उपाधि से उनमें अनेकता दीख पड़ती है। दूसरा एक प्रश्न यह उठता है, कि स्वतंत्र प्रकृति का स्वतंत्र पुरुष के साथ जो संयोग हुआ है, वह सत्य है या मिथ्या? यदि सत्य मानें, तो वह संयोग कभी भी छूट नहीं सकता। अतएव सांख्यमतानुसार आत्मा को मुक्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती। यदि मिथ्या मानें, तो यह सिद्धान्त ही निर्मूल या निराधार हो जाता है, कि पुरुष के संयोग से प्रकृति अपना खेल उसके आगे खेला करती है। और यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं, कि जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिये दूध देती है, उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिये प्रकृति सदा कार्यतत्पर रहती है। क्योंकि, बछड़ा गाय के पेट से ही पैदा होता है। इसलिये उस पर पुत्रवात्सल्य के प्रेम का उदाहरण जैसा संगठित होता है, वैसा प्रकृति और पुरुष के विषय में नहीं कहा जा सकता (वे. सू. शां. भा. २. २. ३)। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व अत्यंत भिन्न हैं – एक जड है, दूसरा सचेतन। अच्छा; जब ये दोनों पदार्थ सृष्टि के उत्पत्तिकाल से ही एक दूसरे से अत्यंत भिन्न और स्वतन्त्र हैं, तो फिर एक की प्रवृत्ति दूसरे के फायदे ही के लिये क्यों होनी चाहिये? यह तो कोई समाधानकारक उत्तर नहीं, कि उनका स्वभाव ही वैसा है। स्वभाव ही मानना हो, तो फिर हेकेल का जडाद्वैत-वाद क्यों बुरा है? हेकेल का भी सिद्धान्त यही है न, कि मूलप्रकृति के गुणों की वृद्धि होते होते उसी प्रकृति में अपने आप को देखने की और स्वयं अपने विषय में विचार करने की चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है – अर्थात् यह प्रकृति का

स्वभाव ही है। परन्तु इस मत को स्वीकार न कर सांख्यशास्त्र ने यह भेद किया है, कि 'द्रष्टा' अलग है; और दृश्यसृष्टि अलग है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि सांख्यवादी जिस न्याय का अवलम्बन कर 'द्रष्टा पुरुष' और 'दृश्य सृष्टि' में भेद बतलाते हैं, उसी न्याय का उपयोग करते हुए और आगे क्यों न चलें? दृश्य सृष्टि की कोई कितनी ही सूक्ष्मता से परीक्षा करें; और यह जान लें, कि जिन नेत्रों से हम पदार्थों को देखते-परखते हैं, उनके मज्जातंतुओं में अमुक अमुक गुण-धर्म हैं। तथापि इन सब बातों को जाननेवाला या 'द्रष्टा' भिन्न रह ही जाता है। क्या इस 'द्रष्टा' के विषय में – जो 'दृश्य सृष्टि' भिन्न है – विचार करने के लिये कोई साधन या उपाय नहीं है? और यह जानने के लिये भी कोई मार्ग है या नहीं, कि इस दृश्य सृष्टि का सच्चा स्वरूप जैसा हम अपनी इन्द्रियों से देखते हैं वैसा ही है; या उससे भिन्न है? सांख्यवादी कहते हैं, कि इन प्रश्नों का निर्णय होना असम्भव है। अतएव यह मान लेना पड़ता है, कि प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व मूल ही में स्वतंत्र और भिन्न हैं। यदि केवल आधिभौतिक शास्त्रों की प्रणाली से विचार कर देखें, तो सांख्यवादियों का मत अनुचित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है, कि सृष्टि के अन्य पदार्थों को जैसे हम अपनी इन्द्रियों से देखभाल कर उनके गुणधर्मों का विचार करते हैं, वैसे यह 'द्रष्टा पुरुष' या देखनेवाला–अर्थात् जिसे वेदान्त में 'आत्मा' कहा है, वह–द्रष्टाकी (अर्थात् अपनी ही) इन्द्रियों को भिन्न रूप में कभी गोचर नहीं हो सकता। और जिस पदार्थ का इस प्रकार इन्द्रियगोचर होना असम्भव है, यानी जो वस्तु इन्द्रियातीत है, उसकी परीक्षा मानवी इन्द्रियों से कैसे हो सकती है? उस आत्मा का वर्णन भगवान् ने गीता (२. २३) में इस प्रकार किया है :–

> **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**
> **न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥**

अर्थात्, आत्मा ऐसा कोई पदार्थ नहीं, कि यदि हम सृष्टि के अन्य पदार्थों के समान उस पर तेजाब आदि द्रव पदार्थ डालें तो उसका द्रवरूप हो जाय; अथवा प्रयोगशाला के पैने शस्त्रों से काट-छाँट कर उसका आन्तरिक स्वरूप देख लें, या आग पर धर देने से उसका धुआँ हो जाय, अथवा हवा में रखने से वह सूख जाय! सारांश, सृष्टि के पदार्थों की परीक्षा करने के आधिभौतिक शास्त्रवेत्ताओं ने जितने कुछ उपाय ढूँढ़े हैं, वे सब यहाँ निष्फल हो जाते हैं। तब सहज ही प्रश्न उठता है, कि फिर 'आत्मा' की परीक्षा हो कैसे? प्रश्न है तो बिकट; पर विचार करने से कुछ कठिनाई दीख नहीं पड़ती। भला, सांख्यवादियों ने भी 'पुरुष' को निर्गुण और स्वतंत्र कैसे जाना? केवल अपने अंतःकरण के अनुभव से ही तो जाना है न? फिर उसी रीति का उपयोग प्रकृति और पुरुष के सच्चे स्वरूप का निर्णय

करने के लिये क्यों न किया जावें ? आधिभौतिकशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में जो बड़ा भारी भेद है, वह यही है। आधिभौतिकशास्त्रों के विषय इंद्रियगोचर होते हैं; और अध्यात्मशास्त्र का विषय इन्द्रियातीत अर्थात् केवल स्वसंवेद्य है; यानी अपने आप ही जानने योग्य है। कोई यह कहें, कि यदि 'आत्मा' स्वसंवेद्य है, तो प्रत्येक मनुष्य को उसके विषय में जैसा ज्ञान होवे, वैसा होने दो; फिर अध्यात्मशास्त्र की आवश्यकता ही क्या है ? हाँ; यदि प्रत्येक मनुष्य का मत या अन्तःकरण समान रूप से शुद्ध हो, तो फिर यह प्रश्न ठीक होगा। परन्तु जब कि अपना यह प्रत्यक्ष अनुभव है, कि सब लोगों के मन या अन्तःकरण की शुद्धि और शक्ति एक-सी नहीं होती, तब जिन लोगों के मन अत्यंत शुद्ध, पवित्र और विशाल हो गये हैं, उन्हीं की प्रतीति इस विषय में हमारे लिये प्रमाणभूत होनी चाहिये। यों ही 'मुझे ऐसा मालूम होता है' और 'तुझे ऐसा मालूम होता है' कह कर निरर्थक वाद करने से कोई लाभ न होगा। वेदान्तशास्त्र तुम्हें युक्तियों का उपयोग करने से बिलकुल नहीं रोकता। वह सिर्फ़ यही कहता है, कि इस विषय में निरी युक्तियाँ वहीं तक मानी जावेंगी, जहाँ तक कि इस युक्तियों से अत्यंत विशाल, पवित्र और निर्मल अन्तःकरणवाले महात्माओं के विषयसम्बन्धी साक्षात् अनुभव का विरोध न होता हो। क्योंकि अध्यात्मशास्त्र का विषय स्वसंवेद्य है – अर्थात् केवल आधिभौतिक युक्तियों से उसका निर्णय नहीं हो सकता। जिस प्रकार आधिभौतिकशास्त्रों में वे अनुभव त्याज्य माने जाते हैं, कि जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध हों, उसी प्रकार वेदान्तशास्त्र में युक्तियों की अपेक्षा उपर्युक्त स्वानुभव की (अर्थात् आत्मप्रतीति की योग्यता ही अधिक मानी जाती है। जो युक्ति इस अनुभव के अनुकूल हो, उसे वेदान्ती अवश्य मानते हैं। श्रीमान् शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रों के भाष्य में यही सिद्धान्त दिया है। अध्यात्मशास्त्र का अभ्यास करनेवालों को इस पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये –

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

"जो पदार्थ इन्द्रियातीत हैं और इसी लिये जिनका चिन्तन नहीं किया जा सकता, उनका निर्णय केवल तर्क या अनुमान से नहीं कर लेना चाहिये। सारी सृष्टि की मूलप्रकृति से भी परे जो पदार्थ है, वह इस प्रकार अचिंत्य है" – यह एक पुराना श्लोक है, जो महाभारत (भीष्म. ५. १२) में पाया जाता है; और जो श्रीशंकराचार्य के वेदान्तभाष्य में भी 'साधयेत्' के पाठभेद से पाया जाता है (वे. सू. शां. भा. २. १. २७)। मुंडक और कठोपनिषद् में भी लिखा है, कि आत्मज्ञान केवल तर्क ही से नहीं प्राप्त हो सकता (मुं. ३. २, ३; कठ. २. ८, ६ और २२)। अध्यात्मशास्त्र में उपनिषद्-ग्रन्थों का विशेष महत्त्व भी

इसी लिये है। मन को एकाग्र करने के उपायों के विषय में प्राचीन काल में हमारे हिंदुस्थान में बहुत चर्चा हो चुकी है; और अन्त में इस विषय पर (पातञ्जल) योगशास्त्र नामक एक स्वतंत्र शास्त्र ही निर्मित हो गया है। जो बडे बडे ऋषि इस योगशास्त्र में अत्यंत प्रवीण थे, तथा जिनके मन स्वभाव ही से अत्यंत पवित्र और विशाल थे, उन महात्माओं ने मन को अंतर्मुख करके आत्मा के स्वरूप और विषय में जो अनुभव प्राप्त किया – अथवा आत्मा के स्वरूप के विषय में उनकी शुद्ध और शान्त बुद्धि में जो स्फूर्ति हुई – उसी का वर्णन उन्होंने उपनिषद्-ग्रन्थों में किया है। इसलिये किसी भी अध्यात्म-तत्त्व का निर्णय करने में, इस श्रुतिग्रन्थों में कहे गये अनुभविक ज्ञान का सहारा लेने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है (कठ. ४. १)। मनुष्य केवल अपनी बुद्धि की तीव्रता से उक्त आत्मप्रतीति की पोषक भिन्न भिन्न युक्तियाँ बतला सकेगा; परन्तु इससे उस मूल प्रतीति की प्रामाणिकता में रत्ती भर भी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती भगवद्गीता की गणना स्मृतिग्रन्थों में की जाती है सही; परन्तु पहले प्रकरण के आरम्भ ही में हम कह चुके हैं, कि इस विषय में गीता की योग्यता उपनिषदों की बराबरी की मानी जाती है। अतएव इस प्रकरण में अब आगे चल कर सिर्फ़ यह बतलाया जायगा, कि प्रकृति के परे जो अचिंत्य पदार्थ है, उसके विषय में गीता और उपनिषदों में कौन कौन-से सिद्धान्त किये गये हैं; और उनके कारणों का (अर्थात् शास्त्ररीति से उनकी उपपत्ति का) विचार पीछे किया जायगा।

सांख्यवादियों का द्वैत – प्रकृति और पुरुष – भगवद्गीता को मान्य नहीं है। भगवद्गीता के अध्यात्मज्ञान का और वेदान्तशास्त्र का भी पहला सिद्धान्त यह है, कि प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व है, जो चर-अचर सृष्टि का मूल है। सांख्यों की प्रकृति यद्यपि अव्यक्त है, तथापि वह त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण है। परन्तु प्रकृति और पुरुष का विचार करते समय भगवद्गीता के आठवें अध्याय के बीसवें श्लोक में (इस प्रकरण के आरम्भ में ही यह श्लोक दिया गया है) कहा है, कि सगुण है वह नाशवान् है; इसलिये इस अव्यक्त और सगुण प्रकृति का भी नाश हो जाने पर अन्त में जो कुछ अव्यक्त शेष रह जाता है, वही सारी सृष्टि का सच्चा और नित्य तत्त्व है। और आगे पन्द्रहवें अध्याय (१५. १७) में क्षर और अक्षर – व्यक्त और अव्यक्त – इस भाँति सांख्यशास्त्र के अनुसार दो तत्त्व बतला कर यह वर्णन किया है :–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अर्थात्, जो इन दोनों से भी भिन्न है, वही उत्तम पुरुष है; उसी को परमात्मा कहते हैं; वही अव्यय और सर्वशक्तिमान् है; और वही तीनों लोगों में व्याप्त हो

कर उनकी रक्षा करता है। यह पुरुष क्षर और अक्षर (अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त) इन दोनों से भी परे है। इसलिये इसे 'पुरुषोत्तम' कहा है (गी. १५. १८)। महाभारत में भी भृगु ऋषि ने भरद्वाज से 'परमात्मा' शब्द की व्याख्या बतलाते हुए कहा है :-

> आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
> तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥

अर्थात् " जब आत्मा प्रकृति में या शरीर में बद्ध रहता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा कहते हैं; और वही प्राकृत गुणों से यानी प्रकृति या शरीर के गुणों से मुक्त होने पर 'परमात्मा' कहलाता है " (म. भा. शां. १८७. २४)। सम्भव है, कि 'परमात्मा' की उपर्युक्त दो व्याख्याएँ भिन्न भिन्न जान पड़ें; परन्तु वस्तुतः वे भिन्न भिन्न नहीं हैं। क्षर-अक्षर-सृष्टि और जीव (अथवा सांख्यशास्त्र के अनुसार अव्यक्त प्रकृति और पुरुष) इन दोनों से भी परे एक ही परमात्मा है। इसलिये भी कहा जाता है, कि वह क्षर-अक्षर के परे है; और कभी कहा जाता है, कि वह जीव के या जीवात्मा के (पुरुष के) परे है – एवं एक ही परमात्मा की ऐसी द्विविध व्याख्याएँ कहने में वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं हो जाती। इसी अभिप्राय को मन में रख कर कालिदास ने भी कुमारसम्भव में परमेश्वर का वर्णन इस प्रकार किया है – " पुरुष के लाभ के लिये उद्युक्त होनेवाली प्रकृति भी तू ही है; और स्वयं उदासीन रह कर उस प्रकृति का द्रष्टा भी तू ही है " (कुमा. २. १३)। इसी भाँति गीता में भगवान् कहते हैं, कि ' मम योनिर्महद्ब्रह्म ' – यह प्रकृति मेरी योनि या मेरा एक स्वरूप है (१४. ३) और जीव या आत्मा भी मेरा ही अंश है (१५. ७)। सातवें अध्याय में भी कहा गया है –

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अर्थात् ' पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार – इस तरह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है; और इसके सिवा (अपरेयमितस्त्वन्यां) सारे संसार का धारण जिसने किया है, वह जीव भी मेरी ही दूसरी प्रकृति है ' (गी. ७. ४, ५)। महाभारत के शान्तिपर्व में सांख्यों के पच्चीस तत्त्वों का कई स्थलों पर विवेचन है; परन्तु वहीं यह भी कह दिया गया है, कि पच्चीस तत्त्वों के परे एक छब्बीसवाँ (षड्विंश) परमतत्त्व है; जिसे पहचाने बिना मनुष्य 'बुद्ध' नहीं हो सकता (शां. ३०८)। सृष्टि के पदार्थों का जो ज्ञान हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों से होता है, वही हमारी सारी सृष्टि है। अतएव प्रकृति या सृष्टि ही को कई स्थानों पर 'ज्ञान' कहा है; और इसी दृष्टि से पुरुष 'ज्ञाता' कहा जाता है (शां. ३०६. ३५–४१)। परन्तु जो सच्चा ज्ञेय है (गी. १३. १२), वह प्रकृति और पुरुष – ज्ञान

और ज्ञाता – से भी परे है। इसीलिये भगवद्गीता में उसे परमपुरुष कहा है। तीनों लोकों को व्याप्त कर उन्हें सदैव धारण करनेवाला जो यह परमपुरुष या परपुरुष है, उसे पहचानो। वह एक है, अव्यक्त है, नित्य है, अक्षर है। यह बात केवल भगवद्गीता ही नहीं, किन्तु वेदान्तशास्त्र के सारे ग्रन्थ एक स्वर से कह रहे हैं। सांख्यशास्त्र में 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दों या विशेषणों का प्रयोग प्रकृति के लिये किया जाता है। क्योंकि सांख्यों का सिद्धान्त है, कि प्रकृति की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और कोई भी मूलकारण इस जगत् का नहीं है (सां. का. ६१)। परन्तु यदि वेदान्त की दृष्टि से देखें, तो परब्रह्म ही एक अक्षर है। यानी उसका कभी नाश नहीं होता; और वही अव्यक्त है – अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं है। अतएव, इस भेद पर पाठक सदा ध्यान रखें, कि भगवद्गीता में 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्दों का प्रकृति से परे के परब्रह्मस्वरूप को दिखलाने के लिये भी किया गया है (गी. ८. २०; ११. ३७; १५. १६, १७)। जब इस प्रकार वेदान्त की दृष्टि का स्वीकार किया गया तब इसमें सन्देह नहीं, कि प्रकृति को 'अक्षर' कहना उचित नहीं है – चाहे वह प्रकृति अव्यक्त भले ही हो। सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के विषय में सांख्यों के सिद्धान्त गीता को भी मान्य हैं। इसलिये उनकी निश्चित परिभाषा में कुछ अदलबदल न कर, उन्हीं के शब्दों में क्षर-अक्षर या व्यक्त-अव्यक्त-सृष्टि का वर्णन गीता में किया गया है। परन्तु स्मरण रहे, कि इस वर्णन से प्रकृति और पुरुष के परे जो तीसरा उत्तम पुरुष है, उसके सर्वशक्तित्व में कुछ भी बाधा नहीं होने पाती। इसका परिणाम यह हुआ है, कि जहाँ भगवद्गीता में परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वहाँ सांख्य और वेदान्त के मतान्तर का सन्देह मिटाने के लिये (सांख्य) अव्यक्त के भी परे का अव्यक्त और (सांख्य) अक्षर से भी परे का अक्षर, इस प्रकार के शब्दों का उपयोग करना पड़ा है। उदाहरणार्थ, इस प्रकरण के आरम्भ में जो श्लोक दिया गया है, उसे देखो। सारांश, गीता पढ़ते समय इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये, कि 'अव्यक्त' और 'अक्षर' ये दोनों शब्द कभी सांख्यों की प्रकृति के लिये और कभी वेदान्तियों के परब्रह्म के लिये – अर्थात् दो भिन्न प्रकार से – गीता में प्रयुक्त हुए हैं। जगत् का मूल वेदान्त की दृष्टि से सांख्यों की अव्यक्त प्रकृति के भी परे दूसरा अव्यक्त तत्त्व है। जगत् के आदितत्त्व के विषय में सांख्य और वेदान्त में यह उपर्युक्त भेद है। आगे इस विषय का विवरण किया जायगा, कि इसी भेद से अध्यात्मशास्त्रप्रतिपादित मोक्षस्वरूप और सांख्यों के मोक्षस्वरूप में भी भेद कैसा हो गया।

सांख्यों के द्वैत – प्रकृति और पुरुष – को न मान कर जब यह मान लिया गया, कि इस जगत् की जड़ में परमेश्वररूपी अथवा पुरुषोत्तमरूपी एक तीसरा ही नित्य तत्त्व है; और प्रकृति तथा पुरुष दोनों उसकी विभूतियाँ हैं; तब सहज

ही यह प्रश्न होता है, कि उस तीसरे मूलभूत तत्त्व का स्वरूप क्या है; प्रकृति तथा पुरुष से इसका कौन-सा सम्बन्ध है ? प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर इसी त्रयी को अध्यात्मशास्त्र में क्रम से जगत्, जीव और परब्रह्म कहते हैं; और इन तीनों वस्तुओं के स्वरूप तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्णय करना ही वेदान्त-शास्त्र का प्रधान कार्य है। एवं उपनिषदों में भी यही चर्चा की गई है। परन्तु सब वेदान्तियों का मत उस त्रयी के विषय में एक नहीं है। कोई कहते हैं, कि ये तीनों पदार्थ आदि में एक ही हैं; और कोई यह मानते हैं, कि जीव और जगत् परमेश्वर से आदि ही में थोड़े या अत्यन्त भिन्न हैं। इसी से वेदान्तियों में अद्वैती, विशिष्टाद्वैती और द्वैती भेद उत्पन्न हो गये हैं। यह सिद्धान्त सब लोगों को एक-सा ग्राह्य है, कि जीव और जगत् के सारे व्यवहार परमेश्वर की इच्छा से होते हैं। परन्तु कुछ लोग तो मानते हैं, कि जीव, जगत् और परब्रह्म, इन तीनों का मूलस्वरूप आकाश के समान एक ही और अखण्डित है; तथा दूसरे वेदान्ती कहते हैं, कि जड और चैतन्य का एक होना सम्भव नहीं। अतएव अनार या दाड़िम के फल में यद्यपि अनेक दाने होते हैं, तो भी इससे जैसे फल की एकता नष्ट नहीं होती; वैसे ही जीव और जगत् यद्यपि परमेश्वर में भरे हुए हैं, तथापि ये मूल में उससे भिन्न हैं; और उपनिषदों में जब ऐसा वर्णन आता है, कि तीनों 'एक' हैं; तब उसका अर्थ 'दाड़िम के फल के समान एक' जानना चाहिये। जब जीव के स्वरूप के विषय में यह मतान्तर उपस्थित हो गया, तब भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक टीकाकार अपने अपने मत के अनुसार उपनिषदों और गीता के भी शब्दों की खींचातानी करने लगे। परिणाम इसका यह हुआ, कि गीता का यथार्थ स्वरूप – उसमें प्रतिपादित सच्चा कर्मयोग विषय – तो एक ओर रह गया; और अनेक साम्प्रदायिक टीकाकारों के मत में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही हो गया, कि गीताप्रतिपादित वेदान्त द्वैतमत का है या अद्वैतमत का ! अस्तु; इसके बारे में अधिक विचार करने के पहले यह देखना चाहिये, कि जगत् (प्रकृति), जीव (आत्मा अथवा पुरुष), और परब्रह्म (परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम) के परस्पर-सम्बन्ध के विषय में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही गीता में क्या कहते हैं। अब आगे चल कर पाठकों को यह भी विदित हो जायगा, कि इस विषय में गीता और उपनिषदों का एक ही मत है; और गीता में कहे गये सब विचार उपनिषदों में पहले ही आ चुके हैं।

प्रकृति और पुरुष के भी परे जो पुरुषोत्तम, परपुरुष, परमात्मा या परब्रह्म है, उसका वर्णन करते समय भगवद्गीता में पहले उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं; यथा, व्यक्त और अव्यक्त (आँखों से दिखनेवाला और आँखों से न दिखने-वाला)। अब इसमें सन्देह नहीं, कि व्यक्त स्वरूप अर्थात् इंद्रियगोचर रूप सगुण ही होना चाहिये। और अव्यक्त रूप यद्यपि इंद्रियों को अगोचर है, तो भी इतने

ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि वह निर्गुण ही हो। क्योंकि, यद्यपि वह हमारी आँखों से न दीख पड़े, तो भी उसमें सब प्रकार के गुण सूक्ष्म रूप से रह सकते हैं। इसलिये अव्यक्त के भी तीन भेद किये गये हैं; जैसे सगुण, सगुण-निर्गुण और निर्गुण। यहाँ 'गुण' शब्द में उन सब गुणों का समावेश किया गया है, कि जिनका ज्ञान मनुष्य को केवल उसकी बाह्येन्द्रियों से ही नहीं होता; किन्तु मन से भी होता है। परमेश्वर के मूर्तिमान् अवतार भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं साक्षात् अर्जुन के सामने खड़े हो कर उपदेश कर रहे थे। इसलिये गीता में जगह-जगह पर उन्हों ने अपने विषय में प्रथम पुरुष का निर्देश इस प्रकार किया है – जैसे, 'प्रकृति मेरा स्वरूप है' (९. ८), 'जीव मेरा अंश है' (१५. ७), 'सब भूतों का अंतर्यामी आत्मा मैं हूँ' (१०. २०), 'संसार में जितनी श्रीमान् या विभूतिमान् मूर्तियाँ हैं, वे सब मेरे अंश से उत्पन्न हुई हैं' (१०. ४१), 'मुझमें मन लगा कर मेरा भक्त हो' (९. ३४), 'तो तू मुझमें मिल जायगा', 'तू मेरा प्रिय भक्त है; इसलिये मैं तुझे यह प्रीतिपूर्वक बतलाता हूँ' (१८. ६५)। और जब अपने विश्वरूपदर्शन से अर्जुन को यह प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया, कि सारी चराचर सृष्टि मेरे व्यक्त रूप में ही साक्षात् भरी हुई है, तब भगवान् ने उसको यही उपदेश किया है, कि अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप की उपासना करना अधिक सहज है। 'इसलिये तू मुझ में ही अपना भक्तिभाव रख' (१२. ८); 'मैं ही ब्रह्म का, अव्यय मोक्ष का, शाश्वत धर्म का, और अनंत सुख का मूलस्थान हूँ' (गी. १४. ४७)। इससे विदित होगा, कि गीता में आदि से अन्त तक अधिकांश में परत्मामा के व्यक्त स्वरूप का ही वर्णन किया गया है।

इतने ही से केवल भक्ति के अभिमानी कुछ पंडितों और टीकाकारों ने यह मत प्रकट किया है, कि गीता में परमात्मा का व्यक्त रूप ही अंतिम साध्य माना गया है। परन्तु यह मत सच नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उक्त वर्णन के साथ ही भगवान् ने स्पष्ट रूप से कह दिया है, कि मेरा व्यक्त स्वरूप मायिक है; और उसके परे का जो अव्यक्त रूप – अर्थात् जो इन्द्रियों को अगोचर – है, वही मेरा सच्चा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, सातवे अध्याय (गी. ७. २४) में कहा है, कि –

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

"यद्यपि मैं अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर हूँ, तो भी मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते हैं; और व्यक्त से भी परे के मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूप को नहीं पहचानते।" और इसके अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं, कि "मैं अपनी योगमाया से आच्छादित हूँ; इसलिये मूर्ख लोग मुझे नहीं पहचानते" (७. २५)। फिर चौथे अध्याय में उन्होंने अपने व्यक्त रूप की उपपत्ति इस प्रकार बतलाई है, "मैं

यद्यपि जन्मरहित और अव्यय हूँ, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित हो कर मैं अपनी माया से (स्वात्ममाया से) जन्म लिया करता हूँ – अर्थात् व्यक्त हुआ करता हूँ " (४. ६)। वे आगे सातवे अध्याय में कहते हैं, " यह त्रिगुणात्मक प्रकृति मेरी दैवी माया है। इस माया को जो पार कर जाते हैं, वे मुझे पाते हैं; और इस माया से जिन का ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे मूढ नराधम मुझे नहीं पा सकते " (७. १५)। अन्त में अठारहवे (१८. ६१) अध्याय में भगवान् ने उपदेश किया है, " हे अर्जुन ! सब प्राणियों के हृदय में जीवरूप परमात्मा ही का निवास है; और वह अपनी माया से यंत्र की भाँति प्राणियों को घुमाता है। " भगवान् ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखाया है, वही नारद को भी दिखलाया था। इसका वर्णन महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत नारायणीय प्रकरण (शां. ३३९) में है; और हम पहले ही प्रकरण में बतला चुके हैं, कि नारायणीय यानी भागवत-धर्म ही गीता में प्रतिपादित किया गया है। नारद को हज़ारों नेत्रों, रंगों, तथा अन्य दृश्य गुणों का विश्वरूप दिखला कर भगवान् ने कहा :–

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ॥

" तुम मेरा जो रूप देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। इससे तुम यह न समझो, कि मैं सर्वभूतों के गुणों से युक्त हूँ। " और फिर यह भी कहा है, कि " मेरा सच्चा स्वरूप सर्वव्यापी, अव्यक्त और नित्य है। उसे सिद्ध पुरुष पहचानते हैं " (शां. ३३९. ४४. ४८)। इससे कहना पड़ता है, कि गीता में वर्णित भगवान् का अर्जुन को दिखलाया हुआ विश्वरूप भी मायिक था। सारांश, उपर्युक्त विवेचन से इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता, कि गीता का यही सिद्धान्त होना चाहिये, कि यद्यपि केवल उपासना के लिये व्यक्त स्वरूप की प्रशंसा गीता में भगवान् ने की है; तथापि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय को अगोचर ही है; और अव्यक्त से व्यक्त होना ही उसकी माया है। और इस माया से पार हो कर जब तक मनुष्य को परमात्मा के शुद्ध तथा अव्यक्त रूप का ज्ञान न हो, तब तक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। अब इसका अधिक विचार आगे करेंगे, कि माया क्या वस्तु है। ऊपर दिये गये वचनों से इतनी बात स्पष्ट है, कि यह मायावाद श्रीशंकराचार्य ने नये सिरे से नहीं उपस्थित किया है; किन्तु उनके पहले ही भगवद्गीता, महाभारत और भागवतधर्म में भी वह ग्राह्य माना गया था। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी सृष्टि की उत्पत्ति इस प्रकार कही गई है – ' मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ' (श्वेता. ४. १०) – अर्थात् माया ही (सांख्यों की) प्रकृति है और परमेश्वर उस माया का अधिपति है; और वही अपनी माया से विश्व निर्माण करता है।

अब इतनी बात यद्यपि स्पष्ट हो चुकी, कि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप व्यक्त नहीं, अव्यक्त है; तथापि थोड़ा-सा यह विचार होना भी आवश्यक है, कि परमात्मा का यह श्रेष्ठ अव्यक्त स्वरूप सगुण है या निर्गुण। जब कि सगुण-अव्यक्त का हमारे सामने यह एक उदाहरण है, कि सांख्यशास्त्र की प्रकृति अव्यक्त (अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर) होने पर भी सगुण अर्थात् सत्त्व-रज-तम-गुणमय है; तब कुछ लोग यह कहते हैं, कि परमेश्वर का अव्यक्त और श्रेष्ठ रूप भी उसी प्रकार सगुण माना जावें। अपनी माया ही से क्यों न हो; परन्तु जब कि वही अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त सृष्टि निर्माण करता है (गी. ९. ८); और सब लोगों के हृदय में रहकर उनसे सारे व्यापार कराता है (१८. ६१); जब कि वही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु है (९. २४); जब कि प्राणियों के सुखदुःख आदि सब 'भाव' उसी से उत्पन्न होते हैं (१०. ५); और जब कि प्राणियों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला भी वही है; एवं 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्' (७. २२) – प्राणियों की वासना का फल देनेवाला भी वही है; तब तो यही बात सिद्ध होती है, कि वह अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर भले ही हो; तथापि वह दया, कर्तृत्व आदि गुणों से युक्त अर्थात् 'सगुण' अवश्य ही होना चाहिये। परन्तु इसके विरुद्ध भगवान् ऐसा भी कहते हैं, कि 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' – मुझे कर्मों का अर्थात् गुणों का भी कभी स्पर्श नहीं होता (४. १४); प्रकृति के गुणों से मोहित हो कर मूर्ख आत्मा ही को कर्ता मानते हैं (३. २७; १४. १९); अथवा, यह अव्यक्त और अकर्ता परमेश्वर ही प्राणियों के हृदय में जीवरूप से निवास करता है (१३. ३१); और इसी लिये, यद्यपि वह प्राणियों के कर्तृत्व और कर्म से वस्तुतः अलिप्त है, तथापि अज्ञान में फँसे हुए लोग मोहित हो जाया करते हैं (५. १४, १५)। इस प्रकार अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर परमेश्वर के रूप – सगुण और निर्गुण – दो तरह के ही नहीं हैं; किन्तु इसके अतिरिक्त कहीं कहीं इन दोनों रूपों को एकत्र मिला कर भी अव्यक्त परमेश्वर का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, 'भूतभृत् न च भूतस्थो' (९. ५) 'मैं भूतों का आधार हो कर भी उनमें नहीं हूँ; 'परब्रह्म न तो सत् है और न असत्' (१३. १२); 'सर्वेंद्रियवान् होने का जिसमें भास हो परन्तु जो सर्वेंद्रियरहित है; और निर्गुण हो कर गुणों का उपभोग करनेवाला है' (१३. १४); 'दूर है और समीप भी है' (१३. १५); 'अविभक्त है और विभक्त भी दीख पड़ता है' (१३. १६) – इस प्रकार परमेश्वर के स्वरूप का सगुण-निर्गुण-मिश्रित अर्थात् परस्पर-विरोधी वर्णन भी किया गया है। तथापि आरम्भ में, दूसरे ही अध्याय में कहा गया है, कि 'यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य है' (२. २५); और फिर तेरहवे अध्याय में – "यह परमात्मा अनादि, निर्गुण और अव्यक्त है। इसलिये शरीर में रह कर भी न तो

यह कुछ करता है और न किसी में लिप्त होता है" (१३. ३१) – इस प्रकार परमात्मा के शुद्ध, निर्गुण, निरवयव, निर्विकार, अचिन्त्य, अनादि और अव्यक्त रूप की ही श्रेष्ठता का वर्णन गीता में किया गया है।

भगवद्गीता की भाँति उपनिषदों में भी अव्यक्त परमात्मा का स्वरूप तीन प्रकार का पाया जाता है – अर्थात् कभी उभयविध यानी सगुण-निर्गुण-मिश्रित और कभी केवल निर्गुण। इस बात की कोई आवश्यकता नहीं, कि उपासना के लिये सदा प्रत्यक्ष मूर्ति ही नेत्रों के सामने रहें। ऐसे स्वरूप की भी उपासना हो सकती है, कि जो निराकार अर्थात् चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अगोचर हो। परन्तु जिसकी उपासना की जाय, वह चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को गोचर भले ही न हो; तो भी मन को गोचर हुए बिना उसकी उपासना होना सम्भव नहीं है। उपासना कहते हैं चिन्तन, मनन, या ध्यान को। यदि चिन्तित वस्तु का कोई रूप न हो, तो न सही; परन्तु जब तक उसका अन्य कोई भी गुण मन को मालूम न हो जाय, तब तक वह चिन्तन करेगा ही किसका? अतएव उपनिषदों में जहाँ जहाँ अव्यक्त अर्थात् नेत्रों से न दिखाई देनेवाले परमात्मा की (चिन्तन, मनन, ध्यान) उपासना बतलाई गई है, वहाँ वहाँ अव्यक्त परमेश्वर सगुण ही कल्पित किया गया है। परमात्मा में कल्पित किये गुण उपासक के अधिकारानुसार न्यूनाधिक व्यापक या सात्त्विक होते हैं; और जिसकी जैसी निष्ठा हो, उसको वैसा ही फल भी मिलता है। छांदोग्योपनिषद् (३. १४. १) में कहा है, कि 'पुरुष क्रतुमय है। जिसका जैसा क्रतु (निश्चय) हो, उसे मृत्यु के पश्चात् वैसा ही फल भी मिलता है।' और भगवद्गीता भी कहती है – 'देवताओं की भक्ति करनेवाले देवताओं में और पितरों की भक्ति करनेवाले पितरों में जा मिलते हैं' (गी. ९. २५), अथवा 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' – जिसकी जैसी श्रद्धा हो, उसे वैसी सिद्धि प्राप्त होती है (१७. ३)। तात्पर्य यह है, कि उपासक के अधिकारभेद के अनुसार उपास्य अव्यक्त परमात्मा के गुण भी उपनिषदों में भिन्न भिन्न कहे गये हैं। उपनिषदों के इस प्रकरण को 'विद्या' कहते हैं। विद्या ईश्वरप्राप्ति का (उपासनारूप) मार्ग है; और यह मार्ग जिस प्रकरण में बतलाया गया है, उसे भी 'विद्या' ही नाम अन्त में दिया जाता है। शाण्डिल्यविद्या (छां. ३. १४), पुरुषविद्या (छां. ३. १६, १७), पर्यंकविद्या (कौषी. १), प्राणोपासना (कौषी. २) इत्यादि अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन उपनिषदों में किया गया है; और इन सब का विवेचन वेदान्तसूत्रों के तृतीयाध्याय के तीसरे पाद में किया गया है। इस प्रकरण में अव्यक्त परमात्मा का सगुण वर्णन इस प्रकार है, कि वह मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध और सर्वरस है (छां. ३. १४. २)। तैत्तिरीय उपनिषद् में तो अन्न, प्राण, मन, ज्ञान या आनन्द – इन रूपों में भी परमात्मा की बढ़ती हुई उपासना बत-

लाई गई है (तै. २. १–५; ३. २–६)। बृहदारण्यक (२. १) में गार्ग्य बालाकी ने अजातशत्रु को पहले पहल आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल या दिशाओं में रहनेवाले पुरुषों की ब्रह्मरूप से उपासना बतलाई है; परन्तु आगे अजातशत्रु ने उससे यह कहा, कि सच्चा ब्रह्म इनके भी परे है; और अन्त में प्राणोपासना ही को मुख्य ठहराया है। इतने ही से यह परम्परा कुछ पूरी नहीं हो जाती। उपर्युक्त सब ब्रह्मरूपों को प्रतीक, अर्थात् इन सब को उपासना के लिये कल्पित गौण ब्रह्मस्वरूप अथवा ब्रह्मनिदर्शक चिन्ह कहते हैं; और जब यही गौणरूप किसी मूर्ति के रूप में नेत्रों के सामने रखा जाता है, तब उसी को 'प्रतिमा' कहते हैं। परन्तु स्मरण रहे, कि सब उपनिषदों का सिद्धान्त यही है, कि सच्चा ब्रह्मरूप इससे भिन्न है (केन. १. २–८)। इस ब्रह्म के लक्षण का वर्णन करते समय कहीं तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति २. १) या 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. ३. ९. २८) कहा है। अर्थात् ब्रह्म सत्य (सत्), ज्ञान (चित्) और आनन्दरूप है – अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप है – इस प्रकार सब गुणों का तीन ही गुणों में समावेश करके वर्णन किया गया है। और अन्य स्थानों में भगवद्गीता के समान ही, परस्परविरुद्ध गुणों को एकत्र कर के ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है, कि 'ब्रह्म सत् भी नहीं और असत् भी नहीं' (ऋ. १०. १२९. १) अथवा 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' अर्थात् अणु से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है (कठ. २. २०), 'तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वन्तिके' अर्थात् वह हिलता है और हिलता भी नहीं; वह दूर है और समीप भी है (ईश. ५; मुं. ३. १. ७); अथवा 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' हो कर भी 'सर्वेन्द्रियविवर्जित' है (श्वेता. ३. १७)। मृत्यु ने नाचिकेता को यह उपदेश किया है, कि अन्त में उपर्युक्त सब लक्षणों को छोड़ दो और जो धर्म और अधर्म के, कृत और अकृत के, अथवा भूत और भव्य के भी परे है, उसे ही ब्रह्म जानो (कठ. २. १४)। इसी प्रकार महाभारत के नारायणीय धर्म में ब्रह्मा रुद्र से (म. भा. शां. ३५१. ११), और मोक्षधर्म में नारद शुक से कहते हैं (३३१. ४४)। बृहदारण्यकोपनिषद् (२. ३. २) में भी पृथ्वी, जल और अग्नि – इन तीनों को ब्रह्म का मूर्त रूप कहा है। फिर वायु तथा आकाश को अमूर्त रूप कह कर दिखाया है, कि इन अमूर्तों के सारभूत पुरुषों के रूप या रंग बदल जाते हैं; और अन्त में यह उपदेश किया है, कि 'नेति', 'नेति' अर्थात् अब तक जो कहा गया है, वह नहीं है; वह ब्रह्म नहीं है – इन सब नामरूपात्मक मूर्त या अमूर्त पदार्थों के परे जो 'अगृह्य' या 'अवर्णनीय' है, उसे ही परब्रह्म समझो (बृह. २. ३. ६. और वे. सू. ३. २. २२)। अधिक क्या कहें; जिन जिन पदार्थों को कुछ नाम दिया जा सकता है, उन सब से भी परे जो है, वही ब्रह्म है; और उस ब्रह्म का अव्यक्त तथा निर्गुण स्वरूप दिखलाने के लिये 'नेति' 'नेति' एक छोटा-सा

निर्देश, आदेश या सूत्र ही हो गया है; और बृहदारण्यक उपनिषद् में ही उसका चार बार प्रयोग हुआ है (बृह. ३. ९. २६; ४. २. ४; ४. ४. २२; ४. ५. १५)। इसी प्रकार दूसरे उपनिषदों में भी परब्रह्म के निर्गुण और अचिन्त्य रूप का वर्णन पाया जाता है। जैसे ' यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ' (तैत्ति. २. ९); ' अद्रेश्यं (अदृश्य), अग्राह्यं ' (मुं. १. १. ६), ' न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा (मुं. ३. १. ८); अथवा –

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

अर्थात् वह परब्रह्म पञ्चमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध – इन पाँच गुणों से रहित, अनादि, अनन्त और अव्यय है (कठ. ३. १५; वे. सू. ३. २. २–३० देखो)। महाभारतान्तर्गत शान्तिपर्व में नारायणीय या भागवतधर्म के वर्णन में भी भगवान् ने नारद को अपना सच्चा स्वरूप अदृश्य, अघ्रेय, अस्पृश्य, निर्गुण, निष्कल (निरवयव), अज, नित्य, शाश्वत और निष्क्रिय ' बतला कर कहा है, कि वही सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय करनेवाला त्रिगुणातीत परमेश्वर है; और इसी को ' वासुदेव परमात्मा ' कहते हैं (म. भा. शां. ३३९. २१–२८)।

उपर्युक्त वचनों से यह प्रकट होगा, कि न केवल भगवद्गीता में ही, वरन् महाभारतान्तर्गत नारायणीय या भागवतधर्म में और उपनिषदों में भी परमात्मा का अव्यक्त स्वरूप ही व्यक्त स्वरूप से श्रेष्ठ माना गया है; और यही अव्यक्त श्रेष्ठ स्वरूप वहाँ तीन प्रकार से वर्णित है; अर्थात् सगुण, सगुण-निर्गुण और अन्त में केवल निर्गुण। प्रश्न यह है, कि अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूप के उक्त तीन परस्पर-विरोधी रूपों का मेल किस तरह मिलाया जावें ? यह कहा जा सकता है, कि इन तीनों में से जो सगुण-निर्गुण अर्थात् उभयात्मक रूप है, वह सगुण से निर्गुण में (अथवा अज्ञेय में) जाने की सीढ़ी या साधना है। क्योंकि (पहले सगुण रूप का ज्ञान होने पर ही) धीरे धीरे एक एक गुण का त्याग करने से निर्गुण स्वरूप का अनुभव हो सकता है; और इसी रीति से ब्रह्मप्रतीक की बढ़ती हुई उपासना उपनिषदों में बतलाई गई है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को पहले यही उपदेश किया है, कि अन्न ही ब्रह्म है; फिर क्रम क्रम से प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द – इन ब्रह्मरूपों का ज्ञान उसे करा दिया है (तैत्ति. ३. २–६)। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है, कि गुणबोधक विशेषणों से निर्गुण रूप का वर्णन करना असम्भव है। अतएव परस्परविरोधी विशेषणों से ही उसका वर्णन करना पड़ता है। इस का कारण यह है, कि जब हम किसी वस्तु के सम्बध में 'दूर' वा 'सत्' शब्दों का उपयोग करते हैं, तब हमें किसी अन्य वस्तु के 'समीप' या 'असत्' होने का भी अप्रत्यक्ष रूप से बोध हो जाया करता है। परन्तु यदि एक ही ब्रह्म

सर्वव्यापी है, तो परमेश्वर को 'दूर' या 'सत्' कह कर 'समीप' या 'असत्' किसे कहें ? ऐसी अवस्था में 'दूर नहीं, समीप नहीं; सत् नहीं, असत् नहीं' – इस प्रकार की भाषा का उपयोग करने से दूर और समीप, सत् और असत् इत्यादि परस्परसाक्षेप गुणों की जोड़ियाँ भी लगा दी जाती हैं। और यह बोध होने के लिये परस्पराविरुद्ध विशेषणों की भाषा का ही व्यवहार में उपयोग करना पड़ता है, कि जो कुछ निर्गुण, सर्वव्यापी, सर्वदा निरपेक्ष और स्वतन्त्र बचा है, वही सच्चा ब्रह्म है (गी. १३. १२)। जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही है। इसलिये दूर वही, समीप भी वही, सत् भी वही और असत् भी वही है। अतएव दूसरी दृष्टि से उसी ब्रह्म का एक ही समय परस्परविरोधी विशेषणों के द्वारा वर्णन किया जा सकता है (गी. ११. ३७; १३. १५)। अब यद्यपि उभयविध सगुण-निर्गुण वर्णन की उपपत्ति इस प्रकार बतला चुके; तथापि इस बात का स्पष्टीकरण रह ही जाता है, कि एक ही परमेश्वर के परस्परविरोधी दो स्वरूप – सगुण और निर्गुण – कैसे हो सकते हैं ? माना कि जब अव्यक्त परमेश्वर व्यक्त रूप अर्थात् इन्द्रियगोचर रूप धारण करता है, तब वह उसकी माया कहलाती है; परन्तु जब वह व्यक्त–यानी इन्द्रियगोचर – न होते हुए अव्यक्त रूप में ही निर्गुण का सगुण हो जाता है, तब उसे क्या कहें ? उदाहरणार्थ, एक ही निराकार परमेश्वर को कोई 'नेति नेति' कह कर निर्गुण मानते हैं; और कोई उसे सत्त्वगुणसम्पन्न, सर्वकर्मा तथा दयालु मानते हैं। इसका रहस्य क्या है ? उक्त दोनों में श्रेष्ठ पक्ष कौन-सा है ? इस निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्म से सारी व्यक्त सृष्टि और जीव की उत्पत्ति कैसे हुई ? – इत्यादि बातों का खुलासा हो जाना आवश्यक है। यह कहना मानों अध्यात्मशास्त्र ही को काटना है, कि सब संकल्पों का दाता अव्यक्त परमेश्वर तो यथार्थ में सगुण है; और उपनिषदों में या गीता में निर्गुण स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, वह केवल अतिशयोक्ति या प्रशंसा है। जिन बड़े बड़े महात्माओं और ऋषियों ने एकाग्र मन करके सूक्ष्म तथा शान्त विचारों से यह सिद्धान्त ढूँढ निकाला, कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै. २. ९)– मन को भी जो दुर्गम है और वाणी भी जिसका वर्णन कर नहीं सकती, वही अन्तिम ब्रह्मस्वरूप है – उनके आत्मानुभव को अतिशयोक्ति कैसे कहें ! केवल एक साधारण मनुष्य अपने क्षुद्र मन में यदि अनन्त निर्गुण ब्रह्म को ग्रहण नहीं कर सकता; इसलिये यह कहना, कि सच्चा ब्रह्म सगुण ही है। मानों सूर्य की अपेक्षा अपने छोटे-से दीपक को श्रेष्ठ बतलाना है। हाँ; यदि निर्गुण रूप की उपपत्ति उपनिषदों में और गीता में न दी गई होती, तो बात ही दूसरी थी; परन्तु यथार्थ में वैसा नहीं है। देखिये न! भगवद्गीता में तो स्पष्ट ही कहा है, कि परमेश्वर का सच्चा श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त है; और व्यक्त सृष्टि का धारण करना तो उसकी माया है (गी. ४. ६)। परन्तु भगवान् ने यह भी कहा

है, कि प्रकृति के गुणों से 'मोह में फँस कर मूर्ख लोग (अव्यक्त और निर्गुण) आत्मा को ही कर्ता मानते हैं' (गी. ३. २७–२९); किन्तु ईश्वर तो कुछ नहीं करता। लोग केवल अज्ञान से धोखा खाते हैं (गी. ५. १५)। अर्थात् भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में यह उपदेश किया है, कि यद्यपि अव्यक्त आत्मा या परमेश्वर वस्तुतः निर्गुण है (गी. १३. ३१), तो भी लोग उस पर 'मोह' या 'अज्ञान' से कर्तृत्व आदि गुणों का अध्यारोप करते हैं; और उसे अव्यक्त सगुण बना देते हैं (गी. ७. २४) उक्त विवेचन से परमेश्वर के स्वरूप के 'विषय' में गीता के ये ही सिद्धान्त मालूम होते हैं :– (१) गीता में परमेश्वर के व्यक्त स्वरूप का यद्यपि बहुत-सा वर्णन है, तथापि परमेश्वर का मूल और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण तथा अव्यक्त ही है; और मनुष्य मोह या अज्ञान से उसे सगुण मानते हैं; (२) सांख्यों की प्रकृति या उसका व्यक्त फैलाव – यानी अखिल संसार – उस परमेश्वर की **माया** है; और (३) सांख्यों का पुरुष यानी जीवात्मा यथार्थ में परमेश्वररूपी, परमेश्वर के समान ही निर्गुण और अकर्ता है; परन्तु अज्ञान के कारण लोग उसे कर्ता मानते हैं। वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्त भी ऐसे ही हैं; परन्तु उत्तर-वेदान्त-ग्रन्थों में इन सिद्धान्तों को बतलाते समय माया और अविद्या में कुछ भेद किया जाता है। उदाहरणार्थ, पंचदशी में पहले यह बतलाया गया है, कि आत्मा और परब्रह्म दोनों में एक ही यानी ब्रह्मस्वरूप है। और यह चित्स्वरूपी ब्रह्म जब माया में प्रतिबिम्बित होता है, तब सत्त्वरजतम-गुणमयी (सांख्यों की मूल) प्रकृति का निर्माण होता है। परन्तु आगे चल कर इस माया के ही दो भेद – 'माया' और 'अविद्या' – किये गये हैं। और यह बतलाया गया है, कि जब माया के तीन गुणों में से 'शुद्ध' सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है, तब उसे केवल माया कहते हैं; और इस माया में प्रतिबिम्बित होनेवाले ब्रह्म को सगुण यानी व्यक्त ईश्वर (हिरण्यगर्भ) कहते हैं। और यदि यही सत्त्व गुण 'अशुद्ध' हो, तो उसे 'अविद्या' कहते हैं; तथा उस अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को 'जीव' कहते हैं (पंच. १. १५–१७)। इस दृष्टि से, यानी उत्तरकालीन वेदान्त की दृष्टि से देखें, तो एक ही माया के स्वरूपतः दो भेद करने पड़ते हैं–अर्थात् परब्रह्म से 'व्यक्त ईश्वर' के निर्माण होने का कारण माया और 'जीव' के निर्माण होने का कारण अविद्या मानना पड़ता है। परन्तु गीता में इस प्रकार का भेद नहीं किया गया है। गीता कहती है, कि जिस माया से स्वयं भगवान् व्यक्त रूप यानी सगुण रूप धारण करते हैं (७. २५), अथवा जिस माया के द्वारा अष्टधा प्रकृति अर्थात् सृष्टि की सारी विभूतियाँ उनसे उत्पन्न होती हैं (४. ६), उसी माया के अज्ञान से जीव मोहित होता है (७. ४–१५)। 'अविद्या' शब्द गीता में कहीं भी नहीं आया है; और श्वेताश्वतरोपनिषद् में जहाँ वह शब्द आया है, वहाँ उसका स्पष्टीकरण भी इस प्रकार किया है, कि माया के प्रपञ्च को ही 'अविद्या' कहते हैं (श्वेता. ५. १)। अतएव उत्तरकालीन वेदान्तग्रन्थों में केवल निरूपण

की सरलता के लिये – जीव और ईश्वर की दृष्टि से – किये गये सूक्ष्म भेद – अर्थात् माया और अविद्या – को स्वीकार न कर हम 'माया', 'अविद्या' और 'अज्ञान' शब्दों को समानार्थक ही मानते हैं। और अब शास्त्रीय रीति से संक्षेप में इस विषय का विवेचन करते हैं, कि त्रिगुणात्मक माया, अविद्या या अज्ञान और मोह का सामान्यतः तात्त्विक स्वरूप क्या है; और उसकी सहायता से गीता तथा उपनिषदों के सिद्धान्तों की उपपत्ति कैसे लग सकती है।

निर्गुण और सगुण शब्द देखने में छोटे हैं; परन्तु जब इसका विचार करने लगें, कि इन शब्दों में किन किन बातों का समावेश होता है; तब सचमुच सारा ब्रह्माण्ड दृष्टि के सामने खड़ा हो जाता है। जैसे, इस संसार का मूल जब वही अनादि परब्रह्म है, जो एक, निष्क्रिय और उदासीन है; तब उसी में मनुष्य की इन्द्रियों को गोचर होनेवाले अनेक प्रकार के व्यापार और गुण कैसे उत्पन्न हुए? तथा इस प्रकार उसकी अखंडता भंग कैसे हो गई? अथवा जो मूल में एक ही है, उसी के बहुविध भिन्न भिन्न पदार्थ कैसे दिखाई देते हैं? जो परब्रह्म निर्विकार है, और जिसमें खट्टा-मीठा-कड़ुवा या गाढ़ा-पतला अथवा शीत-उष्ण आदि भेद नहीं हैं, उसी में नाना प्रकार की रुचि, न्यूनाधिक गाढ़ा-पतलापन या शीत और उष्ण, सुख और दुःख, प्रकाश और अँधेरा, मृत्यु और अमरता इत्यादि अनेक प्रकार के द्वन्द्व कैसे उत्पन्न हुए? जो परब्रह्म शान्त और निर्वात है, उसी में नाना प्रकार की ध्वनि और शब्द कैसे निर्माण होते हैं? जिस परब्रह्म में भीतर-बाहर या दूर और समीप का कोई भेद नहीं है, उसी में आगे या पीछे, दूर या समीप, अथवा पूर्व-पश्चिम इत्यादि दिक्कृत या स्थलकृत भेद कैसे हो गये? जो परब्रह्म अविकारी, त्रिकालाबाधित, नित्य और और अमृत है, उसी के न्यूनाधिक कालमान से नाशवान् पदार्थ कैसे बने? अथवा जिसे कार्यकारणभाव का स्पर्श भी नहीं होता, उसी परब्रह्म के कार्यकारणरूप – जैसे मिट्टी और घड़ा – क्यों दिखाई देते हैं? ऐसे ही और भी अनेक विषयों का उक्त छोटे से दो शब्दों में समावेश हुआ है। अथवा संक्षेप में कहा जाय, तो अब इस बात का विचार करना है, कि एक ही में अनेकता, निर्द्वन्द्व में नाना प्रकार की द्वन्द्वता, अद्वैत में द्वैत और निःसंग में संग कैसे हो गया। सांख्यों ने तो उस झगड़े से बचने के लिये यह द्वैत कल्पित कर लिया है, कि निर्गुण और नित्यपुरुष के साथ त्रिगुणात्मक यानी सगुण प्रकृति भी नित्य और स्वतंत्र है। परन्तु जगत् के मूलतत्त्व को ढूँढ़ निकालने की मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसका समाधान इस द्वैत से नहीं होता। इतना ही नहीं; किन्तु यह द्वैत युक्तिवाद के भी सामने ठहर नहीं पाता। इसलिये प्रकृति और पुरुष के भी परे जा कर उपनिषत्कारों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है, कि सच्चिदानन्द ब्रह्म से भी श्रेष्ठ श्रेणी का 'निर्गुण' ब्रह्म ही जगत् का मूल है। परन्तु अब इसकी उपपत्ति देना चाहिये, कि निर्गुण से

सगुण कैसे हुआ। क्योंकि सांख्य के समान वेदान्त का भी यह सिद्धान्त है, कि जो वस्तु नहीं है, वह हो ही नहीं सकती; और उससे, 'जो वस्तु है' उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार निर्गुण (अर्थात् जिस में गुण नहीं उस) ब्रह्म से सगुण सृष्टि के पदार्थ (कि जिन में गुण हैं) उत्पन्न हो नहीं सकते। तो फिर सगुण आया कहाँ से? यदि कहें कि सगुण कुछ नहीं है, तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है। और यदि निर्गुण के समान सगुण को भी सत्य मानें; तो हम देखते हैं, कि इन्द्रियगोचर होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि सब गुणों के स्वरूप आज एक हैं, तो कल दूसरे ही–अर्थात् वे नित्य परिवर्तनशील होने के कारण नाशवान्, विकारी और अशाश्वत हैं। तब तो (ऐसी कल्पना करके कि परमेश्वर विभाज्य है) यही कहना होगा, कि ऐसा सगुण परमेश्वर भी परिवर्तनशील एवं नाशवान् है। परन्तु जो विभाज्य और नाशवान् होकर सृष्टि के नियमों की पकड़ में नित्य परतंत्र रहता है, उसे परमेश्वर ही कैसे कहें? सारांश, चाहे यह मानो, कि इंद्रियगोचर सारे सगुण पदार्थ पञ्चमहाभूतों से निर्मित हुए हैं; अथवा सांख्यानुसार या आधिभौतिक दृष्टि से यह अनुमान कर लो, कि सारे पदार्थों का निर्माण एक ही अव्यक्त सगुण मूलप्रकृति से हुआ है। किसी भी पक्ष का स्वीकार करो; यह बात निर्विवाद सिद्ध है, कि जब तक नाशवान् गुण इस मूलप्रकृति से भी छूट नहीं गये हैं, तब तक पञ्चमहाभूतों को या प्रकृति-रूप इस सगुण मूल पदार्थ को जगत् का अविनाशी, स्वतन्त्र और अमृत तत्त्व कह सकते। अतएव जिसे प्रकृतिवाद का स्वीकार करना है, उसे उचित है, कि वह या तो यह कहना छोड़ दे, कि परमेश्वर नित्य, स्वतंत्र और अमृतरूप है; या इस बात की खोज करे, कि पञ्चमहाभूतों के परे अथवा सगुण प्रकृति के भी परे और कौन-सा तत्त्व है। इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है। जिस प्रकार मृगजल से प्यास नहीं बुझती, या बालू से तेल नहीं निकलता, उसी प्रकार प्रत्यक्ष नाशवान् वस्तु से अमृतत्व की प्राप्ति की आशा करना भी व्यर्थ है। और इसीलिये याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को स्पष्ट उपदेश किया है, कि चाहे जितनी संपत्ति क्यों न प्राप्त हो जावे; पर उससे अमृतत्व की आशा करना व्यर्थ है–"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" (बृह. २. ४. २)। अच्छा; अब यदि अमृतत्व को मिथ्या कहें; तो मनुष्यों की यह स्वाभाविक इच्छा दीख पड़ती है, कि वे किसी राजा से मिलनेवाले पुरस्कार या पारितोषिक का उपभोग न केवल अपने लिये वरन् अपने पुत्रपौत्रादि के लिये भी–अर्थात् चिरकाल के लिये–करना चाहते हैं। अथवा यह भी देखा जाता है, कि चिरकाल रहनेवाली या शाश्वत कीर्ति पाने का जब अवसर आता है, तब मनुष्य अपने जीवन की भी परवाह नहीं करता। ऋग्वेद के समान अत्यंत प्राचीन ग्रन्थों में भी पूर्व-ऋषियों की प्रार्थना है, कि "हे इन्द्र! तू हमें 'अक्षित श्रव' अर्थात् अक्षय कीर्ति या धन दे" (ऋ. १. ९. ७); अथवा "हे सोम! तू

मुझे वैवस्वत (यम) लोक में अमर कर दे " (ऋ. ९. ११३. ८)। और, अर्वाचीन समय में इसी दृष्टि को स्वीकार कर के स्पेन्सर, कोन्ट:प्रभृति केवल आधिभौतिक पण्डित भी यही कहते हैं, कि "इस संसार में मनुष्यमात्र का नैतिक परम कर्तव्य यही है, कि वह किसी प्रकार के क्षणिक सुख में न फँस कर वर्तमान और भावी मनुष्यजाति के चिरकालिक सुख के लिये उद्योग करे।" अपने जीवन के पश्चात् के चिरकालिक कल्याण की अर्थात् अमृतत्व की यह कल्पना आई कहाँ से? यदि कहें, कि यह स्वभावसिद्ध है; तो मानना पड़ेगा, कि इस नाशवान् देह के सिवा और कोई अमृत वस्तु अवश्य है। और यदि कहें, कि ऐसी अमृत वस्तु कोई नहीं है; तो हमें जिस मनोवृत्ति की साक्षात् प्रतीति होती है, उसका अन्य कोई कारण भी नहीं बतलाते बन पड़ता! ऐसी कठिनाई आ पड़ने पर कुछ आधिभौतिक पण्डित यह उपदेश करते हैं, कि इन प्रश्नों का कभी समाधानकारक उत्तर नहीं मिल सकता। अतएव इनका विचार न करके दृश्यसृष्टि के पदार्थों के गुणधर्म के परे अपने मन की दौड़ कभी न जाने दो। यह उपदेश है तो सरल; परन्तु मनुष्य के मन में तत्त्वज्ञान की जो स्वाभाविक लालसा होती है, उसका प्रतिरोध कौन और किस प्रकार से कर सकता है? और इस दुर्धर जिज्ञासा का यदि नाश कर डालें, तो फिर ज्ञान की वृद्धि हो कैसे? जब से मनुष्य इस पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुआ है, तभी से वह इस प्रश्न का विचार करता चला आया है, कि 'सारी दृश्य और नाशवान् सृष्टि का मूलभूत अमृत तत्त्व क्या है? और वह मुझे कैसे प्राप्त होगा?' आधिभौतिक शास्त्रों की चाहे जैसी उन्नति हो; तथापि मनुष्य की अमृत-तत्त्वसम्बन्धी ज्ञान की स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी कम होने की नहीं। आधिभौतिक शास्त्रों की चाहे जैसी वृद्धि हो; तो भी सारे आधिभौतिक सृष्टिविज्ञान को बगल में दबा कर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान सदा उसके आगे ही दौड़ता रहेगा! दो-चार हज़ार वर्ष के पहले यही दशा थी; और अब पश्चिमी देशों में भी वही बात दीख पड़ती है। और तो क्या; मनुष्य की बुद्धि की ज्ञानलालसा जिस दिन छूटेगी, उस दिन उसके विषय में यही कहना होगा, कि 'स वै मुक्तोऽथवा पशुः'!

दिक्काल से अमर्यादित, अमृत, अनादि, स्वतन्त्र, सम, एक, निरन्तर, सर्वव्यापी और निर्गुण तत्त्व के अस्तित्व के विषय में, अथवा उस निर्गुण तत्त्व से सगुण सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जैसा व्याख्यान हमारे प्राचीन उपनिषदों में किया गया है, उससे अधिक सयुक्तिक व्याख्यान अन्य देशों के तत्त्वज्ञों ने अब तक नहीं किया है। अर्वाचीन जर्मन तत्त्ववेत्ता कान्ट ने इस बात का सूक्ष्म विचार किया है, कि मनुष्य को बाह्यसृष्टि की विविधता या भिन्नता का ज्ञान एकता से क्यों और कैसे होता है? और फिर उक्त उपपत्ति को ही उसने अर्वाचीन शास्त्र की रीति से अधिक स्पष्ट कर दिया है। और हेकेल यद्यपि अपने विचार में कान्ट से कुछ आगे बढ़ा है, तथापि उसके भी सिद्धान्त वेदान्त के आगे नहीं बढ़े हैं।

शोपेनहर का भी यही हाल है। लैटिन भाषा में उपनिषदों के अनुवाद का अध्य-यन उसने किया था–और उसने यह बात भी लिख रखी है, कि 'संसार के साहित्य में अत्युत्तम' इन ग्रन्थों से कुछ विचार मैंने अपने ग्रन्थों में लिये हैं। इस छोटे-से ग्रन्थ में इन सब बातों का विस्तारपूर्वक निरूपण करना सम्भव नहीं, कि उक्त गम्भीर विचारों और उनके साधकबाधक प्रमाणों में, अथवा वेदान्त के सिद्धान्तों और कान्ट प्रभृति पश्चिमी तत्त्वज्ञों के सिद्धान्तों में, समानता कितनी है और अन्तर कितना है। इसी प्रकार इस बात की भी विस्तार से चर्चा नहीं कर सकते, कि उपनिषद् और वेदान्त-सूत्र जैसे प्राचीन ग्रन्थों के वेदान्त में और तदुत्तरकालीन ग्रन्थों के वेदान्त में छोटे-मोटे भेद कौन-कौनसे हैं। अतएव भगवद्गीता के अध्यात्मसिद्धान्तों की सत्यता, महत्त्व और उपपत्ति समझा देने के लिये जिन जिन बातों की आवश्यकता है, सिर्फ़ उन्हीं बातों का यहाँ दिग्दर्शन किया गया है; और इस चर्चा के लिये उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र और उसके शांकरभाष्य का आधार प्रधान रूपसे लिया गया है। प्रकृति-पुरुषरूपी सांख्योक्त द्वैत के परे क्या है – इसका निर्णय करने के लिये केवल द्रष्टा और दृश्यसृष्टि के द्वैतभेद पर ही ठहर जाना उचित नहीं। किन्तु इस बात का भी सूक्ष्म विचार करना चाहिये, कि द्रष्टा पुरुष को बाह्यसृष्टि का जो ज्ञान होता है, उसका स्वरूप क्या है? वह ज्ञान किससे होता है और किसका होता है? बाह्यसृष्टि के पदार्थ मनुष्य को नेत्रों से जैसे दिखाई देते हैं, वैसे तो वे गुण पशुओं-को भी दिखाई देते हैं। परन्तु मनुष्य में यह विशेषता है, कि आँख, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों से उसके मन पर जो संस्कार हुआ करते हैं, उनका एकीकरण करने की शक्ति उसमें है, और इसी लिये बाह्यसृष्टि के पदार्थमात्र का ज्ञान उसको हुआ करता है। पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचार में बतला चुके हैं, कि जिस एकीकरणशक्ति का फल उपर्युक्त विशेषता है, वह शक्ति मन और बुद्धि के भी परे है – अर्थात् वह आत्मा की शक्ति है। यह बात नहीं, कि किसी एक ही पदार्थ का ज्ञान उक्त रीति से होता हो; किन्तु सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्थों में कार्यकारणभाव आदि जो अनेक सम्बन्ध हैं – जिन्हें हम सृष्टि के नियम कहते हैं – उनका ज्ञान भी इसी प्रकार हुआ करता है। इसका कारण यह है, कि यद्यपि हम भिन्न भिन्न पदार्थों को दृष्टि से देखते हैं, तथापि उनका कार्यकारणसम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता; किन्तु हम अपने मानसिक व्यापारों से निश्चित किया करते हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई एक पदार्थ हमारे नेत्रों के सामने आता है, तब उसका रूप और उसकी गति देख कर हम निश्चय करते हैं, कि यह एक 'फ़ौजी सिपाही' है; और यही संस्कार मन में बना रहता है। इसके बाद जब कोई दूसरा पदार्थ उसी रूप और गति में दृष्टि के सामने आता है, तब वही मानसिक क्रिया फिर शुरू हो जाती है; और हमारी बुद्धि का निश्चय हो जाता है, कि वह

भी एक फौजी सिपाही है। इस प्रकार भिन्न भिन्न समय में (एक के बाद दूसरे) जो अनेक संस्कार हमारे मन पर होते रहते हैं, उन्हें हम अपनी स्मरणशक्ति से याद कर एकत्र रखते हैं; और जब वह पदार्थसमूह हमारी दृष्टि के सामने आ जाता है, तब उन सब भिन्न भिन्न संस्कारों का ज्ञान एकता के रूप में होकर हम कहने लगते हैं, कि हमारे सामने से 'फौज' जा रही है। इस सेना के पीछे जानेवाले पदार्थ का रूप देख कर हम निश्चय करते हैं, कि वह 'राज' है। और 'फौज'-सम्बन्धी पहले संस्कार को तथा 'राजा'-सम्बन्धी इस नूतन संस्कार को एकत्र कर हम कह सकते हैं, कि यह 'राजा की सवारी जा रही है'। इसलिये कहना पड़ता है, कि सृष्टिज्ञान केवल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला जड़ पदार्थ नहीं है; किन्तु इन्द्रियों के द्वारा मन पर होनेवाले अनेक संस्कारों या परिणामों का जो 'एकीकरण' 'द्रष्टा आत्मा' किया करता है, उसी एकीकरण का फल ज्ञान है। इसीलिये भगवद्गीता में भी ज्ञान का लक्षण इस प्रकार कहा है – 'अविभक्तं विभक्तेषु' अर्थात् ज्ञान वही है, कि जिससे विभक्त या निरालेपन में अविभक्तता या एकता का बोध हो* (गी. १८. २०)। परंतु इस विषय का यदि सूक्ष्म विचार किया जावे, कि इंद्रियों के द्वारा मन पर जो जान पड़ेगा, कि यद्यपि आँख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियों से पदार्थ के रूप, शब्द, गन्ध आदि गुणों का ज्ञान हमें होता है। तथापि जिस पदार्थ में ये बाह्यगुण हैं, उसके आन्तरिक स्वरूप के विषय में हमारी इन्द्रियाँ हमें कुछ भी नहीं बतला सकतीं। हम यह देखते हैं सही, कि 'गीली मिट्टी' का घड़ा बनता है; परन्तु यह नहीं जान सकते, कि जिसे हम 'गीली मिट्टी' कहते हैं, उस पदार्थ का यथार्थ तात्त्विक स्वरूप क्या है। चिकनाई, गीलापन, मैला रंग या गोलाकार (रूप) इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को पृथक् पृथक् मालूम हो जाते हैं, तब उन संस्कारों का एकीकरण करके 'द्रष्टा' आत्मा कहता है, कि 'यह गीली मिट्टी है;' और आगे इसी द्रष्टा की (क्योंकि यह मानने के लिये कोई कारण नहीं, कि द्रव्य का तात्त्विक रूप बदल गया) गोल तथा पोली आकृति या रूप, ठन ठन आवाज और सूखापन इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को मालूम हो जाते हैं, तब आत्मा उनका एकीकरण करके उसे 'घड़ा' कहता है। सारांश, सारा भेद 'रूप या आकार' में ही होता रहता है। और जब इन्हीं गुणों के संस्कारों को (जो मन पर हुआ करते हैं) 'द्रष्टा' आत्मा एकत्र कर लेता है, तब एक ही तात्त्विक पदार्थ को अनेक नाम प्राप्त हो जाते हैं। इसका सब से सरल उदाहरण समुद्र और तरंग का या सोना और अलंकार का है। क्योंकि इन

* Cf " Knowledge is first produced by the synthesis of what is manifold. " Kant's Critique of Pure Reason,; p. 64, Max-Muller's translation, 2nd Ed.

दोनों उदाहरणों में रङ्ग, गाढ़पन-पतलापन, वजन आदि गुण एक ही से रहते हैं; और केवल रूप (आकार) तथा नाम ये ही दो गुण बदलते रहते हैं। इसीलिये वेदान्त में ये सरल उदाहरण हमेशा पाये जाते हैं। सोना तो एक पदार्थ है; परंतु भिन्न भिन्न समय पर बदलनेवाले उसके आकारों के जो संस्कार इंद्रियों के द्वारा मन पर होते हैं, उन्हें एकत्र करके 'द्रष्टा' उस सोने को ही – कि जो तात्त्विक दृष्टि से ही मूल पदार्थ है – कभी 'कड़ा', कभी 'अँगूठी' या कभी 'पँचलड़ी', 'पहुँची' और 'कङ्गन' इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिया करता है। भिन्न भिन्न समय पर पदार्थों को जो इस प्रकार नाम दिये जाते हैं, उन नामों को (तथा पदार्थों की जिन भिन्न भिन्न आकृतियों के कारण वे नाम बदलते रहते हैं, उन आकृतियों को) उपनिषदों में **'नामरूप'** कहते हैं; और इन्हीं में अन्य सब गुणों का भी समावेश कर दिया जाता है (छां. ६. ३ और ४; बृ. १. ४. ७.)। और इस प्रकार समावेश होना ठीक भी है। क्योंकि कोई भी गुण लीजिये; उसका कुछ-न-कुछ नाम या रूप अवश्य होगा। यद्यपि इन नामरूपों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहे, तथापि कहना पड़ता है, कि – इन नामरूपों के मूल में आधारभूत कोई तत्त्व या द्रव्य है, जो इन नामरूपों से भिन्न है; पर कभी बदलता नहीं – जिस प्रकार पानी पर तरङ्गें होती हैं, उसी प्रकार ये सब नामरूप किसी एक ही मूलद्रव्य पर तरङ्गों के समान हैं। यह सच है, कि हमारी इन्द्रियाँ नामरूप के अतिरिक्त और कुछ भी पहचान नहीं सकतीं। अतएव इन इन्द्रियों को उस मूलद्रव्य का ज्ञान होना सम्भव नहीं, कि जो नामरूप से भिन्न हो, परन्तु उसका आधारभूत है। परन्तु सारे संसार का आधारभूत यह तत्त्व भले ही अव्यक्त हो; अर्थात् इन्द्रियों से न जाना जा सके; तथापि हमको अपनी बुद्धि से यही निश्चित अनुमान करना पड़ता है, कि वह सत् है – अर्थात् वह सचमुच सर्व काल सब नामरूपों के मूल में तथा नामरूपों में भी निवास करता है; और उसका कभी नाश नहीं होता। क्योंकि यदि इन्द्रियगोचर नामरूपों के अतिरिक्त मूलतत्त्व को कुछ मानें ही नहीं, तो फिर 'कड़ा', 'कङ्गन' आदि भिन्न भिन्न पदार्थ हो जावेंगे। एवं इस समय हमें जो यह ज्ञान हुआ करता है, कि 'वे सब एक ही धातु के (सोने के) बने हैं', उस ज्ञान के लिये कुछ भी आधार नहीं रह जावेगा। ऐसी अवस्था में केवल इतना ही कहते बनेगा, कि यह 'कड़ा' है; यह 'कङ्गन' है। यह कदापि न कह सकेंगे, कि कड़ा सोने का है; और कङ्गन भी सोने का है। अतएव न्यायतः यह सिद्ध होता है, कि 'कड़ा सोने का है', 'कङ्गन सोने का है,' इत्यादि वाक्यों में 'है' शब्द से जिस सोने के साथ नामरूपात्मक 'कड़े' और 'कङ्गन' का सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह सोना केवल शशशृंगवत् अभावरूप नहीं है। किन्तु वह उस द्रव्यांश का ही बोधक है, कि जो सारे आभूषणों का आधार है। इसी का उपयोग सृष्टि के सारे पदार्थों में करें, तो यह सिद्धान्त

निकलता है, कि पत्थर, मिट्टी, चाँदी, लोहा, लकड़ी इत्यादि अनेक नामरूपात्मक पदार्थ, जो नज़र आते हैं, सब किसी एक ही द्रव्य पर भिन्न भिन्न नामरूपों का मुलम्मा या गिलट कर उत्पन्न हुए हैं; अर्थात् सारा भेद केवल नामरूपों का है, मूलद्रव्य का नहीं। भिन्न भिन्न नामरूपों की जड़ में एक ही द्रव्य नित्य निवास करता है। 'सब पदार्थों में इस प्रकार से नित्य रूप से सदैव रहना' – संस्कृत में 'सत्तासामान्यत्व' कहलाता है।

वेदान्तशास्त्र के उक्त सिद्धान्त का ही कान्ट आदि अर्वाचीन पश्चिमी तत्त्वज्ञानियों ने भी स्वीकार किया है। नामरूपात्मक जगत् की जड़ में नामरूपों से भिन्न, जो कुछ अदृश्य नित्य द्रव्य है, उसे कान्ट ने अपने ग्रन्थ में 'वस्तुतत्त्व' कहा है; और नेत्र आदि इन्द्रियों को गोचर होनेवाले नामरूप को 'बाहरी दृश्य' कहा है।* परन्तु वेदान्तशास्त्र में नित्य बदलनेवाले नामरूपात्मक दृश्य जगत् को 'मिथ्या' या 'नाशवान्' और मूलद्रव्य को 'सत्य' या 'अमृत' कहते हैं। सामान्य लोग सत्य की व्याख्या यों करते हैं, कि 'चक्षुर्वै सत्यं' अर्थात् जो आँखों से दीख पड़े वही सत्य है; और व्यवहार में भी देखते हैं, कि किसी ने स्वप्न में लाख रुपया पा लिया अथवा लाख रुपया मिलने की बात कान से सुन ली, तो इस स्वप्न की बात में और सचमुच लाख रुपये की रकम के मिल जाने में बड़ा भारी अन्तर रहता है। इस कारण एक दूसरे से सुनी हुई और आँखों से प्रत्यक्ष देखी हुई – इन दोनों बातों में किस पर अधिक विश्वास करें? आँखों पर या कानों पर? इसी दुविधा को मेटने के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् (५.१४.४) में यह 'चक्षुर्वै सत्यं' वाक्य आया है। किन्तु जिस शास्त्र में रुपये खोटे होने का निश्चय 'रुपये' की गोलमोल सूरत और उसके प्रचलित नाम से करना है, वहाँ सत्य की इस सापेक्ष व्याख्या का क्या उपयोग होगा? हम व्यवहार में देखते हैं, कि यदि किसी की बातचीत का ठिकाना नहीं है; और यदि वह घण्टे घण्टे में अपनी बात बदलने लगा, तो लोग उसे झूठा कहते हैं। फिर इसी न्याय से 'रुपये' के नामरूप को (भीतरी द्रव्य को नहीं) खोटा अथवा झूठा कहने में क्या हानि है? क्योंकि रुपये का जो नामरूप आज इस घड़ी है, उसे दूर करके, उसके बदले 'करधनी या 'कटोरे' का नामरूप उसे दूसरे ही दिन दिया जा सकता है; अर्थात् हम अपनी आँखों से देखते हैं, कि यह नामरूप हमेशा बदलता रहता है – नित्यता कहाँ है? अब यदि कहें, कि जो आँखों से दीख पड़ता है, उसके सिवा अन्य कुछ

* कान्ट ने अपने Critique of Pure Reason नामक ग्रन्थ में यह विचार किया है। नामरूपात्मक संसार की जड़ में जो द्रव्य है, उसे उसने 'डिंग आन् झिश्' (Ding an sich–Thing in itself) कहा है; और हमने उसी का भाषान्तर 'वस्तुतत्त्व' किया है। नामरूपों के बाहरी दृश्य को कान्ट ने 'एरशायनुंग' (Erscheinung-appearance) कहा है। कान्ट कहता है, कि वस्तुतत्त्व अज्ञेय है।

सत्य नहीं है; तो एकीकरण की जिस मानसिक क्रिया में सृष्टिज्ञान होता है, वह भी तो आँखों से नहीं दीख पड़ती। अतएव उसे भी झूठ कहना पड़ेगा। इस कारण हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसे भी असत्य, झूठ कहना पड़ेगा। इन पर (और ऐसी ही दूसरी कठिनाइयों पर) ध्यान दे कर ' चक्षुर्वै सत्यं ' जैसे सत्य के लौकिक और सापेक्ष लक्षण को ठीक नहीं माना है। किन्तु सर्वोपनिषद् में सत्य की यही व्याख्या की है, कि सत्य वही है, जिसका अन्य बातों के नाश हो जाने पर भी कभी नाश नहीं होता। और इसी प्रकार महाभारत में भी सत्य का यही लक्षण बतलाया गया है –

सत्यं नामाऽव्ययं नित्यमविकारि तथैव च। *

अर्थात् ' सत्य वही है कि जो अव्यय है अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता; जो नित्य है अर्थात् सदासर्वदा बना रहता है; और अविकारी है अर्थात् जिसका स्वरूप कभी बदलता नहीं ' (म. भा. शां. १६२. १०)। अभी कुछ और थोड़ी देर में कुछ करनेवाले मनुष्य को झूठा कहने का कारण यही है, कि वह अपनी बात पर स्थिर नहीं रहता – इधर उधर डगमगता रहता है। सत्य के इस निरपेक्ष लक्षण को स्वीकार कर लेने पर कहना पड़ता है, कि आँखों से दीख पड़नेवाला, पर हर घड़ी में बदलनेवाला नामरूप मिथ्या है। उस नामरूप से ढँका हुआ और उसी के मूल में सदैव एक ही सा स्थित रहनेवाला अमृत वस्तु-तत्त्व ही – वह आँखों से भले ही न दीख पड़े – ठीक ठीक सत्य है। भगवद्गीता में ब्रह्म का वर्णन इसी नीति से किया गया है, ' यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ' (गी. ८. २०; १३. २७) – अक्षर ब्रह्म वही है, कि जो सब पदार्थ अर्थात् सभी पदार्थों के नामरूपात्मक शरीर न रहने पर भी नष्ट नहीं होता। महाभारत में नारायणीय अथवा भागवतधर्म के निरूपण में यही श्लोक पाठभेद से फिर ' यः स सर्वेषु भूतेषु ' के स्थान में 'भूतग्रामशरीरेषु' होकर आया है (म. भा. शां. ३३९. २३)। ऐसे ही गीता के दूसरे अध्याय के सोलहवे और सत्रहवे श्लोकों का तात्पर्य भी वही है। वेदान्त में जब आभूषण को 'मिथ्या' और सुवर्ण को 'सत्य' कहते हैं, तब उसका यह मतलब नहीं है, कि वह जेवर निरुपयोगी या बिलकुल खोटा है – अर्थात् आँखों से दिखाई नहीं पड़ता, या मिट्टी पर पन्नी चिपका कर बनाया गया है – अर्थात् वह अस्तित्व में है ही नहीं। यहाँ 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग पदार्थ के रङ्ग, रूप आदि गुणों के लिये और आकृति के लिये अर्थात् ऊपरी दृश्य के लिये किया गया है। भीतरी द्रव्य से

* ग्रीन ने real (सत् या सत्य) की व्याख्या बतलाते समय " Whatever anything is really it is unalterably कहा है (Prolegomena to Ethics § 25)। ग्रीन की यह व्याख्या और महाभारत की उक्त व्याख्या दोनों तत्त्वतः एक ही हैं।

उसका प्रयोजन नहीं है। स्मरण रहे, कि तात्त्विक द्रव्य तो सदैव 'सत्य' है। वेदान्ती यही देखता है, कि पदार्थमात्र के नामरूपात्मक आच्छादन के नीचे मूल कौन-सा तत्त्व है; और तत्त्वज्ञान का सच्चा विषय है भी यही। व्यवहार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि गहना गढ़वाने में चाहे जितना मेहनताना देना पड़ा हो; पर आपत्ति के समय जब उसे बेचने के लिये सराफ की दूकान पर ले जाते हैं, तब वह साफ़ साफ़ कह देता है, कि 'मैं नहीं जानना चाहता, कि गहना गढ़वाने में तोले पीछे क्या उज़रत देनी पड़ी है। यदि सोने के चलत् भाव में बेचना चाहो, तो हम ले लेंगे!' वेदान्त की परिभाषा में इसी विचार को इस ढँग से व्यक्त करेंगे :– सराफ़ को गहना मिथ्या और उनका सोना भर सत्य दीख पड़ता है। इसी प्रकार यदि किसी नये मकान को बेचें, तो उसकी सुन्दर बनावट (रूप) और गुञ्जाइश की जगह (आकृति) बनाने में जो खर्च लगा होगा, उसकी ओर खरीददार ज़रा भी ध्यान नहीं देता। वह कहता है, कि ईंट-चुना, लकड़ी-पत्थर और मज़दूरी की लागत में यदि बेचना चाहो, तो बेच डालो। इन दृष्टान्तों से वेदान्तियों के इस कथन को पाठक भली भाँति समझ जावेंगे, कि नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है; और ब्रह्म सत्य है। 'दृश्य जगत् मिथ्या है' इसका अर्थ यह नहीं, कि वह आँखों से दीख ही नहीं पड़ता। किन्तु इसका ठीक ठीक अर्थ यही है, कि वह आँखों से तो दीख पड़ता है; पर एक ही द्रव्य के नामरूप-भेद के कारण जगत् के बहुतेरे जो स्थलकृत अथवा कालकृत दृश्य हैं, वे नाशवान् हैं; और इसी से मिथ्या हैं। इन सब नामरूपात्मक दृश्यों के आच्छादन में छिपा हुआ सदैव वर्तमान, जो अविनाशी और अविकारी द्रव्य है, वही नित्य और सत्य है। सराफ़ को कड़े, कङ्गन, गुञ्ज और अँगूठियाँ खोटी जँचती हैं। उसे सिर्फ़ उनका सोना सच्चा जँचता है। परन्तु सृष्टि के सुनार के कारखाने में मूल में ऐसा एक द्रव्य है, कि जिसके भिन्न भिन्न नामरूप दे कर सोना, चाँदी, लोहा, पत्थर, लकड़ी, हवा-पानी आदि सारे गहने गढ़वाये जाते हैं। इसलिये सराफ़ की अपेक्षा वेदान्ती कुछ और आगे बढ़कर सोना, चाँदी या पत्थर प्रभृति नामरूपों को जेवर के ही समान मिथ्या समझ कर सिद्धान्त करता है, कि इन सब पदार्थों के मूल में जो द्रव्य अर्थात् 'वस्तुतत्त्व' मौजूद है, वही सच्चा अर्थात् अविकारी सत्य है। इस वस्तुतत्त्व में नामरूप आदि कोई भी गुण नहीं हैं। इस कारण इसे नेत्र आदि इंद्रियाँ कभी भी नहीं जान सकतीं। परन्तु आँखों से न दीख पड़ने, नाक से न सूँघे जाने अथवा हाथ से न टटोले जाने पर भी बुद्धि से निश्चयपूर्वक अनुमान किया जाता है, कि अव्यक्त रूप से वह होगा अवश्य ही! न केवल इतना ही; बल्कि यह भी निश्चय करना पड़ता है, कि इस जगत् में कभी भी न बदलनेवाला 'जो कुछ' है, वह यही सत्य वस्तुतत्त्व है। जगत् का मूल सत्य इसी को कहते हैं। परन्तु जो नासमझ – विदेशी और कुछ स्वदेशी पण्डित-

मन्य भी (सत्य और मिथ्या शब्दों के वेदान्तशास्त्रवाले पारिभाषिक अर्थ को न तो सोचते-समझते हैं; और न यह देखने का ही कष्ट उठाते हैं, कि सत्य शब्द का जो अर्थ हमें सूझता है, उसकी अपेक्षा इसका अर्थ कुछ और भी हो सकेगा या नहीं, वे) यह कह कर अद्वैत वेदान्त का उपहास किया करते हैं, कि " हमें जो जगत् आँखों से प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, उसे भी वेदान्ती लोग मिथ्या कहते हैं। भला, यह कोई बात है ! " परन्तु यास्क के शब्दों में कह सकते हैं, कि यदि अन्धे को खम्भा नहीं समझता, तो इसका दोषी कुछ खम्भा नहीं है ! छांदोग्य (६. १; और ७. १), बृहदारण्यक (१. ६. ३), मुण्डक (३. २. ८) और प्रश्न (६. ५) आदि उपनिषदों में बारंबार बतलाया गया है, कि नित्य बदलते रहनेवाले अर्थात् नाशवान् नामरूप सत्य नहीं है। जिसे सत्य अर्थात् नित्य स्थिर तत्त्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टि को इन नामरूपों से बहुत आगे पहुँचना चाहिये। इसी नामरूप को कठ (२. ५) और मुण्डक (१. २. ९) आदि उपनिषदों में 'अविद्या' तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४. १०) में माया कहा है। भगवद्गीता में 'माया', 'मोह' और 'अज्ञान' शब्दों से वही अर्थ विवक्षित है। जगत् के आरम्भ में कुछ था। वह बिना नामरूप का था – अर्थात् निर्गुण और अव्यक्त था। फिर आगे चल कर नामरूप मिल जाने से वही व्यक्त और सगुण बन जाता है (बृ. १. ४. ७; छां. ६. १. २. ३.)। अतएव विकारवान् अथवा नाशवान् नामरूप को ही 'माया' नाम दे कर कहते हैं, कि यह सगुण अथवा दृश्य सृष्टि एक मूलद्रव्य अर्थात् ईश्वर की माया का खेल या लीला है। अब इस दृष्टि से देखें, तो सांख्यों की प्रकृति अव्यक्त भली बनी रहे; पर वह सत्त्वरजतम-गुणमयी है, अतः नामरूप से युक्त माया ही है। इस प्रकृति से विश्व की जो उत्पत्ति या फैलाव होता है (जिसका वर्णन आठवें प्रकरण में किया है), वह भी तो उस माया का सगुण नामरूपात्मक विकार है। क्योंकि कोई भी गुण हो; वह इन्द्रियों को गोचर होनेवाला और इसी से नामरूपात्मक ही रहेगा। सारे आधिभौतिक शास्त्र भी इसी प्रकार माया के वर्ग में आ जाते हैं। इतिहास, भूगर्भशास्त्र, विद्युच्छास्त्र, रसायन-शास्त्र, पदार्थविज्ञान आदि कोई भी शास्त्र लीजिये; उसमें सब नामरूप का ही तो विवेचन रहता है – अर्थात् यही वर्णन होता है, कि किसी पदार्थ का एक नामरूप चला जा कर उसे दूसरा नामरूप कैसे मिलता है। उदाहरणार्थ, नामरूप के भेद का ही विचार इस शास्त्र में इस प्रकार रहता है :– जैसे पानी जिसका नाम है, उसको भाफ़ नाम कब और कैसे मिलता है, अथवा काले-कलूटे तारकोल से लाल-हरे, नीले-पीले रँगने के रङ्ग (रूप) क्योंकर बनते हैं, इत्यादि। अतएव नामरूप में ही उलझे हुए इन शास्त्रों के अभ्यास से उस सत्य वस्तु का बोध नहीं हो सकता, कि जो नामरूप से परे है। प्रकट है, कि जिसे सच्चे ब्रह्मस्वरूप का पता

लगाना हो, उसको अपनी दृष्टि इन सब आधिभौतिक अर्थात् नामरूपात्मक शास्त्रों से पहुँचानी चाहिये। और यही अर्थ छान्दोग्य उपनिषद् में सातवे अध्याय के आरंभ की कथा में व्यक्त किया गया है। कथा का आरम्भ इस प्रकार है :– नारद ऋषि सनत्कुमार अर्थात् स्कन्द के यहाँ जा कर कहने लगे, कि 'मुझे आत्मज्ञान बतलाओ' तब सनत्कुमार बोले, कि 'पहले बतलाओ, तुमने क्या सीखा है, फिर मैं बतलाता हूँ।' इस पर नारद ने कहा, कि 'मैंने इतिहास-पुराणरूपी पाँचवे वेदसहित ऋग्वेद प्रभृति समग्र वेद, व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, कालशास्त्र, सभी वेदांग, धर्मशास्त्र, भूतविद्या, क्षेत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, और सर्पदेवजनविद्या-प्रभृति सब कुछ बढ़ा है। परन्तु जब इससे आत्मज्ञान नहीं हुआ, तब अब तुम्हारे यहाँ आया हूँ।' इसको सनत्कुमार ने यह उत्तर दिया, कि 'तूने जो कुछ सीखा है, वह तो सारा नामरूपात्मक है। सच्चा ब्रह्म इस नामब्रह्म से बहुत आगे है;' और फिर नारद को क्रमशः इस प्रकार पहचान करा दी, कि इस नामरूप के अर्थात् सांख्यों की अव्यक्त प्रकृति से अथवा वाणी, आशा, संकल्प, मन, बुद्धि (ज्ञान) और प्राण से भी परे एवं उनसे बढ़-चढ़ कर जो है, वही परमात्मरूपी अमृततत्त्व है।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया, उसका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि मनुष्य की इन्द्रियों को नामरूप के अतिरिक्त और किसी का भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, तो भी इस अनित्य नामरूप के आच्छादन से ढँका हुआ लेकिन आँखों से न दीख पड़नेवाला अर्थात् कुछ-न-कुछ अव्यक्त नित्य द्रव्य रहना ही चाहिये; और इसी कारण सारी सृष्टि का ज्ञान हमें एकता से होता रहता है। जो कुछ ज्ञान होता है, सो आत्मा को ही होता है। इसलिये आत्मा ही ज्ञाता यानी जाननेवाला हुआ। और इस ज्ञाता को नामरूपात्मक सृष्टि का ही ज्ञान होता है। अतः नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि ज्ञात हुई (म. भा. शां. ३०६. ४०) और इस नामरूपात्मक सृष्टि के मूल में जो कुछ वस्तुतत्त्व है, वही ज्ञेय है। इसी वर्गीकरण को मान कर भगवद्गीता ने ज्ञाता को क्षेत्रज्ञ आत्मा और ज्ञेय को इन्द्रियातीत नित्य परब्रह्म कहा है (गी. १३. १२–१७)। और फिर आगे ज्ञान के तीन भेद करके कहा है, कि भिन्नता या नानात्व से जो सृष्टिज्ञान होता है, तथा इस नानात्व का जो ज्ञान एकत्वरूप से होता है, वह सात्त्विक ज्ञान है (गी. १८. २०. २१)। इस पर कुछ लोग कहते हैं, कि इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का तीसरा भेद करना ठीक नहीं है। एवं यह मानने के लिये हमारे पास कुछ भी प्रमाण नहीं है, कि हमें जो कुछ ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा जगत् में और भी कुछ है। गाय, घोड़े प्रभृति जो बाह्य वस्तुएँ हमें दीख पड़ती हैं, वह तो ज्ञान ही है; जो कि हमें होता है। और यद्यपि यह ज्ञान सत्य है, तो भी यह बतलाने के लिये (कि वह ज्ञान है काहे का) हमारे पास ज्ञान को छोड़ और कोई मार्ग

ही नहीं रह जाता। अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि इस ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ के नाते कुछ स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं; अथवा इन बाह्य वस्तुओं के मूल में और कोई स्वतन्त्र तत्त्व है। क्योंकि जब ज्ञाता ही न रहा, तब जगत् कहाँ से रहे ? इस दृष्टि से विचार करने पर उक्त तीसरे वर्गीकरण में – अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में – ज्ञेय नहीं रह पाता। ज्ञाता और उसको होनेवाला ज्ञान, यही दो बच जाते हैं; और इसी युक्ति को और ज़रा-सा आगे ले चलें, तो 'ज्ञाता' या 'द्रष्टा' भी तो एक प्रकार का ज्ञान ही है। इसलिये अन्त में ज्ञान के सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं रहती। इसी को 'विज्ञानवाद' कहते हैं; और योगाचार पन्थ के बौद्धों ने इसे ही प्रमाण माना है। इस पन्थ के विद्वानों ने प्रतिपादन किया है, कि ज्ञाता के ज्ञान के अतिरिक्त इस जगत् में और कुछ भी स्वतंत्र नहीं है। और तो क्या ? दुनिया ही नहीं है। जो कुछ है, मनुष्य का ज्ञान ही ज्ञान है। अंग्रेज़ ग्रन्थकारों में भी ह्यूम जैसे पण्डित इस ढँग के मत के पुरस्कर्ता हैं। परन्तु वेदान्तियों को यह मत मान्य नहीं है। वेदान्तसूत्रों (२. २. २८–३२) में आचार्य बादरायण ने और इन्हीं सूत्रों के भाष्य में श्रीमच्छंकराचार्य ने इस मत का खण्डन किया है। यह कुछ झूठ नहीं, कि मनुष्य के मन पर जो संस्कार होते हैं, अन्त में वे ही उसे विदित रहते हैं; और इसी को हम ज्ञान कहते हैं। परन्तु अब प्रश्न होता है, कि यदि इस ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; तो 'गाय'-सम्बन्धी ज्ञान जुदा है, 'घोड़ा'-सम्बन्धी ज्ञान जुदा है; और 'मैं'-विषयक ज्ञान जुदा है – इस प्रकार ज्ञान-ज्ञान में ही जो भिन्नता हमारी बुद्धि को जँचती है, उसका कारण क्या है ? माना कि, ज्ञान होने की मानसिक क्रिया सर्वत्र एक ही है। परन्तु यदि कहा जाय, कि इसके सिवा और कुछ है ही नहीं; तो गाय, घोड़ा इत्यादि भिन्न भिन्न भेद आ गये कहाँ से ? यदि कोई कहे, कि स्वप्न की सृष्टि के समान मन आप ही अपनी मर्जी से ज्ञान के ये भेद बनाया करता है; तो स्वप्न की सृष्टि से पृथक् जागृत अवस्था के ज्ञान में जो एक प्रकार का ठीक ठीक सिलसिला मिलता है, उसका कारण बतलाते नहीं बनता (वे. सू. शां. भा. २. २. २९; ३. २. ४),। अच्छा; यदि कहें कि ज्ञान को छोड़ दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है; और 'द्रष्टा' का मन ही सारे भिन्न भिन्न पदार्थों को निर्मित करता है; तो प्रत्येक द्रष्टा को 'अहंपूर्वक' यह सारा ज्ञान होना चाहिये, कि 'मेरा मन यानी मैं ही खम्भा हूँ;' अथवा 'मैं ही गाय हूँ'। परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? इसी से शंकराचार्य ने सिद्धान्त किया है, कि जब सभी को यह प्रतीति होती है, कि मैं अलग हूँ; और मुझ से खम्भा और गाय प्रभृति पदार्थ भी अलग हैं; तब द्रष्टा के मन में समूचा ज्ञान होने के लिये इस आधारभूत बाह्य सृष्टि में कुछ-न-कुछ स्वतन्त्र वस्तुएँ अवश्य होनी चाहिये (वे. सू. शां. भा. २. २. २८)। कान्ट का मत भी इसी प्रकार का है। उसने स्पष्ट कह दिया है,

कि सृष्टि का ज्ञान होने के लिये यद्यपि मनुष्य की बुद्धि का एकीकरण आवश्यक है, तथापि बुद्धि इस ज्ञान को सर्वथा अपनी ही गाँठ से – अर्थात् निराधार या बिलकुल नया नहीं उत्पन्न कर देती। उसे सृष्टि की बाह्य वस्तुओं की सदैव अपेक्षा रहती है। यहाँ कोई प्रश्न करे, कि 'क्योंजी! शंकराचार्य एक बार बाह्यसृष्टि को मिथ्या कहते हैं; और फिर दूसरी बार बौद्धों का खण्डन करने में उसी बाह्यसृष्टि के अस्तित्व को 'द्रष्टा' के अस्तित्व के समान ही सत्य प्रतिपादन करते हैं। इन बे-मेल बातों का मिलान होगा कैसे?' पर इस प्रश्न का उत्तर पहले ही बतला चुके हैं। आचार्य जब बाह्यसृष्टि को मिथ्या या असत्य कहते हैं, तब उसका इतना ही अर्थ समझना चाहिये, कि बाह्यसृष्टि का दृश्य नामरूप असत्य अर्थात् विनाशवान् है। नामरूपात्मक बाह्य दृश्य मिथ्या बना रहे; पर उससे इस सिद्धान्त में रत्ती भर भी आँच नहीं लगती, कि उस बाह्यसृष्टि के मूल में कुछ-न-कुछ इन्द्रियातीत सत्यवस्तु है। क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार में जिस प्रकार यह सिद्धान्त किया है, कि देहेंद्रिय आदि विनाशवान् नामरूपों के मूल में कोई नित्य आत्मतत्त्व है; उसी प्रकार कहना पड़ता है, कि नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि के मूल में भी कुछ-न-कुछ नित्य आत्मतत्त्व है। अतएव वेदान्तशास्त्र ने निश्चित किया है, कि देहेन्द्रियों और बाह्यसृष्टि के निशिदिन बदलनेवाले अर्थात् मिथ्या दृश्यों के मूल में – दोनों ही ओर – कोई नित्य अर्थात् सत्य द्रव्य छिपा हुआ है। इसके आगे अब प्रश्न होता है, कि दोनों ओर जो ये नित्य तत्त्व हैं, वे अलग अलग हैं या एकरूपी हैं? परन्तु इसका विचार फिर करेंगे। इस मत पर मौके-बेमौके इसकी अर्वाचीनता के सम्बन्ध में जो आक्षेप हुआ करता है, उसीका थोड़ा-सा विचार करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं, कि बौद्धों का विज्ञानवाद यदि वेदान्तशास्त्र को सम्मत नहीं है, तो श्रीशंकराचार्य के मायावाद का भी तो प्राचीन उपनिषदों में वर्णन नहीं है; इसलिये उसे भी वेदान्तशास्त्र का मूलभाग नहीं मान सकते। श्रीशंकराचार्य का मत – कि जिसे मायावाद कहते हैं – यह है, कि बाह्यसृष्टि का आँखों से दीख पड़नेवाला नामरूपात्मक स्वरूप मिथ्या है। उसके मूल में जो अव्यय और नित्यद्रव्य है, वही सत्य है। परन्तु उपनिषदों का मन लगा कर अध्ययन करने से कोई भी सहज ही जान जावेगा, कि यह आक्षेप निराधार है। यह पहले ही बतला चुके हैं, कि 'सत्य' शब्द का उपयोग साधारण व्यवहार में आँखों से प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाली वस्तु के लिये किया जाता है। अतः 'सत्य' शब्द के इसी प्रचलित अर्थ को ले कर उपनिषदों में कुछ स्थानों पर आँखों से दीख पड़नेवाले नामरूपात्मक बाह्य पदार्थों को 'सत्य' और इन नामरूपों से आच्छादित द्रव्य को 'अमृत' नाम दिया गया है। उदाहरण लीजिये। बृहदारण्यक उपनिषद् (१. ६. ३) में 'तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं' – वह अमृत सत्य से

आच्छादित है – कह कर फिर अमृत और सत्य शब्दों की यह व्याख्या की है, कि ' प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्रच्छन्नः ' अर्थात् प्राण अमृत है; और नामरूप सत्य है। एवं इस नामरूप सत्य से प्राण ढँका हुआ है। यहाँ प्राण का अर्थ प्राणस्वरूपी परब्रह्म है। इससे प्रकट है, कि आगे के उपनिषदों में जिसे 'मिथ्या' और 'सत्य' कहा है, पहले उसी के नाम क्रम से 'सत्य' और 'अमृत' थे। अनेक स्थानों पर इसी अमृत को ' सत्यस्य सत्यं ' – आँखों से दीख पड़नेवाले सत्य के भीतर का अन्तिम सत्य (बृ. २. ३. ६) – कहा है। किन्तु उक्त आक्षेप इतने ही से सिद्ध नहीं हो जाता, कि उपनिषदों में कुछ स्थानों पर आँखों से दीख पड़नेवाली सृष्टि को ही सत्य कहा है। क्योंकि बृहदारण्यक में ही अन्त में यह सिद्धान्त किया है, कि आत्मरूप परब्रह्म को छोड़, और सब 'आर्तम्' अर्थात् विनाशवान् है (बृ. ३. ७. २३)। जब पहले पहल जगत् के मूलतत्त्व की खोज होने लगी, तब शोधक लोग आँखों से दीख पड़नेवाले जगत् को पहले से ही सत्य मान कर ढूँढ़ने लगे, कि उसके पेट में और कौन-सा सूक्ष्म सत्य छिपा हुआ है। किन्तु फिर ज्ञात हुआ, कि जिस दृश्य सृष्टि के रूप को हम सत्य मानते हैं, वह तो असल में विनाशवान् है; और उसके भीतर कोई अविनाशी या अमृत तत्त्व मौजूद है। दोनों के बीच के इस भेद को जैसे जैसे अधिक व्यक्त करने की आवश्यकता होने लगी, वैसे वैसे 'सत्य' और 'अमृत' शब्दों के स्थान में 'अविद्या' और 'विद्या', एवं अन्त में ' माया और सत्य ' अथवा ' मिथ्या और सत्य ' इन पारिभाषिक शब्दों का प्रचार होता गया। क्योंकि 'सत्य' शब्द का धात्वर्थ ' सदैव रहनेवाला ' है। इस कारण नित्य बदलनेवाले और नाशवान् नामरूप को सत्य कहना उत्तरोत्तर और भी अनुचित जँचने लगा। परन्तु इस रीति से ' माया अथवा मिथ्या ' शब्दों का प्रचार पीछे भले ही हुआ हो; तो भी ये विचार बहुत पुराने ज़माने से चले आ रहे हैं, कि जगत् की वस्तुओं का वह दृश्य, जो नज़र से दीख पड़ता है, विनाशी और असत्य है। एवं उसका आधारभूत ' तात्त्विक द्रव्य ' ही सत् या सत्य है। प्रत्यक्ष ऋग्वेद में भी कहा, कि ' एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ' (१. १६४. ४६. ५६ और १०. ११४. ५) – मूल में जो एक और नित्य (सत्) है, उसी को विप्र (ज्ञाता) भिन्न भिन्न नाम देते हैं – अर्थात् एक ही सत्य वस्तु नामरूप से भिन्न भिन्न दीख पड़ती है। ' एक रूप के अनेक रूप कर दिखलाने ' के अर्थ में, यह 'माया' शब्द ऋग्वेद में भी प्रयुक्त है; और वहाँ यह वर्णन है, कि ' इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते ' – इन्द्र अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है (ऋ. ६. ४७. १८)। तैत्तिरीय संहिता (३. १. ११) में एक स्थान पर 'माया' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है; और श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस 'माया' शब्द का नामरूप के लिये उपयोग हुआ है। जो हो; नामरूप के लिये 'माया' शब्द के प्रयोग किये

जाने की रीति श्वेताश्वतर उपनिषद् के समय में भले ही चल निकली हो; पर इतना तो निर्विवाद है, कि नामरूप के अनित्य अथवा असत्य होने की कल्पना इससे पहले की है। 'माया' शब्द का विपरीत अर्थ करके श्रीशंकराचार्य ने यह कल्पना नई नहीं चला दी है। नामरूपात्मक सृष्टि के स्वरूप को जो श्रीशंकराचार्य के समान बेधड़क 'मिथ्या' कह देने की हिम्मत न कर सकें; अथवा जैसा गीता में भगवान् ने उसी अर्थ में 'माया' शब्द का उपयोग किया है; वैसा करने से जो हिचकते हों, वे चाहें तो खुशी से बृहदारण्यक उपनिषद् के 'सत्य' और 'अमृत' शब्दों का उपयोग करें। कुछ भी क्यों न कहा जावें; पर इस सिद्धान्त में ज़रा-सी चोट भी नहीं लगती, कि नामरूप 'विनाशवान्' है; और जो तत्त्व उससे आच्छादित है, वह 'अमृत' या 'अविनाशी' है। एवं यह भेद प्राचीन वैदिक काल से चला आ रहा है।

अपने आत्मा को नामरूपात्मक बाह्यसृष्टि के सारे पदार्थों का ज्ञान होने के लिये 'कुछ-न-कुछ' एक ऐसा नित्य मूल द्रव्य होना चाहिये, कि जो आत्मा का आधारभूत हो; और उसीके मेल का हो। एवं बाह्यसृष्टि के नाना पदार्थों की जड़ में वर्तमान रहता हो; नहीं तो यह ज्ञान ही न होगा। किन्तु इतना ही निश्चय कर देने से अध्यात्मशास्त्र का काम समाप्त नहीं हो जाता। बाह्यसृष्टि के मूल में वर्तमान इस नित्य द्रव्य को ही वेदान्ती लोक 'ब्रह्म' कहते हैं; और अब हो सके तो इस ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करना भी आवश्यक है। सारे नामरूपात्मक पदार्थों के मूल में वर्तमान यह नित्य तत्त्व है अव्यक्त। इसलिये प्रकट ही है, कि इसका स्वरूप नामरूपात्मक पदार्थों के समान व्यक्त और स्थूल (जड़) नहीं रह सकता। परन्तु यदि व्यक्त और स्थूल पदार्थों को छोड़ दें, तो मन, स्मृति, वासना, प्राण और ज्ञान प्रभृति बहुत-से ऐसे अव्यक्त पदार्थ हैं, कि जो स्थूल नहीं हैं। एवं यह असम्भव नहीं, कि परब्रह्म इनमें से किसी भी एक-आध के स्वरूप का हो। कुछ लोग कहते हैं, कि प्राण का और परब्रह्म का स्वरूप एक ही है। जर्मन पण्डित शोपेनहर ने परब्रह्म को वासनात्मक निश्चित किया है; और वासना मन का धर्म है। अतः इस मत के अनुसार ब्रह्म मनोमय ही कहा जावेगा (तै. ३. ४)। परन्तु, अब तक जो विवेचन हुआ है, उससे तो यही कहा जावेगा कि – 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ. ३. ३) अथवा 'विज्ञानं ब्रह्म' (तै. ३. ५) – जडसृष्टि के नानात्व का जो ज्ञान एकस्वरूप से हमें ज्ञात होता है, वही ब्रह्म का स्वरूप होगा। हेकेल का सिद्धान्त इसी ढंग का है। परन्तु उपनिषदों में चिद्रूपी ज्ञान के साथ सत् (अर्थात् जगत् की सारी वस्तुओं के अस्तित्व के सामान्य धर्म या सत्तासमानता) का और आनन्द का भी ब्रह्मस्वरूप में ही अन्तर्भाव करके ब्रह्म को सच्चिदानन्दरूपी माना है। इसके अतिरिक्त दूसरा ब्रह्मस्वरूप कहना हो, तो वह ॐकार है। इसकी उपपत्ति इस प्रकार है :– पहले समस्त

अनादि ॐकार से उपजे हैं; और वेदों के निकल चुकने पर उनके नित्य शब्दों से ही चल कर ब्रह्मा ने जब सारी सृष्टि का निर्माण किया है (गी. १७. २३; म. भा. शां. २३१. ५६–५८), तब मूल आरम्भ में ॐकार को छोड़ और कुछ न था। इससे सिद्ध होता है, कि ॐकार ही सच्चा ब्रह्मस्वरूप है (माण्डूक्य. १; तैत्ति. १. ८)। परन्तु केवल अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय, तो परब्रह्म के ये सभी स्वरूप थोड़ेबहुत नामरूपात्मक ही हैं। क्योंकि इन सभी स्वरूपों को मनुष्य अपनी इन्द्रियों से जान सकता है; और मनुष्य को इस रीति से जो कुछ ज्ञात हुआ करता है, वह नामरूप की ही श्रेणी में है। फिर इस नामरूप के मूल में जो अनादि, भीतरबाहर सर्वत्र एक-सा भरा हुआ, एक ही नित्य और अमृत तत्त्व है (गी. १२–१७), उसके वास्तविक स्वरूप का निर्णय ही तो क्योंकर हो? कितने ही अध्यात्मशास्त्री पण्डित कहते हैं, कि कुछ भी हो; यह तत्त्व हमारी इन्द्रियों को अज्ञेय ही रहेगा; और कान्ट ने तो इस प्रश्न पर विचार करना ही छोड़ दिया है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी परब्रह्म के अज्ञेय स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है : 'नेति नेति' – अर्थात् वह नहीं है, कि जिसके विषय में कुछ कहा जा सकता है; ब्रह्म इससे परे है; वह आँखों से दीख नहीं पड़ता; वह वाणी को और मन को भी अगोचर है –" यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" फिर भी अध्यात्मशास्त्र ने निश्चय किया है, कि इन अगम्य स्थिति में भी मनुष्य अपनी बुद्धि से ब्रह्म के स्वरूप का एक प्रकार से निर्णय कर सकता है। ऊपर जो वासना, स्मृति, धृति, आशा, प्राण और ज्ञान प्रभृति अव्यक्त पदार्थ बतलाये गये हैं, उनमें से जो सब से अतिशय व्यापक अथवा सब से श्रेष्ठ निर्णित हो, उसी को परब्रह्म का स्वरूप मानना चाहिये। क्योंकि यह तो निर्विवाद ही है, कि सब अव्यक्त पदार्थों में परब्रह्म श्रेष्ठ है। अब इस दृष्टि से आशा, स्मृति, वासना और धृति आदि का विचार करें, तो ये सब मन के धर्म हैं। अतएव इनकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ हुआ। मन से ज्ञान श्रेष्ठ है; और ज्ञान है बुद्धि का धर्म। अतः ज्ञान से बुद्धि श्रेष्ठ हुई। और अन्त में यह बुद्धि भी जिसकी नौकर है, वह आत्मा ही सब से श्रेष्ठ है (गी. ३.४२)। 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-प्रकरण' में इसका विचार किया गया है। अब वासना और मन आदि अव्यक्त पदार्थों से यदि आत्मा श्रेष्ठ है, तो आप ही सिद्ध हो गया, कि परब्रह्म का स्वरूप भी वही आत्मा होगा। छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय में इसी युक्ति से काम लिया गया है। और सनत्कुमार ने नारद से कहा है, कि वाणी की अपेक्षा मन अधिक योग्यता का (भूयस्) है। मन से ज्ञान, ज्ञान से बल और इसी प्रकार चढ़ते चढ़ते जब कि आत्मा सब से श्रेष्ठ (भूमन्) है, तब आत्मा ही को परब्रह्म का सच्चा स्वरूप कहना चाहिये। अँग्रेज़ ग्रन्थकारों में ग्रीन ने इसी सिद्धान्त को माना है; किन्तु उसकी युक्तियाँ कुछ कुछ भिन्न हैं। इसलिये यहाँ उन्हें संक्षेप से वेदान्त की परिभाषा में बतलाते हैं। ग्रीन का कथन है, कि हमारे मन पर

इन्द्रियों के द्वारा बाह्य नामरूप के जो संस्कार हुआ करते हैं, उनके एकीकरण से आत्मा को ज्ञान होता है। उस ज्ञान के मेल के लिये बाह्यसृष्टि के भिन्न भिन्न नामरूपों के मूल में भी एकता से रहनेवाली कोई न कोई वस्तु होनी चाहिये। नहीं तो आत्मा के एकीकरण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वकपोलकल्पित और निराधार हो कर विज्ञानवाद के समान असत्य प्रामाणिक हो जायगा। इस 'कोई न कोई' वस्तु को हम ब्रह्म कहते हैं। भेद इतना ही है, कि कान्ट की परिभाषा को मान कर ग्रीन उसको वस्तुतत्त्व कहता है। कुछ भी कहो; अन्त में वस्तुतत्त्व (ब्रह्म) और आत्मा ये ही दो पदार्थ रह जाते हैं, कि जो परस्पर के मेल के हैं। इन में से 'आत्मा' मन और बुद्धि से परे अर्थात् इन्द्रियातीत है। तथापि अपने विश्वास के प्रमाण पर हम माना करते हैं, कि आत्मा जड नहीं है। वह या तो चिद्रूपी है या चैतन्यरूपी है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का निश्चय करके देखना है, कि बाह्यसृष्टि के ब्रह्म का स्वरूप क्या है। इस विषय में यहाँ दो ही पक्ष हो सकते हैं; यह ब्रह्म या वस्तुतत्त्व (१) आत्मा के स्वरूप का होगा या (२) आत्मा से भिन्न स्वरूप का ? क्योंकि, ब्रह्म और आत्मा के सिवा अब तीसरी वस्तु ही नहीं रह जाती। परन्तु सभी का अनुभव यह है, कि यदि कोई भी दो पदार्थ स्वरूप से भिन्न हों, तो उनके परिणाम अथवा कार्य भी भिन्न भिन्न होने चाहिये। अतएव हम लोग पदार्थों के भिन्न अथवा एकरूप होने का निर्णय उन पदार्थों के परिणामों से ही किसी भी शास्त्र में किया करते हैं। एक उदाहरण लीजिये; दो वृक्षों के फल, फूल, पत्ते, छिलके और जड़ को देख कर हम निश्चय करते हैं, कि वे दोनों अलग अलग हैं या एक ही हैं। यदि इसी रीति का अवलम्बन करके यहाँ विचार करें, तो दीख पड़ता है, कि आत्मा और ब्रह्म एक ही स्वरूप के होंगे। क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है, कि सृष्टि के भिन्न भिन्न पदार्थों के जो संस्कार मन पर होते हैं, उनका आत्मा की क्रिया से एकीकरण होता है। इस एकीकरण के साथ उस एकीकरण का मेल होना चाहिये, कि जिसे भिन्न भिन्न बाह्य पदार्थों के मूल में रहनेवाला वस्तुतत्त्व अर्थात् ब्रह्म इन पदार्थों की अनेकता को मेट कर निष्पन्न करता है। यदि इस प्रकार इन दोनों में मेल न होगा, तो समूचा ज्ञान निराधार और असत्य हो जावेगा। एक ही नमूने के और बिलकुल एक दूसरे की जोड़ के एकीकरण करनेवाले ये तत्त्व दो स्थानों पर भले ही हों; परन्तु वे परस्पर भिन्न भिन्न नहीं रह सकते। अतएव यह आप ही सिद्ध होता है, कि इनमें से आत्मा का जो रूप होगा, वही रूप ब्रह्म का भी होना चाहिये।* सारांश, किसी भी रीति से विचार क्यों न किया जाय; सिद्ध यही होगा, कि बाह्यसृष्टि के नाम और रूप से आच्छादित ब्रह्मतत्त्व, नामरूपात्मक प्रकृति के समान जड तो है ही नहीं; किन्तु वासनात्मक

* Green's *Prolegomena to Ethics*, 26–36

ब्रह्म, मनोमय ब्रह्म, ज्ञानमय ब्रह्म, प्राणब्रह्म अथवा ॐकाररूपी शब्दब्रह्म – ये ब्रह्म के रूप भी निम्न श्रेणी के हैं; और ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप इनसे परे है; एवं इनसे अधिक योग्यता का अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपी है। और इस विषय का गीता में अनेक स्थानों पर जो उल्लेख है, उससे स्पष्ट होता है, कि गीता का सिद्धान्त भी यही है (देखो गी. २. २०; ७. ५; ८. ४; १३. ३१; १५. ७, ८)। फिर भी यह न समझ लेना चाहिये, कि ब्रह्म और आत्मा के एकस्वरूप रहने के सिद्धान्त को हमारे ऋषियों ने ऐसी युक्ति-प्रयुक्तियों से ही पहले खोजा था। इसका कारण इसी प्रकरण के आरम्भ में बतला चुके हैं, कि अध्यात्मशास्त्र में अकेली बुद्धि की ही सहायता से कोई भी एक ही अनुमान निश्चित नहीं किया जाता है। उसे सदैव आत्मप्रतीति का सहारा रहना चाहिये। उसके अतिरिक्त सर्वदा देखा जाता है, कि आधिभौतिक शास्त्र में भी अनुभव पहले होता है; और उसकी उपपत्ति या तो पीछे से मालूम हो जाती है, या ढूंढ़ ली जाती है। इसी न्याय से उक्त ब्रह्मात्मैक्य की बुद्धिगम्य उपपत्ति निकलने के सैकड़ों वर्ष पहले हमारे प्राचीन ऋषियों ने निर्णय कर दिया था, कि 'नेह नानाऽस्ति किंचन' (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४. ११) – सृष्टि में दीख पड़नेवाली अनेकता सच नहीं है। उसके मूल में चारों ओर एक ही अमृत, अव्यय और नित्य तत्त्व है (गी. १८. २०)। और फिर उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला, कि बाह्यसृष्टि के नामरूप से आच्छादित अविनाशी तत्त्व और अपने शरीर का वह आत्मतत्त्व – कि जो बुद्धि से परे है – ये दोनों एक ही, अमर और अव्यय हैं; अथवा जो तत्त्व ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में यानी मनुष्य की देह में वास करता है। एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को, गार्गी-वारुणि प्रभृति को और जनक को (बृ. ३. ५–८; ४. २–४) पूरे वेदान्त का यही रहस्य बतलाया है। इसी उपनिषद् में पहले कहा गया है, कि जिसने जान लिया, कि 'अहं ब्रह्मास्मि' – मैं ही परब्रह्म हूँ – उसने सब कुछ जान लिया (बृ. १. ४. १०); और छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में श्वेतकेतु को उसके पिता ने अद्वैत वेदान्त का यही तत्त्व अनेक रीतियों से समझा दिया है। जब अध्याय के आरम्भ में श्वेतकेतु ने अपने पिता से पूछा, कि "जिस प्रकार मिट्टी के एक लौंदे का भेद जान लेने से मिट्टी के नामरूपात्मक सभी विकार जाने जाते हैं, उसी प्रकार जिस एक ही वस्तु का ज्ञान हो जाने से सब कुछ समझ में आ जावे। वही एक वस्तु मुझे बतलाओ, मुझे उसका ज्ञान नहीं।" तब पिता ने नदी, समुद्र, पानी और नमक प्रभृति अनेक दृष्टान्त दे कर समझाया, कि बाह्यसृष्टि के मूल में जो द्रव्य है, वह (तत्) और तू (त्वम्) अर्थात् तेरी देह की आत्मा दोनों एक ही हैं – 'तत्त्वमसि'; एवं ज्योंही तूने अपने आत्मा को पहचाना, त्योंही तुझे आप ही मालूम हो जावेगा, कि समस्त जगत् के मूल में क्या है। इस प्रकार पिता ने श्वेतकेतु को भिन्न भिन्न

नौ दृष्टान्तों से उपदेश किया है; और प्रति बार 'तत्त्वमसि' – वही तू है – इस सूत्र की पुनरावृत्ति की है (छां. ६. ८–१६)। यह 'तत्त्वमसि' अद्वैत वेदान्त के महावाक्यों में मुख्य वाक्य है।

इस प्रकार निर्णय हो गया, कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। परन्तु आत्मा चिद्रूपी है। इसलिये सम्भव है, कि कुछ लोग ब्रह्म को भी चिद्रूपी समझें। अतएव यहाँ ब्रह्म के और उसके साथ ही साथ आत्मा के सच्चे स्वरूप का थोड़ा-सा खुलासा कर देना आवश्यक है। आत्मा के सान्निध्य से जडात्मक बुद्धि में उत्पन्न होनेवाले धर्म को चित् अर्थात् ज्ञान कहते हैं। परन्तु जब कि बुद्धि के इस धर्म को आत्मा पर लादना उचित नहीं है, तब तात्त्विक दृष्टि से आत्मा के मूलस्वरूप को भी निर्गुण और अज्ञेय ही मानना चाहिये। अतएव कई-एकों का मत है, कि यदि ब्रह्म आत्मास्वरूपी है, तो इन दोनों को या इनमें से किसी भी एक को, चिद्रूपी कहना कुछ अंशों में गौण ही है। यह आक्षेप अकेले चिद्रूपी पर ही नहीं है। किन्तु यह आप-ही-आप सिद्ध होता है, कि परब्रह्म के लिये 'सत्' विशेषण का प्रयोग करना उचित नहीं हैं। क्योंकि सत् और असत्, ये दोनों धर्म परस्परविरुद्ध और सदैव परस्परसाक्षेप हैं। अर्थात् भिन्न भिन्न दो वस्तुओंका निर्देश करने के लिये कहे जाते हैं। जिसने कभी उजेला न देखा हो, वह अँधेरे की कल्पना नहीं कर सकता। यही नहीं; किन्तु 'उजेला' और 'अँधेरा' इन शब्दों की यह जोड़ी ही उसको सूझ न पड़ेगी। सत् और असत् शब्दों की जोड़ी (द्वंद्व) के लिये यही न्याय उपयोगी है। जब हम देखते हैं, कि कुछ वस्तुओं का नाश होता है, तब हम सब वस्तुओं के असत् (नाश होनेवाली) और सत् (नाश न होनेवाली), ये दो भेद करने लगते हैं; अथवा सत् और असत् शब्द सूझ पड़ने के लिये मनुष्य की दृष्टि के आगे दो प्रकार के विरुद्ध धर्मों की आवश्यकता होती है। अच्छा; यदि आरम्भ में एक ही वस्तु थी, तो द्वैत के उत्पन्न होने पर दो वस्तुओं के उद्देश से जिन सापेक्ष सत् और असत् शब्दों का प्रचार हुआ है, उनका प्रयोग इस मूलवस्तु के लिये कैसे किया जावेगा? क्योंकि, यदि इसे सत् कहते हैं, तो शंका होती है, कि क्या उस समय उसकी जोड़ का कुछ असत् भी था? यही कारण है, जो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०. १२९) में परब्रह्म कोई भी विशेषण न दे कर सृष्टि के मूलभूत का वर्णन इस प्रकार किया है, कि 'जगत् के आरम्भ में न तो सत् था; और न असत् ही था। जो कुछ था वह एक ही था।' इन सत् और असत् शब्दों की जोड़ियाँ (अथवा द्वन्द्व) तो पीछे से निकली हैं; और गीता (७. २८; २. ४५) में कहा है, कि सत् और असत्, शीत और उष्ण द्वन्द्वों से जिसकी बुद्धि मुक्त हो जाय, वह इन सब द्वन्द्वों से परे अर्थात् निर्द्वन्द्व ब्रह्मपद को पहुँच जाता है। इससे दीख पड़ेगा, कि अध्यात्मशास्त्र के विचार कितने गहन और सूक्ष्म हैं। केवल तर्कदृष्टि से विचार करें, तो परब्रह्म का अथवा

आत्मा का भी अज्ञेयत्व स्वीकार किये बिना गति ही नहीं रहती। परन्तु ब्रह्म इस प्रकार अज्ञेय और निर्गुण अतएव इंद्रियातीत हो; तो भी यह प्रतीति हो सकती है, कि परब्रह्म का भी वही स्वरूप है; जो कि हमारे निर्गुण तथा अनिर्वाच्य आत्मा का है; और जिसे हम साक्षात्कार से पहचानते हैं। इसका कारण यह है, कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आत्मा की साक्षात् प्रतीति होती ही है। अतएव अब यह सिद्धान्त निरर्थक नहीं हो सकता, कि ब्रह्म और आत्मा एकस्वरूपी हैं। इस दृष्टि से देखें, तो ब्रह्मस्वरूप के विषय में इसकी अपेक्षा कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, कि ब्रह्म आत्मस्वरूपी है। शेष बातों के सम्बन्ध में अपने अनुभव को ही पूरा प्रमाण मानना पड़ता है। किन्तु बुद्धिगम्य शास्त्रीय प्रतिपादन में जितना शब्दों से हो सकता है, उतना खुलासा कर देना आवश्यक है। इसीलिये यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र एक-सा व्याप्त, अज्ञेय और अनिर्वाच्य है, तो भी जडसृष्टि का और आत्मस्वरूपी ब्रह्मतत्त्व का भेद व्यक्त करने के लिये, आत्मा के सान्निध्य से जड-प्रकृति में चैतन्यरूपी जो गुण हमें दृग्गोचर होता है, उसी को आत्मा का प्रधान लक्षण मान कर अध्यात्मशास्त्र में आत्मा और ब्रह्म दोनों को चिद्रूपी या चैतन्य-रूपी कहते हैं। क्योंकि यदि ऐसा न करें, तो आत्मा और ब्रह्म दोनों ही निर्गुण, निरंजन एवं अनिर्वाच्य होने के कारण उनके रूप का वर्णन करने में या तो चुप्पी साध जाना पड़ता है या शब्दों में किसी ने कुछ वर्णन किया, तो 'नहीं नहीं' का यह मन्त्र रटना पड़ता है, कि 'नेति नेति। एतस्मादन्यत्परमस्ति।' – यह नहीं है, यह (ब्रह्म) नहीं है (यह तो नामरूप हो गया)। सच्चा ब्रह्म इससे परे और ही है। इस नकारात्मक पाठ का आवर्तन करने के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता (बृ. २. ३. ६)। यही कारण है, जो सामान्य रीति से ब्रह्म के स्वरूप के लक्षण चित् (ज्ञान), सत् (सत्तामात्रत्व अथवा अस्तित्व) और आनन्द बतलाये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि ये लक्षण अन्य सभी लक्षणों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। फिर भी स्मरण रहे, कि शब्दों से ब्रह्मस्वरूप की जितनी पहचान हो सकती है, उतनी करा देने के लिये ये लक्षण भी कहे गये हैं। वास्तविक ब्रह्मस्वरूप निर्गुण ही है। उसका ज्ञान होने के लिये उसका अपरोक्षा-नुभव ही होना चाहिये। यह अनुभव कैसे हो सकता है? – इंद्रियातीत होने के कारण अनिर्वाच्य ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को कब और कैसे होता है? – इस विषय में हमारे शास्त्रकारों ने जो विवेचन किया है, उसे यहाँ संक्षेप में बतलाते हैं।

ब्रह्म और आत्मा की एकता के उक्त समीकरण को सरल भाषा में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं, कि 'जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है'। जब इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव हो जावे, तब यह भेदभाव नहीं रह सकता, कि ज्ञाता अर्थात् द्रष्टा भिन्न वस्तु है; और ज्ञेय अर्थात् देखने की वस्तु अलग है।

किन्तु इस विषय में शंका हो सकती है, कि मनुष्य जब तक जीवित है, तब तक उसकी नेत्र आदि इन्द्रियाँ यदि छूट नहीं जाती हैं; तो इन्द्रियाँ पृथक् हुई और उनको गोचर होनेवाले विषय पृथक् हुए – यह भेद छूटेगा तो कैसे? और यदि यह भेद नहीं छूटता, तो ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव कैसे होगा? अब यदि इन्द्रिय-दृष्टि से ही विचार करें, तो यह शंका एकाएक अनुचित भी नहीं जान पड़ती। परन्तु हाँ, गंभीर विचार करने लगे, तो जान पड़ेगा, कि इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को देखने का काम खुद मुख्तारी से – अपनी ही मर्जी से – नहीं किया करती हैं। पहले बतला दिया है, कि "चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा" (म. भा. शां. ३११. १७) – किसी भी वस्तु को देखने के लिये (और सुनने आदि के लिये भी) नेत्रों को (ऐसे ही कान प्रभृति को भी) मन की सहायता आवश्यक है। यदि मन शून्य हो, किसी और विचार में डूबा हो, तो आँखों के आगे धरी हुई वस्तु भी नहीं सूझती! व्यवहार में होनेवाले इस अनुभव पर ध्यान देने से सहज ही अनुमान होता है, कि नेत्र आदि इन्द्रियों के अक्षुण्ण रहते हुए भी मन को यदि उनमें से निकाल लें, तो इन्द्रियों के द्वन्द्व बाह्यसृष्टि में वर्तमान होने पर भी अपने लिये न होने के समान रहेंगे। फिर परिणाम यह होगा, कि मन केवल आत्मा में अर्थात् आत्मस्वरूपी ब्रह्म में ही रत रहेगा। इससे हमें ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार होने लगेगा। ध्यान से, समाधि से, एकान्त उपासना से अथवा अत्यन्त ब्रह्मविचार करने से, अन्त में यह मानसिक स्थिति जिसको प्राप्त हो जाती है, फिर उसकी नज़र के आगे दृश्य सृष्टि के द्वन्द्व या भेद नाचते भले रहा करें; पर वह उनसे लापरवाह है – उसे वे दीख ही नहीं पड़ते; और उसको अद्वैत ब्रह्मस्वरूप का आप-ही-आप पूर्ण साक्षात्कार होता जाता है। पूर्ण ब्रह्मज्ञान से अन्त में परमावधि की जो यह स्थिति प्राप्त होती है, उसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का तीसरा भेद अर्थात् त्रिपुटी नहीं रहती; अथवा उपास्य और उपासक का द्वैतभाव भी नहीं बचने पाता। अतएव यह अवस्था और किसी दूसरे को बतलाई नहीं जा सकती। क्योंकि ज्योंही 'दूसरे' शब्द का उच्चारण किया, त्योंही अवस्था बिगड़ी; और फिर प्रकट ही है, कि मनुष्य अद्वैत से द्वैत में आ जाता है। और तो क्या! यह कहना भी मुश्किल है, कि मुझे इस अवस्था का ज्ञान हो गया। क्योंकि 'मैं' कहते ही औरों से भिन्न होने की भावना मन में आ जाती है; और ब्रह्मात्मैक्य होने में यह भावना पूरी बाधक है। इसी कारण से याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक (४. ५. १५. ४. ३. २७) में इस परमावधि की स्थिति का वर्णन यों किया है: "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति...जिघ्रति...शृणोति...विजानाति। ...यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्...जिघ्रेत्...शृणुयात्... विजानीयात्।...विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। एतावदरे खलु अमृतत्वमिति।" इसका भावार्थ यह है, कि "देखनेवाले (द्रष्टा) और देखने का पदार्थ जब तक

बना हुआ था, तब तक एक दूसरे को देखता था, सूँघता था, सुनता था और जानता था। परन्तु जब सभी आत्ममेव हो गया (अर्थात् अपना और पराया भेद ही न रहा) तब कौन किसको देखेगा, सूँघेगा, सुनेगा और जानेगा ? अरे ! जो स्वयं ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है, उसी को जाननेवाला और दूसरा कहाँ से लाओगे ? " इस प्रकार सभी आत्मभूत या ब्रह्मभूत हो जाने पर वहाँ भीति, शोक अथवा सुखदुःख आदि द्वन्द्व भी रह कहाँ सकते हैं (ईश. ७) ? क्योंकि, जिससे डरना है या जिसका शोक करना है, वह तो अपने से – हम से – जुदा होना चाहिये; और ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव हो जाने पर इस प्रकार की किसी भी भिन्नता को अवकाश ही नहीं मिलता। इसी दुःखशोकाविरहित अवस्था को 'आनन्दमय' नाम दे कर तैत्तिरीय उपनिषद् (२. ८; ३. ६) में कहा है, कि यह आनन्द ही ब्रह्म है। किन्तु यह वर्णन भी गौण ही है। क्योंकि आनन्द का अनुभव करनेवाला अब रह ही कहाँ जाता है ? अतएव बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ३. ३२) में कहा है, कि लौकिक आनन्द की अपेक्षा आत्मानन्द कुछ विलक्षण होता है। ब्रह्म के वर्णन में 'आनन्द' शब्द आया करता है। उसकी गौणता पर ध्यान दे कर अन्य स्थानों में ब्रह्मवेत्ता पुरुष का अंतिम वर्णन ('आनन्द' शब्द को बाहर निकालकर) इतना ही किया जाता है, ' ब्रह्म भवति य एवं वेद ' (बृ. ४. ४. २५)। अथवा ' ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ' (मुं. ३. २. ९) – जिसने ब्रह्म को जान लिया, वह ब्रह्म ही हो गया। उपनिषदों (बृ. २. ४. १२; छां. ६. १३) में इस स्थिति के लिये यह दृष्टान्त दिया गया है, कि नमक की डली जब पानी में घुल जाती है, तब जिस प्रकार यह भेद नहीं रहता, कि इतना भाग खारे पानी का है और इतना भाग मामूली पानी का है – उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान हो जाने पर सब ब्रह्ममय हो जाता है। किन्तु उन श्री तुकाराम महाराज ने (कि ' जिनकी कहै नित्य वेदान्त वाणी ') इस खारे पानी के दृष्टान्त के बदले गुड़ का यह मीठा दृष्टान्त दे कर अपने अनुभव का वर्णन किया है –

' गूंगे का गुड़ ' है भगवान, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक ? जल-तरंग से हैं हम एक ॥

इसीलिये कहा जाता है, कि परब्रह्म इन्द्रियों को अगोचर और मन को भी अगम्य होने पर भी स्वानुभवगम्य है, अर्थात् अपने अपने अनुभव से जाना जाता है। परब्रह्म की जिस अज्ञेयता का वर्णन किया जाता है, वह ' ज्ञाता और ज्ञेय '-वाली द्वैती स्थिति की है; और 'अद्वैत-साक्षात्कार'-वाली स्थिति नहीं। जब तक यह बुद्धि बनी है, कि मैं अलग हूँ और दुनिया अलग है, तब तक कुछ भी क्यों न किया जाय, ब्रह्मात्मैक्य का पूरा ज्ञान होना सम्भव नहीं। किन्तु नदी यदि

समुद्र को निगल नहीं सकती – उसको अपने में लीन नहीं कर सकती – तो जिस प्रकार समुद्र में गिर कर नदी तद्रूप हो जाती है, उसी प्रकार परब्रह्म में निमग्न होने से मनुष्य को उसका अनुभव हो जाया करता है; और उसकी ब्रह्ममय स्थिति हो जाती है, कि "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (गी. २. २९) – सारे प्राणी मुझमें हैं; और मैं सब में हूँ। केन उपनिषद् में बड़ी खूबी के साथ परब्रह्म के स्वरूप का विरोधाभासात्मक वर्णन इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये किया गया है, कि पूर्ण परब्रह्म का ज्ञान केवल अपने अनुभव पर ही निर्भर है। वह वर्णन इस प्रकार है : अविज्ञातं विजानतां विज्ञानमविजानताम् " (केन. २. ३) – जो कहते हैं, कि हमें परब्रह्म का ज्ञान हो गया उन्हें उसका ज्ञान नहीं हुआ है; और जिन्हें जान ही नहीं पड़ता, कि हमने उसको जान लिया; उन्हें ही वह ज्ञान हुआ है। क्योंकि, जब कोई कहता है, कि मैंने परमेश्वर को जान लिया, तब उसके मन में वह द्वैतबुद्धि उत्पन्न हो जाती है, कि मैं (ज्ञाता) जुदा हूँ; और मैंने जान लिया, वह (ज्ञेय) ब्रह्म अलग है। अतएव उसका ब्रह्मात्मैक्यरूपी अद्वैती अनुभव उस समय उतना ही कच्चा और अपूर्ण होता है। फलतः उसी के मुँह से ऐसी भाषा का निकलना ही सम्भव नहीं रहता, कि 'मैंने उसे (अर्थात् अपने से भिन्न और कुछ) जान लिया।' अतएव इस स्थिति में, अर्थात् जब कोई कोई ज्ञानी पुरुष यह बतलाने में असमर्थ होता है, कि मैं ब्रह्म को जान गया; तब कहना पड़ता है, कि उसे ब्रह्म का ज्ञान हो गया। इस प्रकार द्वैत का बिलकुल लोप हो कर परब्रह्म में ज्ञाता का सर्वथा रँग जाना, लय पा लेना, बिलकुल घुल जाना, अथवा एक-जी हो जाना सामान्य रूप में दीख तो दुष्कर पड़ता है; परन्तु हमारे शास्त्रकारों ने अनुभव से निश्चय किया है, कि एकाएक दुर्घट प्रतीत होनेवाली 'निर्वाण' स्थिति, अभ्यास और वैराग्य से अन्त में मनुष्य को साध्य हो सकती है। 'मैं'-पनरूपी द्वैतभाव इस स्थिति में डूब जाता है, नष्ट हो जाता है। अतएव कुछ लोग शंका किया करते हैं, कि यह तो फिर आत्मनाश का ही एक तरीका है। किन्तु ज्योंही समझ में आया, कि यद्यपि इस स्थिति का अनुभव करते समय इसका वर्णन करते नहीं बनता है, परन्तु पीछे से उसका स्मरण हो सकता है, त्योंही उक्त शंका निर्मूल हो जाती है।* इसकी अपेक्षा और भी अधिक प्रबल प्रमाण साधुसन्तों का अनुभव है। बहुत प्राचीन सिद्ध पुरुषों के अनुभव की बातें पुरानी हैं। उन्हें जाने दीजिये। बिलकुल अभी के प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम महाराज ने भी इस परमावधि की स्थिति का वर्णन आलंकारिक भाषा में बड़ी खूबी से धन्यतापूर्वक इस प्रकार

* ध्यान से और समाधि से प्राप्त होनेवाली अद्वैत की अथवा अभेदभाव की यह अवस्था nitrous-oxide gas नामक एक प्रकार की रासायनिक वायु को सूँघने से प्राप्त हो जाया करती है। इसी वायु को 'लाफिंग गैस' भी कहते हैं। *Will to Believe*

किया है, कि ' हमने अपनी मृत्यु अपनी आँखों से देख ली; यह भी एक उत्सव हो गया। ' व्यक्त अथवा अव्यक्त सगुण ब्रह्म की उपासना से ध्यान के द्वारा धीरे धीरे बढ़ता हुआ उपासक अन्त में ' अहं ब्रह्मास्मि ' (बृ. १. ४. १०) – मैं ही ब्रह्म हूँ – की स्थिति में जा पहुँचता है; और ब्रह्मात्मैक्यस्थिति का उसे साक्षात्कार होने लगता है। फिर उसमें वह इतना मग्न हो जाता है, कि इस बात की ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता, कि मैं किस स्थिति में हूँ; अथवा किसका अनुभव कर रहा हूँ। इसमें जागृति बनी रहती है। अतः इस अवस्था को न तो स्वप्न कह सकते हैं; और न सुषुप्ति। यदि जागृत कहें, तो इसमें वे सब व्यवहार रुक जाते हैं, कि जो जागृत अवस्था में सामान्य रीति से हुआ करते हैं। इसलिये स्वप्न, सुषुप्ति (नीन्द) अथवा जागृति – इन तीनों व्यावहारिक अवस्थाओं से बिलकुल भिन्न इसे चौथी अथवा तुरीय अवस्था शास्त्रों ने कही है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये पातञ्जलयोग की दृष्टि से मुख्य साधन निर्विकल्प समाधि-योग लगाना है, कि जिसमें द्वैत का ज़रा-सा भी लवलेश नहीं रहता। और यही कारण है, जो गीता (६. २०–२३) में कहा है, कि इस निर्विकल्प समाधि-योग को अभ्यास से प्राप्त कर लेने में मनुष्य को उकताना नहीं चाहिये। यही ब्रह्मात्मैक्यस्थिति ज्ञान की पूर्णावस्था है। क्योंकि जब सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप अर्थात् एक ही हो चुका, तब गीता के ज्ञानक्रियावाले इस लक्षण की पूर्णता हो जाती है, कि ' अविभक्तं विभक्तेषु ' – अनेकत्व की एकता करनी चाहिये – और फिर इसके आगे किसी को भी अधिक ज्ञान हो नहीं सकता। इसी प्रकार नामरूप से परे इस अमृतत्व का जहाँ मनुष्य को अनुभव हुआ, कि जन्ममरण का चक्कर भी आप ही से छूट जाता है। क्योंकि जन्ममरण तो नामरूप में ही है; और यह मनुष्य पहुँच जाता है उन नामरूपों से परे (गी. ८. २१)। इसी से महात्माओं ने इस स्थिति का नाम ' मरण का मरण ' रख छोड़ा है। और इसी कारण से याज्ञवल्क्य इस स्थिति को अमृतत्व की सीमा या पराकाष्ठा कहते हैं। यही जीवन्मुक्तावस्था है। पातञ्जलयोगसूत्र और अन्य स्थानों में भी वर्णन है, कि इस अवस्था में आकाशगमन आदि की कुछ अपूर्व अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं (पातञ्जलसूत्र ३. १६–५५); और इन्हीं को पाने के लिये कितने ही मनुष्य योगाभ्यास की धुन में लग जाते हैं। परन्तु योगवासिष्ठप्रणेता कहते हैं, कि आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ न तो ब्रह्मनिष्ठस्थिति का साध्य है और न उसका कोई भाग ही। अतः जीवन्मुक्त पुरुष इन सिद्धियों को पा लेने का उद्योग

and Other Essays on Popular Philosophy, by William James, pp. 294–298. परन्तु यह नकली अवस्था है। समाधि से जो अवस्था प्राप्त होती है, वह सच्ची-असली–है। यही इन दोनों में महत्त्व का भेद है। फिर भी यहाँ उसका उल्लेख हमने इसलिये किया है, कि इस कृत्रिम अवस्था के अस्तित्व के विषय में कुछ भी वाद नहीं रह जाता।

नहीं करता; और बहुधा उसमें ये देखी भी नहीं जातीं (देखो, यो. ५. ८६)। इसी कारण इन सिद्धियों का उल्लेख न तो योगवासिष्ठ में ही और न गीता में ही कहीं है। वसिष्ठ ने राम से स्पष्ट कह दिया है, कि ये चमत्कार तो माया के खेल हैं; कुछ ब्रह्मविद्या नहीं हैं। कदाचित् ये सच्चे हों। हम यह नहीं कहते, कि ये होंगे ही नहीं। जो हो; इतना तो निर्विवाद है, कि यह ब्रह्मविद्या का विषय नहीं है। अतएव (ये सिद्धियाँ मिलें तो और न मिलें तो) इनकी परवाह न करनी चाहिये ब्रह्मविद्याशास्त्र का कथन है, कि इनकी इच्छा अथवा आशा भी न करके मनुष्य को वही प्रयत्न करते रहना चाहिये, कि जिससे प्राणिमात्र में 'एक आत्मा'-वाली परमावधि की ब्रह्मनिष्ठस्थिति प्राप्त हो जावे। ब्रह्मज्ञान आत्मा की शुद्ध अवस्था है। वह कुछ जादू, करामत या तिलस्माती लटका नहीं है। इस कारण इन सिद्धियों से – इन चमत्कारों से – ब्रह्मज्ञान के गौरव का बढ़ना तो दूर, किन्तु उसके गौरव के – उसकी महत्ता के – ये चमत्कार प्रमाण भी नहीं हो सकते। पक्षी तो पहले भी उड़ते थे; पर अब विमानोंवाले लोग भी आकाश में उड़ने लगे हैं। किन्तु सिर्फ़ इसी गुण के होने से कोई इनकी गिनती ब्रह्मवेत्ताओं में नहीं करता। और तो क्या, जिन पुरुषों को ये आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, वे 'मालती-माधव' नाटकवाले अघोरघण्ट के समान क्रूर और घातकी भी हो सकते हैं।

ब्रह्मात्मैक्यरूप आनन्दमय स्थिति का अनिर्वाच्य अनुभव और किसी दूसरे को पूर्णतया बतलाया नहीं जा सकता। क्योंकि जब उसे दूसरे को बतलाने लगेंगे, तब 'मैं-तू'-वाली द्वैत की ही भाषा से काम लेना पड़ेगा; और इस द्वैती भाषा में अद्वैत का समस्त अनुभव व्यक्त करते नहीं बनता। अतएव उपनिषदों में इस परमावधि की स्थिति के जो वर्णन हैं, उन्हें भी अधूरे गौण समझना चाहिये। और जब ये वर्णन गौण हैं, तब सृष्टि की उत्पत्ति एवं रचना समझने के लिये अनेक स्थानों पर उपनिषदों में जो निरे द्वैती वर्णन पाये जाते हैं, उन्हें भी गौण ही मानना चाहिये। उदाहरण लीजिये; उपनिषदों में दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ऐसे वर्णन हैं, कि आत्मस्वरूपी, शुद्ध, नित्य, सर्वव्यापी और अविकारी ब्रह्म ही से आगे चल कर हिरण्यगर्भ नामक सगुण पुरुष या आप (पानी) प्रभृति सृष्टि के व्यक्त पदार्थ क्रमशः निर्मित हुए; अथवा परमेश्वर ने इन नामरूपों की रचना करके फिर जीवरूप से उनमें प्रवेश किया (तै. २. ६; छां. ६. २, ३. बृ. १. ४. ७), ऐसे सब द्वैतपूर्ण वर्णन अद्वैतसृष्टि से यथार्थ नहीं हो सकते। क्योंकि ज्ञानगम्य, निर्गुण परमेश्वर ही जब चारों ओर भरा हुआ है, तब तात्त्विक दृष्टि से यह कहना ही निर्मूल हो जाता है, कि एक ने दूसरे को पैदा किया। परन्तु साधारण मनुष्यों को सृष्टि की रचना समझा देने के लिये व्यावहारिक अर्थात् द्वैत की भाषा ही तो एक साधन है। इस कारण व्यक्तसृष्टि की अर्थात् नामरूप की उत्पत्ति के वर्णन उपनिषदों

में उसी ढँग के मिलते हैं, जैसा कि ऊपर एक उदाहरण दिया गया है। तो भी उसमें अद्वैत का तत्त्व बना ही है; और अनेक स्थानों में कह दिया है, कि इस प्रकार द्वैती व्यावहारिक भाषा वर्तने पर भी मूल में अद्वैत ही है। देखिये, अब निश्चय हो चुका है, कि सूर्य घूमता नहीं हैं, स्थिर है; फिर बोलचाल में जिस प्रकार यही कहा जाता है, कि सूर्य निकल आया अथवा डूब गया। उसी प्रकार यद्यपि एक ही आत्मस्वरूपी परब्रह्म चारों ओर अखण्ड भरा हुआ है; और वह अविकार्य है; तथापि उपनिषदों में भी ऐसी ही भाषा के प्रयोग मिलते हैं, कि 'परब्रह्म से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है।' इसी प्रकार गीता में भी यद्यपि यह कहा गया है, कि 'मेरा सच्चा स्वरूप अव्यक्त और अज है' (गी. ७. २५); तथापि भगवान् ने कहा है, कि 'मैं सारे जगत् को उत्पन्न करता हूँ' (४. ६)। परन्तु इन वर्णनों के मर्म को बिना समझे-बूझे कुछ पण्डित लोग इनको शब्दशः सच्चा मान लेते हैं; और फिर इन्हें ही मुख्य समझ कर यह सिद्धान्त किया करते हैं, कि द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत मत का उपनिषदों में प्रतिपादन है। वे कहते हैं, कि यदि यह मान लिया जाय, कि एक ही निर्गुण ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है; तो फिर इसकी उपपत्ति नहीं लगती, कि इस अधिकारी ब्रह्म से विकाररहित नाशवान् सगुण पदार्थ कैसे निर्मित हो गये। क्योंकि नामरूपात्मक सृष्टि को यदि 'माया' कहें, तो निर्गुण ब्रह्म से सगुणमाया का उत्पन्न होना ही तर्कदृष्ट्या शक्य नहीं है। इससे अद्वैतवाद लँगड़ा हो जाता है। इससे तो कहीं अच्छा यह होगा, कि सांख्यशास्त्र के मतानुसार प्रकृति के सदृश नामरूपात्मक व्यक्तसृष्टि के किसी सगुण परन्तु व्यक्त रूप को नित्य मान लिया जावे; और उस व्यक्त रूप के अभ्यन्तर में परब्रह्म कोई दूसरा नित्यतत्त्व ऐसा ओतप्रोत भरा हुआ रखा जावे, जैसा कि पेंच की नली में भाफ रहती है (बृ. ३. ७)। एवं इन दोनों में वैसी ही एकता मानी जावे, जैसी कि दाड़िम या अनार के फल भीतरी दोनों के साथ रहती है। परन्तु हमारे मत में उपनिषदों के तात्पर्य का ऐसा विचार करना योग्य नहीं है। उपनिषदों में कहीं कहीं द्वैती और कहीं कहीं अद्वैती वर्णन पाये जाते हैं। सो इन दोनों की कुछ-न-कुछ एकवाक्यता करना तो ठीक है; परन्तु अद्वैतवाद को मुख्य समझने और यह मान लेने से, कि जब निर्गुण ब्रह्म सगुण होने लगता है, तब उतने ही समय के लिये मायिक द्वैत की स्थिति प्राप्त ही हो जाती है। सब वचनों की जैसी व्यवस्था लगती है, वैसी व्यवस्था द्वैत पक्ष को प्रधान मानने से लगती नहीं है। उदाहरण लीजिये; इस 'तत् त्वमसि' वाक्य के पद का अन्वय द्वैती मतानुसार कभी भी ठीक नहीं लगता। तो क्या इस अड़चन को द्वैतमतवालों ने समझ ही नहीं पाया? नहीं, समझा ज़रूर है। तभी तो वे इस महावाक्य का जैसा-तैसा अर्थ लगा कर अपने मन को समझा लेते हैं। 'तत्त्वमसि' को द्वैतवाले इस प्रकार उलझाते हैं – तत्त्वम् = तस्य त्वम् – अर्थात्

उसका तू है, कि जो कोई तुझसे भिन्न है; तू वही नहीं है। परन्तु जिसको संस्कृत का थोड़ा-सा भी ज्ञान है; और जिसकी बुद्धि आग्रह में बँध नहीं गई है, वह तुरन्त ताड़ लेगा, कि यह खींचातानी का अर्थ ठीक नहीं है। कैवल्य उपनिषद् (१. १६) में तो 'स त्वमेव त्वमेव तत्' इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' को उलट-पलट कर उक्त महावाक्य के अद्वैतप्रधान होने का ही सिद्धान्त दर्शाया है। अब और क्या बतलावें? समस्त उपनिषदों का बहुत-सा भाग निकाल डाले बिना अथवा जान-बूझ कर उस पर दुर्लक्ष किये बिना, उपनिषच्छास्त्र में अद्वैत को छोड़ और कोई दूसरा रहस्य बतला देना सम्भव ही नहीं है। परन्तु ये वाद तो ऐसे हैं, कि जिनका कोई ओर-छोर ही नहीं; तो फिर यहाँ हम इनकी विशेष चर्चा क्यों करें? जिन्हें अद्वैत के अतिरिक्त अन्य मत रुचते हों, वे खुशी से उन्हें स्वीकार कर लें। उन्हें रोकता कौन है। जिन उदार महात्माओं ने उपनिषदों में अपना यह स्पष्ट विश्वास बतलाया है, कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ. ४. ४. १९; कठ. ४. ११) – इस सृष्टि में किसी भी प्रकार की अनेकता नहीं है, जो कुछ है, वह मूल में सब 'एकमेवाद्वितीयम्' (छां. ६. २. २) है; और जिन्होंने आगे यह वर्णन किया है, कि 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' – जिसे इस जगत् में नानात्व दीख पड़ता है, वह जन्ममरण के चक्कर में फँसता है – हम नहीं समझते, कि उन महात्माओं का आशय अद्वैत को छोड़ और भी किसी प्रकार हो सकेगा। परन्तु अनेक वैदिक शाखाओं के अनेक उपनिषद् होने के कारण जैसे इस शंका को थोड़ी-सी गुंजाइश मिल जाती है, कि कुल उपनिषदों का तात्पर्य क्या एक ही है? वैसा हाल गीता का नहीं है। जब गीता एक ही ग्रन्थ है, तब प्रकट ही है, कि उसमें एक ही प्रकार के वेदान्त का प्रतिपादन होना चाहिये। और जो विचारने लगें, कि वह कौन-सा वेदान्त है? तो यह अद्वैत-प्रधान सिद्धान्त करना पड़ता है, कि "सब भूतों का नाश हो जाने पर भी जो एक ही स्थिर रहताः है" (गी. ८. २०), वही यथार्थ में सत्य है। एवं देह और विश्व में मिल कर सर्वत्र वही व्याप्त हो रहा है (गी. १३. ३१)। और तो क्या? आत्मौपम्यबुद्धि का जो नीतितत्त्व गीता में बतलाया गया है, उसकी पूरी पूरी उपपत्ति भी अद्वैत को छोड़ और दूसरे प्रकार की वेदान्तसृष्टि से नहीं लगती है। इससे कोई हमारा यह आशय न समझ लें, कि श्रीशंकराचार्य के समय में अथवा उनके पश्चात् अद्वैतमत को पोषण करनेवाली जितनी युक्तियाँ निकली हैं; अथवा जितने प्रमाण निकले हैं, वे सभी यच्चयावत् गीता में प्रतिपादित हैं। यह तो हम भी मानते हैं, कि द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत प्रभृति सम्प्रदायों की उत्पत्ति होने से पहले ही गीता बन चुकी है; और इसी कारण से गीता में किसी भी विशेष सम्प्रदाय की युक्तियों का समावेश होना संभव नहीं है। किन्तु इस सम्मति से यह कहने में कोई भी बाधा नहीं आती, कि गीता का वेदान्त मामूली

तौर पर शाङ्करसम्प्रदाय के ज्ञानानुसार अद्वैती है – द्वैती नहीं। इस प्रकार गीता और शाङ्करसम्प्रदाय में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सामान्य मेल है सही; पर हमारा मत है, कि आचारदृष्टि से गीता कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को अधिक महत्त्व देती है। इस कारण गीताधर्म शाङ्करसम्प्रदाय से भिन्न हो गया है। इसका विचार आगे किया जावेगा। प्रस्तुत विषय तत्त्वज्ञानसम्बन्धी है। इसलिये यहाँ इतना ही कहना है, कि गीता और शाङ्करसम्प्रदाय में – दोनों में – यह तत्त्वज्ञान एक ही प्रकार का है, अर्थात् अद्वैती है। अन्य साम्प्रदायिक भाष्यों की अपेक्षा गीता के शाङ्करभाष्य को जो अधिक महत्त्व हो गया है, उसका कारण भी यही है।

ज्ञानदृष्टि से सारे नामरूपों का एक ओर निकाल देने पर एक ही अविकारी और निर्गुण तत्त्व स्थिर रह जाता है। अतएव पूर्ण और सूक्ष्म विचार करने पर अद्वैत सिद्धान्त को ही स्वीकार करना पड़ता है। जब इतना सिद्ध हो चुका, तब अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से यह विवेचन करना आवश्यक है, कि इस एक निर्गुण अव्यक्त द्रव्य से नाना प्रकार की व्यक्त सगुण सृष्टि क्योंकर उपजी? पहले बतला आये हैं, कि सांख्यों ने तो निर्गुण पुरुष के साथ ही त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण प्रकृति को अनादि और स्वतंत्र मान कर, इस प्रश्न को हल कर लिया है। किन्तु यदि इस प्रकार सगुण प्रकृति को स्वतन्त्र मान लें, तो जगत् के मूलतत्त्व दो हुए जाते हैं। और ऐसा करने से उस अद्वैत मत में बाधा आती है, कि जिसका ऊपर अनेक कारणों के द्वारा पूर्णतया निश्चय कर लिया गया है। यदि सगुण प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं मानते हैं, तो यह बतलाते नहीं बनता, कि एक मूल निर्गुण द्रव्य से नानाविध सगुण सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई। क्योंकि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त यह है, कि निर्गुण से सगुण – जो कुछ भी नहीं है, उससे और कुछ – का उपजना शक्य नहीं है; और यह सिद्धान्त अद्वैतवादियों को भी मान्य हो चुका है। इसलिये दोनों ही ओर अड़चन है। फिर यह उलझन सुलझे कैसे? बिना अद्वैत को छोड़े ही निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होने का मार्ग बतलाना है; और सत्कार्यवाद की दृष्टि से वह तो रुका हुआ-सा ही है। सच्चा पेंच है – ऐसीवैसी उलझन नहीं है। और तो क्या? कुछ लोगों की समझ में अद्वैत सिद्धान्त के मानने में यही ऐसी अड़चन है, जो सब मुख्य, पेचीदा और कठिण है। इसी अड़चन से छड़क कर वे द्वैत को अंगीकार कर लिया करते हैं। किन्तु अद्वैती पण्डितों ने अपनी बुद्धि के द्वारा इस बिकट अड़चन के फन्दे से छूटने के लिये भी एक युक्तिसङ्गत बेजोड़ मार्ग ढूँढ़ लिया है। वे कहते हैं, कि सत्कार्यवाद अथवा गुणपरिणामवाद के सिद्धान्त का उपयोग तब होता है, जब कार्य और कारण, दोनों एक ही श्रेणी के अथवा एक ही वर्ग के होते हैं; और इस कारण अद्वैती वेदान्ती भी इसे स्वीकार कर लेंगे, कि सत्य और निर्गुण ब्रह्म से सत्य और सगुण

माया का उत्पन्न होना शक्य नहीं है। परन्तु यह स्वीकृति उस समय की है। जब कि दोनों पदार्थ सत्य हों, जहाँ एक पदार्थ सत्य है; पर दूसरा उसका सिर्फ़ दृश्य है, वहाँ सत्कार्यवाद का उपयोग नहीं होता। सांख्यमतवाले 'पुरुष के समान ही प्रकृति' को स्वतंत्र और सत्य पदार्थ मानते हैं। यही कारण है, जो वे निर्गुण पुरुष से सगुण प्रकृति की उत्पत्ति का विवेचन सत्कार्यवाद के अनुसार कर नहीं सकते। किन्तु अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त यह है, कि माया अनादि बनी रहे; फिर भी वह सत्य और स्वतंत्र नहीं है। वह तो गीता के कथनानुसार 'मोह', 'अज्ञान' अथवा 'इन्द्रियों को दिखाई देनेवाला दृश्य' है। इसलिये सत्कार्यवाद से जो आक्षेप निष्पन्न हुआ था, उसका उपयोग अद्वैत सिद्धान्त के लिये किया ही नहीं जा सकता। बाप से लड़का पैदा हो, तो कहेंगे, कि वह इसके गुणपरिणाम से हुआ है। परन्तु पिता एक व्यक्ति है; और जब कभी वह बच्चे का, कभी जवान का और कभी बुड्ढे का स्वाँग बनाये हुए दीख पड़ता है, तब हम सदैव देखा करते हैं, कि इस व्यक्ति में और इसके अनेक स्वाँगों में गुणपरिणामरूपी कार्यकारणभाव नहीं रहता। ऐसे ही जब निश्चित हो जाता है, कि सूर्य एक ही है; तब पानी में आँखों को दिखाई देनेवाले उसके प्रतिबिम्ब को हम भ्रम कह देते हैं, और उसे गुणपरिणाम से उपजा हुआ दूसरा सूर्य नहीं मानते। इसी प्रकार दूरबीन से किसी ग्रह के यथार्थ स्वरूप का निश्चय हो जाने पर ज्योतिःशास्त्र स्पष्ट कह देता है, कि उस ग्रह का जो स्वरूप निरी आँखों से दीख पड़ता है, वह दृष्टि की कमजोरी और उसके अत्यन्त दूरी पर रहने के कारण निरा दृश्य उत्पन्न हो गया है। इससे प्रकट हो गया, कि कोई भी बात नेत्र आदि इंद्रियों को प्रत्यक्ष गोचर हो जाने से ही स्वतन्त्र और सत्य वस्तु मानी नहीं जा सकती। फिर इसी न्याय का अध्यात्मशास्त्र में उपयोग करके यदि यह कहें तो क्या हानि है, कि ज्ञानचक्षुरूप दूरबीन से जिसका निश्चय कर लिया गया है, वह निर्गुण परब्रह्म सत्य है। और ज्ञानहीन चर्मचक्षुओं को जो नामरूप गोचर होता है, वह इस परब्रह्म का कार्य नहीं है – वह तो इन्द्रियों की दुर्बलता से उपजा हुआ निरा भ्रम अर्थात् मोहात्मक दृश्य है। यहाँ पर यह आक्षेप ही नहीं फबता, कि निर्गुण से सगुण उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों वस्तुएँ एक ही श्रेणी की नहीं हैं। इनमें एक तो सत्य है; और दूसरी है सिर्फ़ दृश्य। एवं अनुभव यह है, कि मूल में एक ही वस्तु रहने पर भी देखनेवाले पुरुष के दृष्टिभेद से, अज्ञान से अथवा नज़रबन्दी से उस एक ही वस्तु के दृश्य बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, कानों को सुनाई देनेवाले शब्द और आँखों से दिखाई देनेवाले रङ्ग – इन्हीं दो गुणों को लीजिये। इनमें से कानों को जो शब्द या आवाज़ सुनाई देती है, उनको सूक्ष्मता से जाँच करके आधिभौतिकशास्त्रियों ने पूर्णतया सिद्ध कर दिया है, कि 'शब्द' या तो वायु की लहर है या गति। और अब सूक्ष्म शोध करने से निश्चय हो गया

है, कि आँखों से दीख पड़नेवाले लाल, हरे, पीले, आदि रङ्ग भी मूल में एक ही सूर्यप्रकाश के विकार हैं; और सूर्यप्रकाश स्वयं एक प्रकार की गति ही है। जब कि 'गति' मूल में एक ही है, पर कान उसे शब्द और आँखें उसे रङ्ग बतलाती हैं, तब यदि इसी न्याय का उपयोग कुछ अधिक व्यापक रीति से सारी इन्द्रियों के लिये किया जावें, तो सभी नामरूपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सत्कार्यवाद की सहायता के बिना ही ठीक ठीक उपपत्ति इस प्रकार लगाई जा सकती है, कि किसी भी एक अविकार्य वस्तु पर मनुष्य की भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ अपनी अपनी ओर से शब्दरूप आदि अनेक नामरूपात्मक गुणों का 'अध्यारोप' करके नाना प्रकार के दृश्य उपजाया करती हैं। परन्तु कोई आवश्यकता नहीं है, कि मूल की एक ही वस्तु में ये दृश्य, ये गुण अथवा ये नामरूप होवें ही। और इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिये रस्सी में सर्प का, अथवा सीप में चाँदी का भ्रम होना, या आँख में उँगली डालने से एक के दो पदार्थ दीख पड़ना अथवा अनेक रंगों के चष्मे लगाने पर एक पदार्थ का रंग-बिरंगा दीख पड़ना आदि अनेक दृष्टान्त वेदान्तशास्त्र में दिये जाते हैं। मनुष्य की इन्द्रियाँ उससे कभी छूट नहीं जाती हैं। इस कारण जगत् के नामरूप अथवा गुण उससे नयनपथ में गोचर तो अवश्य होंगे; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि इन्द्रियवान् मनुष्य की दृष्टि से जगत् का जो सापेक्ष स्वरूप दीख पड़ता है, वही इस जगत् के मूल का अर्थात् निरपेक्ष और नित्य स्वरूप है। मनुष्य की वर्तमान इंद्रियों की अपेक्षा यदि उसे न्यूनाधिक इन्द्रियाँ प्राप्त हो जावें, तो यह सृष्टि उसे जैसी आजकल दीख पड़ती है, वैसी ही न दीखती रहेगी। और यदि यह ठीक है, तो जब कोई पूछे, कि द्रष्टा की – देखनेवाले मनुष्य की – इंद्रियों की अपेक्षा न करके बतलाओ, कि सृष्टि के मूल में जो तत्त्व है, उसका नित्य और सत्य स्वरूप क्या है? तब यही उत्तर देना पड़ता है, कि वह मूलतत्त्व है तो निर्गुण; परन्तु मनुष्य को सगुण दिखलाई देता है – यह मनुष्य की इन्द्रियों का धर्म है; न कि मूलवस्तु का गुण। आधिभौतिकशास्त्र में उन्हीं बातों की जाँच होती है, कि जो इंद्रियों को गोचर हुआ करती हैं; और यही कारण है, कि वहाँ इस ढँग के प्रश्न होते ही नहीं। परन्तु मनुष्य और उसकी इन्द्रियों के नष्टप्राय हो जाने से यह नहीं कह सकते, कि ईश्वर भी सफाया हो जाता है; अथवा मनुष्य को वह अमुक प्रकार का दीख पड़ता है। इसलिये उसका त्रिकालाबाधित नित्य और निरपेक्ष स्वरूप भी वही होना चाहिये। अतएव जिस अध्यात्मशास्त्र में यह विचार करना होता है, कि जगत् के मूल में वर्तमान सत्य का मूलस्वरूप क्या है। उसमें मानवी इन्द्रियों की सापेक्ष-दृष्टि छोड़ देनी पड़ती है; और जितना हो सके, उतना बुद्धि से ही अन्तिम विचार करना पड़ता है। ऐसा करने से इन्द्रियों को गोचर होनेवाले सभी गुण आप ही आप छूट जाते हैं। और यह सिद्ध हो जाता है, कि ब्रह्म का नित्य स्वरूप इन्द्रिया-

तीत अर्थात् निर्गुण एवं सब में श्रेष्ठ है। परन्तु अब प्रश्न होता है, कि जो निर्गुण है, उसका वर्णन करेगा ही कौन? और किस प्रकार करेगा? इसीलिये अद्वैत वेदान्त में यह सिद्धान्त किया गया है, कि परब्रह्म का अन्तिम अर्थात् निरपेक्ष और नित्य स्वरूप निर्गुण तो है ही, पर अनिर्वाच्य भी है; और इसी निर्गुण स्वरूप में मनुष्य को अपनी इन्द्रियों के योग सगुण दृश्य की झलक दीख पड़ती है। अब यहाँ फिर प्रश्न होता है, कि निर्गुण को सगुण करने की यह शक्ति इंद्रियों ने पा कहाँ से ली? इस पर अद्वैतवेदान्तशास्त्र का यह उत्तर है, कि मानवी ज्ञान की गति यहीं तक है। इसके आगे उसकी गुज़र नहीं। इसलिये यह इन्द्रियों का अज्ञान है; और निर्गुण परब्रह्म में सगुण जगत् का दृश्य देखना यह उसी अज्ञान का परिणाम है। अथवा यहाँ इतना ही निश्चित अनुमान करके निश्चिन्त हो जाना पड़ता है, कि इन्द्रियाँ भी परमेश्वर की सृष्टि की ही हैं। इस कारण यह सगुण सृष्टि (प्रकृति) निर्गुण परमेश्वर की ही एक 'दैवी माया' है (गी. ७. १४)। पाठकों की समझ में अब गीता के इस वर्णन का तत्त्व आ जावेगा, कि केवल इन्द्रियों से देखनेवाले अप्रबुद्ध लोगों को परमेश्वर व्यक्त और सगुण दीख पड़े सही; पर उसका सच्चा और श्रेष्ठ स्वरूप निर्गुण है। उसको ज्ञानदृष्टि से देखने में ही ज्ञान की परमावधि है (गी. ७. १४. २४. २५)। इस प्रकार निर्णय तो कर दिया, कि परमेश्वर मूल में निर्गुण है, और मनुष्य की इन्द्रियों को उसी में सगुण सृष्टि का विविध दृश्य दीख पड़ता है। फिर भी इस बात का थोड़ा-सा खुलासा कर देना आवश्यक है, कि उक्त सिद्धान्त में निर्गुण शब्द का अर्थ क्या समझा जावे। यह सच है, कि हवा की लहरों पर शब्दरूप आदि गुणों का अथवा सीप पर चाँदी का जब हमारी इन्द्रियाँ अध्यारोप करती हैं, तब हवा की लहरों में शब्द-रूप आदि के अथवा सीप में चाँदी के गुण नहीं होते। परन्तु यद्यपि उनमें आध्यारोपित गुण न हों; तथापि यह नहीं कहा जा सकता, कि उनसे भिन्न गुण मूल पदार्थों में होंगे ही नहीं। क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि यद्यपि सीप में चाँदी के गुण नहीं हैं, तो भी चाँदी के गुणों के अतिरिक्त और दूसरे गुण उसमें रहते ही हैं। इसी से अब यहाँ एक और शंका होती है – यदि कहें, कि इन्द्रियों ने अपने अज्ञान से मूलब्रह्म पर जिन गुणों का अध्यारोप किया था, वे गुण ब्रह्म में नहीं हैं; तो क्या और दूसरे गुण परब्रह्म में न होंगे? और यदि मान लो, कि हैं, तो फिर वह निर्गुण कहाँ रहा? किन्तु, कुछ और अधिक सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात होगा, कि यदि मूलब्रह्म में इंद्रियों के द्वारा अध्यारोपित किये गये गुणों के अतिरिक्त और दूसरे गुण हों भी; तो हम उन्हें मालूम ही कैसे कर सकेंगे? क्योंकि गुणों को मनुष्य अपनी इन्द्रियों से ही तो जानता है; और जो गुण इन्द्रियों को अगोचर हैं, वे जाने नहीं जाते। सारांश, इन्द्रियों के द्वारा अध्यारोपित गुणों के अतिरिक्त परब्रह्म में यदि और कुछ दूसरे गुण हों, तो उनको जान लेना हमारे सामर्थ्य के

बाहर है; और जिन गुणों को जान लेना हमारे कांबू में नहीं, उनको परंब्रह्म में मानना भी न्यायशास्त्र की दृष्टि से योग्य नहीं है। अतएव गुण शब्द का 'मनुष्य को ज्ञात होनेवाले गुण' अर्थ करके वेदान्ती लोग सिद्धान्त किया करते हैं, कि ब्रह्म 'निर्गुण' है। न तो अद्वैत वेदान्त ही यह कहता है; और न कोई दूसरा भी कह सकेगा, कि मूल परब्रह्मस्वरूप में ऐसा गुण या ऐसी शक्ति भरी होगी, कि जो मनुष्य के लिये अतर्क्य है। किंबहुना, यह तो पहले ही बतला दिया है, कि वेदान्ती लोग भी इन्द्रियों के उक्त अज्ञान अथवा माया को उसी मूल परब्रह्म की एक अतर्क्य शक्ति कहा करते हैं।

त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति कोई दूसरी स्वतन्त्र वस्तु नहीं है; किन्तु एक ही निर्गुण ब्रह्म पर मनुष्य की इन्द्रियाँ अज्ञान से सगुण दृश्यों का अध्यारोप किया करती हैं। इसी मत को 'विवर्तवाद' कहते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह उपपत्ति इस बात की हुई, कि जब निर्गुण ब्रह्म एक ही मूलतत्त्व है, तब नाना प्रकार का सगुण जगत् पहले दिखाई कैसे देने लगा? कणादप्रणीत न्यायशास्त्र में असंख्य परमाणु जगत् के मूलकारण माने गये हैं; और नैयायिक इन परमाणुओं को सत्य मानते हैं। इसलिये उन्होंने निश्चय किया है, कि जहाँ इन असंख्य परमाणुओं का संयोग होने लगा, वहाँ सृष्टि के अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। परमाणुओं के संयोग का आरम्भ होने पर इस मत से सृष्टि का निर्माण होता है। इसलिये इसको 'आरम्भवाद' कहते हैं। परन्तु नैयायिकों के असंख्य परमाणुओं के मत को सांख्यमार्गवाले नहीं मानते। वे कहते हैं, कि जडसृष्टि का मूलकारण 'एक, सत्य त्रिगुणात्मक प्रकृति' ही है। एवं इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों के विकास से अथवा परिणाम से व्यक्त सृष्टि बनती है। इस मत को 'गुणपरिणामवाद' कहते हैं। क्योंकि इसमें यह प्रतिपादन किया जाता है, कि एक मूल सगुण प्रकृति के गुणविकास से ही सारी व्यक्त सृष्टि पैदा हुई है। किन्तु इन दोनों वादों को अद्वैती वेदान्ती स्वीकार नहीं करते। परमाणु असंख्य हैं; इसलिये अद्वैत मत के अनुसार वे जगत् का मूल हो नहीं सकते; और रह गई प्रकृति। सो यद्यपि वह एक हो, तो भी उसके पुरुष से भिन्न और स्वतंत्र होने के कारण अद्वैत सिद्धान्त से यह द्वैत भी विरुद्ध है। परन्तु इस प्रकार इन दोनों वादों को त्याग देने से और कोई न कोई उपपत्ति इस बात की देनी होगी, कि एक निर्गुण ब्रह्म से सगुण सृष्टि कैसे उपजी है। क्योंकि, सत्कार्यवाद के अनुसार निर्गुण से सगुण हो नहीं सकता। इस पर वेदान्ती कहते हैं, कि सत्कार्यवाद के इस सिद्धान्त का उपयोग वहीं होता है। जहाँ कार्य और कारण दोनों वस्तुएँ सत्य हों, परन्तु जहाँ मूलवस्तु एक ही है, और जहाँ उसके भिन्न भिन्न दृश्य ही पलटते हैं, वहाँ इस न्याय का उपयोग नहीं होता। क्योंकि हम सदैव देखते हैं, कि एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न दृश्यों का दीख पड़ना उस वस्तु का धर्म नहीं; किन्तु द्रष्टा – देखने-

वाले पुरुष – के दृष्टिभेद के कारण ये भिन्न भिन्न दृश्य उत्पन्न हो सकते हैं। * इस न्याय का उपयोग निर्गुण ब्रह्म और सगुण जगत् के लिये करने पर कहेंगे, कि ब्रह्म तो निर्गुण है; पर मनुष्य के इन्द्रियधर्म के कारण उसी में सगुणत्व की झलक उत्पन्न हो जाती है। यह विवर्तवाद है। विवर्तवाद में यह मानते हैं, कि एक ही मूल सत्य द्रव्य पर अनेक असत्य अर्थात् सदा बदलते रहनेवाले दृश्यों का अध्यारोप होता है; और गुणपरिणामवाद में पहले से ही दो सत्य द्रव्य मान लिये जाते हैं, जिनमें से एक एक में गुणों का विकास हो कर जगत् की नाना गुणयुक्त अन्यान्य वस्तुएँ उपजती रहती हैं। रस्सी में सर्प का भास होना विवर्त है; और दूध से दही बन जाना गुणपरिणाम है। इसी कारण 'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थ की एक प्रति में इन दोनों वादों के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं :–

यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।
अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः॥

" किसी मूलवस्तु से जब तात्त्विक अर्थात् सचमुच ही दूसरे प्रकार की वस्तु बनती है, तब उसको (गुण) परिणाम कहते हैं। और जब ऐसा न हो कर मूलवस्तु ही कुछ-की-कुछ (अतात्त्विक) भासने लगती है, तब उसे विवर्त कहते हैं " (वे. सा. २१)। आरम्भवाद नैयायिकों का है, गुणपरिणामवाद सांख्यों का है; और विवर्त-वाद अद्वैती वेदान्तियों का है। अद्वैती वेदान्ती परमाणु या प्रकृति इन दोनों सगुण वस्तुओं को निर्गुण ब्रह्म से भिन्न और स्वतन्त्र नहीं मानते, परन्तु फिर यह आक्षेप होता है, कि सत्कार्यवाद के अनुसार निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होना असम्भव है। इसे दूर करने के लिये ही विवर्तवाद निकला है। परन्तु इसी से कुछ लोग जो यह समझ बैठे हैं, कि वेदान्ती लोग गुणपरिणामवाद को कभी कभी स्वीकार नहीं करते हैं; अथवा आगे कभी न करेंगे, वह उनकी भूल है। अद्वैतमत पर सांख्य-मतवालों का अथवा अन्यान्य द्वैतमतवालों का भी जो यह मुख्य आक्षेप रहता है, कि निर्गुण ब्रह्म से सगुण प्रकृति का अर्थात् माया का उद्गम हो नहीं सकता; सो वह आक्षेप कुछ अपरिहार्य नहीं है। विवर्तवाद का मुख्य उद्देश इतना ही दिखला देना है, कि एक ही निर्गुण ब्रह्म में माया के दृश्यों का हमारी इन्द्रियों को दीख पड़ना सम्भव है। वह उद्देश सफल हो जाने पर – अर्थात् जहाँ विवर्तवाद से यह सिद्ध हुआ, कि एक निर्गुण परब्रह्म में ही त्रिगुणात्मक सगुण प्रकृति के दृश्य का दीख पड़ना शक्य है। वहाँ – वेदान्तशास्त्र को यह स्वीकार करने में कोई भी हानि नहीं, कि इस प्रकृति का अगला विस्तार गुणपरिणाम से हुआ है। अद्वैत

---

* अंग्रेजी में इसी अर्थ को व्यक्त करना हो, तो यों कहेंगे :– appearances, are the results of subjective conditions *viz.* the senses of the observer and not of the thing itself.

वेदान्त का मुख्य कथन यही है, कि स्वयं मूलप्रकृति एक दृश्य है – सत्य नहीं है। जहाँ प्रकृति का दृश्य एक बार दिखाई देने लगा, वहाँ फिर इन दृश्यों से आगे चलकर निकलनेवाले दूसरे दृश्यों को स्वतन्त्र न मान कर अद्वैत वेदान्त को यह मान लेने में कुछ भी आपत्ति नहीं है, कि एक दृश्य के गुणों से दूसरे दृश्य के एक और दूसरे से तीसरे आदि के इस प्रकार नानागुणात्मक दृश्य उत्पन्न होते हैं। अतएव यद्यपि गीता में भगवान् ने बतलाया है, कि 'यह प्रकृति मेरी ही माया है' (गी. ७. १४; ४. ६), फिर भी गीता में ही यह कह दिया है, कि ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित (गी. ९. १०) इस प्रकृति का अगला विस्तार इस 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी. ३. २८; १४. २३) के न्याय से ही होता रहता है। इससे ज्ञात होता है, कि विवर्तवाद के अनुसार मूलनिर्गुणपरब्रह्म में एक बार माया का दृश्य उत्पन्न हो चुकने पर इस मायिक दृश्य की – अर्थात् प्रकृति के अगले विस्तार की – उपपत्ति के लिये गुणोत्कर्ष का तत्त्व गीता को भी मान्य हो चुका है। जब समूचे दृश्य जगत् को ही एक बार मायात्मक दृश्य कह दिया, तब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, कि इन दृश्यों के अन्यान्य रूपों के लिये गुणोत्कर्ष के ऐसे कुछ नियम होने ही चाहिये। वेदान्तियों को यह अस्वीकार नहीं है, कि मायात्मक दृश्य का विस्तार भी नियमबद्ध ही रहता है। उनका तो इतना ही कहना है, कि मूलप्रकृति के समान ये नियम भी मायिक ही हैं; और परमेश्वर इन सब मायिक नियमों का अधिपति है। वह इनसे परे है; और उसकी सत्ता से ही इन नियमों को नियमत्व अर्थात् नित्यता प्राप्त हो गई है। दृश्यरूपी सगुण अतएव विनाशी प्रकृति में ऐसे नियम बना देने का सामर्थ्य नहीं रह सकता, कि जो त्रिकाल में भी अबाधित रहे।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया है, उससे ज्ञात होगा, कि जगत्, जीव और परमेश्वर – अथवा अध्यात्मशास्त्र की परिभाषा के अनुसार माया (अर्थात् माया से उत्पन्न किया हुआ जगत्), आत्मा और परब्रह्म – का स्वरूप क्या है? एवं इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? अध्यात्मदृष्टि से जगत् की सभी वस्तुओं के दो वर्ग होते हैं। 'नामरूप' और नामरूप से आच्छादित 'नित्य तत्त्व'। इनमें से नामरूपों को ही सगुण माया अथवा प्रकृति कहते हैं। परन्तु नामरूपों को निकाल डालने पर जो 'नित्य द्रव्य' बच रहता है, वह निर्गुण ही रहना चाहिये। क्योंकि कोई भी गुण बिना नामरूप के रह नहीं सकता। यह नित्य और अव्यक्त तत्त्व ही परब्रह्म है; और मनुष्य की दुर्बल इन्द्रियों को इस निर्गुण परब्रह्म में ही सगुण माया उपजी हुई दीख पड़ती है। यह माया सत्य पदार्थ नहीं है। परब्रह्म ही सत्य अर्थात् त्रिकाल में भी अबाधित और कभी भी न पलटनेवाली वस्तु है। दृश्यसृष्टि के नामरूप और उनसे आच्छादित परब्रह्म के स्वरूपसम्बन्धी ये सिद्धान्त हुए। अब इसी न्याय से मनुष्य का विचार करें, तो सिद्ध होता है,

कि मनुष्य की देह और इन्द्रियाँ दृश्यसृष्टि के अन्यान्य पदार्थों के समान नाम-रूपात्मक अर्थात् अनित्य माया के वर्ग में हैं; और इन देहेन्द्रियों से ढँका हुआ आत्मा नित्यस्वरूपी परब्रह्म की श्रेणी का है; अथवा ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं। ऐसे अर्थ से बाह्य को स्वतन्त्र, सत्य पदार्थ न माननेवाले अद्वैतसिद्धान्त का और बौद्धसिद्धान्त का भेद अब पाठकों के ध्यान में आ ही गया होगा। विज्ञान-वादी बौद्ध कहते हैं, कि बाह्यसृष्टि ही नहीं है। वे अकेले ज्ञान को ही सत्य मानते हैं। और वेदान्तशास्त्री बाह्यसृष्टि के नित्य बदलते रहनेवाले नामरूप को ही असत्य मान कर यह सिद्धान्त करते हैं, कि इस नामरूप के मूल में और मनुष्य की देह में – दोनों में – एक ही आत्मरूपी, नित्य द्रव्य भरा हुआ है। एवं यह एक आत्मतत्त्व ही अन्तिम सत्य है। सांख्यमतवालों ने 'अविभक्तं विभक्तेषु' के न्याय से सृष्ट पदार्थों की अनेकता के एकीकरण को जड प्रकृति भर के लिये ही स्वीकार कर लिया है। परन्तु वेदान्तियों ने सत्कार्यवाद की बाधा को दूर करके निश्चय किया है, कि जो 'पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है।' इस कारण अब सांख्यों के असंख्य पुरुषों का और प्रकृति का एक ही परमात्मा में अद्वैत से या अविभाग से समावेश हो गया है। शुद्ध आधिभौतिक पण्डित हेकेल अद्वैती हैं सही; पर वह अकेली जड प्रकृति में ही चैतन्य का भी संग्रह करता है। और वेदान्त, जड को प्रधानता न दे कर यह सिद्धान्त स्थिर करता है, कि दिक्कालों से अमर्यादित, अमृत और स्वतन्त्र चिद्रूपी परब्रह्म ही सारी सृष्टि का मूल है। हेकेल के जड अद्वैत में और अध्यात्मशास्त्र के अद्वैत में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद है। अद्वैत वेदान्त का यही सिद्धान्त गीता में है; और एक पुराने कवि ने समग्र अद्वैत वेदान्त के सार का वर्णन यों किया है :–

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

'करोड़ों ग्रन्थों का सार आधे श्लोक में बतलाता हूँ – (१) ब्रह्म सत्य है, (२) जगत् अर्थात् जगत् के सभी नामरूप मिथ्या अथवा नाशवान् हैं; और (३) मनुष्य का आत्मा एवं ब्रह्म मूल में एक ही है – दो नहीं।" इस श्लोक का 'मिथ्या' शब्द यदि किसी के कानों में चुभता हो, तो वह बृहदारण्यक उपनिषद् के अनु-सार इसके तीसरे चरण का 'ब्रह्मामृतं जगत्सत्यम्' पाठान्तर खुशी से कर लें; परन्तु पहले ही बतला चुके हैं, कि इससे भावार्थ नहीं बदलता है। फिर कुछ वेदान्ती इस बात को लेकर फ़िज़ूल झगड़ते रहते हैं, कि समूचे दृश्य जगत् के अदृश्य किन्तु नित्य परब्रह्मरूपी मूलतत्त्व को सत् (सत्य) कहें या असत् (असत्य-अनृत)। अतएव इसका यहाँ थोड़ा-सा खुलासा किये देते हैं, कि इस बात का ठीक ठीक बीज क्या है। इस एक ही सत् या सत्य शब्द के दो भिन्न भिन्न अर्थ

होते हैं। इसी कारण यह झगड़ा मचा हुआ है। और यदि ध्यान से देखा जावे, कि प्रत्येक पुरुष इस 'सत्' शब्द का किस अर्थ में उपयोग करता है, तो कुछ भी गड़बड़ नहीं रह जाती। क्योंकि यह भेद तो सभी को एक-सा मंजूर है, कि ब्रह्म अदृश्य होने पर भी नित्य है; और नामरूपात्मक जगत् दृश्य होने पर भी पल पल में बदलनेवाला है। इस सत् या सत्य शब्द का व्यावहारिक अर्थ है : (१) आँखों के आगे अभी प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला – अर्थात् व्यक्त (फिर कल उसका दृश्य स्वरूप चाहे बदले, चाहे न बदले); और दूसरा अर्थ है : (२) वह अव्यक्त स्वरूप, कि जो सदैव एक-सा रहता है। आँखों से भले ही न दीख पड़े; पर जो कभी न बदले। इनमें से पहला अर्थ जिनको सम्मत है, वे आँखों से दिखाई देनेवाले नामरूपात्मक जगत् को सत्य कहते हैं; और परब्रह्म को इसके विरुद्ध अर्थात् आँखों से न दीख पड़नेवाला अतएव असत् अथवा असत्य कहते हैं। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीय उपनिषद् में दृश्य सृष्टि के लिये 'सत्' और जो दृश्य सृष्टि से परे है, उसके लिये 'त्यत्' (अर्थात् जो कि परे है) अथवा 'अनृत' (आँखों को न दीख पड़नेवाला) शब्दों का उपयोग करके ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है, कि जो कुछ मूल में या आरम्भ में था, वही द्रव्य "सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च।" (तै. २. ६) – सत् (आँखों से दीख पड़नेवाला) और वह (जो परे है), वाच्य और अनिर्वाच्य, साधार और निराधार, ज्ञात और अविज्ञात (अज्ञेय), सत्य और अनृत – इस प्रकार द्विधा बना हुआ है। परन्तु इस प्रकार ब्रह्म को 'अनृत' कहने से अनृत का अर्थ झूठ या असत्य नहीं है। क्योंकि आगे चल कर तैत्तिरीय उपनिषद् में ही कहा है, कि "यह अनृत ब्रह्म जगत् की 'प्रतिष्ठा' अथवा आधार है। इसे और दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं है। एवं जिसने इसको जान लिया, वह अभय हो गया।" इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है, कि शब्दभेद के कारण भावार्थ में कुछ अन्तर नहीं होता है। ऐसे ही अन्त में कहा है, कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्' – यह सारा जगत् पहले असत् (ब्रह्म) था; और ऋग्वेद के (१०. १२९. ४) वर्णन के अनुसार आगे चल कर उसी से सत् यानी नामरूपात्मक व्यक्त जगत् निकला है (तै. २. ७)। इससे भी स्पष्ट ही हो जाता है, कि यहाँ पर 'असत्' शब्द का प्रयोग 'अव्यक्त अर्थात् आँखों से न दीख पड़नेवाले' के अर्थ में ही हुआ है; और वेदान्तसूत्रों (२. १. १७) में बादरायणाचार्य ने उक्त वचनों का ऐसा ही अर्थ किया है। किन्तु जिन लोगों को 'सत्' अथवा 'सत्य' शब्द का यह अर्थ (ऊपर बतलाये हुए अर्थों में से दूसरा अर्थ) सम्मत है – आँखों से न दीख पड़ने पर भी सदैव रहनेवाला अथवा टिकाऊ – वे उस अदृश्य परब्रह्म को ही सत् या सत्य कहते हैं, कि जो कभी नहीं बदलता; और नामरूपात्मक माया को असत् यानी असत्य अर्थात् विनाशी

कहते हैं। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य में वर्णन किया गया है, कि 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् कथमसतः सज्जायेत' – पहले यह सारा जगत् सत् (ब्रह्म) था, जो असत् है यानी नहीं, उससे सत् यानी जो विद्यमान है – मौजूद है – कैसे उत्पन्न होगा (छां. ६. २. १, २)? फिर भी छांदोग्य उपनिषद् में ही इस परब्रह्म के लिये एक स्थान पर अव्यक्त अर्थ में 'असत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है (छां. ३. १९. १)।* एक ही परब्रह्म को भिन्न भिन्न समयों और अर्थों में एक बार 'सत्,' तो एक बार 'असत्'; यों परस्परविरुद्ध नाम देने की यह गड़बड़ – अर्थात् वाच्य अर्थ के एक ही होने पर भी निरा शब्दवाद मचवाने में सहायक – प्रणाली आगे चल कर रुक गई। और अन्त में इतनी ही एक परिभाषा स्थिर हो गई है, कि ब्रह्म सत् या सत्य यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है; और दृश्य सृष्टि असत् अर्थात् नाशवान् है। भगवद्गीता में यही अन्तिम परिभाषा मानी गई है; और इसी के अनुसार दूसरे अध्याय (२. १६. १८) में कह दिया है, कि परब्रह्म सत् और अविनाशी है। एवं नामरूप असत् अर्थात् नाशवान् हैं; और वेदान्त-सूत्रों का भी ऐसा ही मत है। फिर भी दृश्यसृष्टि को 'सत्' कह कर परब्रह्म को 'असत्' या 'त्यत्' (वह = परे का) कहने की तैत्तिरीयोपनिषद्वाली उस पुरानी परिभाषा का नामोनिशाँ अब भी बिलकुल जाता नहीं रहा है। पुरानी परिभाषा से इसका भली भाँति खुलासा हो जाता है, कि गीता के इस 'ॐ तत् सत्' ब्रह्मनिर्देश (गी. १७. २३) का मूल अर्थ क्या रहा होगा। यह 'ॐ' गूढाक्षररूपी वैदिक मन्त्र है। उपनिषदों में इसका अनेक रीतियों से व्याख्यान किया गया है (प्र. ५; मां. ८–१२; छां. १. १)। 'तत्' यानी वह अथवा दृश्य सृष्टि से परे दूर रहनेवाला अनिर्वाच्य तत्त्व है; और 'सत्' का अर्थ है आँखों के सामनेवाली दृश्य सृष्टि। इस सङ्कल्प का अर्थ यह है, कि ये तीनों मिल कर सब ब्रह्म ही है। और इसी अर्थ में भगवान् ने गीता में कहा है, कि 'सदसच्चाहमर्जुन' (गी. ९. १९) – सत् यानी परब्रह्म और असत् अर्थात् दृश्य सृष्टि, दोनों मैं ही हूँ। तथापि जब कि गीता में कर्मयोग ही प्रतिपाद्य है, तब सत्रहवे अध्याय के अन्त में प्रतिपादन किया है, कि इस ब्रह्मनिर्देश से भी कर्मयोग का पूर्ण समर्थन होता है। 'ॐ तत्सत्' के 'सत्' शब्द का अर्थ लौकिक दृष्टि से भला अर्थात् सद्बुद्धि से किया हुआ अथवा वह कर्म है, कि जिसका अच्छा फल मिलता है; और तत् का अर्थ परे का या फलाशा छोड़ कर किया हुआ कर्म है। संकल्प में जिसे 'सत्' कहा हैं, वह सृष्टि यानी

---

* अध्यात्मशास्त्रवाले अंग्रेज़ ग्रन्थकारों में भी इस विषय में मतभेद है, कि real अर्थात् सत् शब्द जगत् के दृश्य (माया) के लिये उपयुक्त हो; अथवा वस्तुतत्त्व (ब्रह्म) के लिये। कान्ट दृश्य को सत् समझ कर (real) वस्तुतत्त्व को अविनाशी मानता है; पर हेकेल और ग्रीनप्रभृति दृश्य को असत् (unreal) समझ कर वस्तुतत्त्व को (real) कहते हैं।

कर्म ही है (अगला प्रकरण देखो)। अतः इस ब्रह्मनिर्देश का यह कर्मप्रधान अर्थ मूल अर्थ से सहज ही निष्पन्न होता है। ॐ तत्सत्, नेति नेति, सच्चिदानन्द और 'सत्यस्य सत्यं' के अतिरिक्त और भी कुछ ब्रह्मनिर्देश उपनिषदों में हैं; परन्तु उनको यहाँ इसलिये नहीं बतलाया, कि गीता का अर्थ समझने में उनका उपयोग नहीं है।

जगत्, जीव, और परमेश्वर (परमात्मा) के परस्परसम्बन्ध का इस प्रकार निर्णय हो जाने पर गीता में भगवान् ने जो कहा है, कि " जीव मेरा ही 'अंश' है " (गीता. १५.) और " मैं ही एक 'अंश' से सारे जगत् में व्याप्त हूँ " (गी. १०. ४२) – एवं बादरायणाचार्य ने भी वेदान्त (२. ३. ४३; ४. ४. १९) में यही बात कही है – अथवा पुरुषसूक्त में जो " पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि " यह वर्णन है, उसके 'पाद' या 'अंश' शब्द के अर्थ का निर्णय भी सहज ही हो जाता है। परमेश्वर या परमात्मा यद्यपि सर्वव्यापी है, तथापि वह निरवयव और नामरूपरहित है। अतएव उसे काट नहीं सकते (अच्छेद्य); और उसमें विकार भी नहीं होता (अविकार्य); और इसलिये उसके अलग अलग विभाग या टुकड़े नहीं हो सकते (गी. २. २५)। अतएव जो परब्रह्म सघनता से अकेला ही चारों ओर व्याप्त है उसका और मनुष्य के शरीर में निवास करनेवाले आत्मा का भेद बतलाने के लिये यद्यपि व्यवहार में ऐसा कहना पड़ता है, कि 'शारीर आत्मा' परब्रह्म का ही 'अंश' है; तथापि 'अंश' या 'भाग' शब्द का अर्थ 'काट कर अलग किया हुआ टुकड़ा' या 'अनार के अनेक दानों में से एक दाना' नहीं है। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से उसका अर्थ यह समझना चाहिये, कि जैसे घर के भीतर का आकाश और घड़े का आकाश (मठाकाश और घटाकाश) एक ही सर्वव्यापी आकाश का 'अंश' या भाग है, उसी प्रकार 'शारीर आत्मा' भी परब्रह्म का अंश है (अमृतबिन्दूपनिषद् १३ देखो)। सांख्यवादियों की प्रकृति और हेकेल के जडाद्वैत में माना गया एक वस्तुतत्त्व, ये भी इसी प्रकार सत्य निर्गुण परमात्मा के सगुण अर्थात् मर्यादित अंश हैं। अधिक क्या कहें? आधिभौतिक शास्त्र की प्रणाली से तो यही मालूम होता है, कि जो कुछ व्यक्त या अव्यक्त मूलतत्त्व है (फिर चाहे वह आकाशवत् कितना भी व्यापक हो), वह सब स्थल और काल से बद्ध केवल नामरूप अतएव मर्यादित और नाशवान् है। यह बात सच है, कि उन तत्त्वों की व्यापकता भर के लिये उतना ही परब्रह्म उनसे आच्छादित है। परन्तु परब्रह्म उन तत्त्वों से मर्यादित न हो कर उन सब में ओतप्रोत भरा हुआ है; और इसके अतिरिक्त न जाने वह कितना बाहर है, कि जिसका कुछ पता नहीं। परमेश्वर की व्यापकता दृश्य सृष्टि के बाहर कितनी है, यह बतलाने के लिये यद्यपि 'त्रिपाद' शब्द का उपयोग पुरुषसूक्त में किया गया है, तथापि उसका अर्थ 'अनन्त' ही इष्ट है। वस्तुतः देखा जाय, तो

देश और काल, माप और तौल या संख्या इत्यादि सब नामरूप के ही प्रकार हैं; और यह बतला चुके हैं, कि परब्रह्म इन सब नामरूपों के परे है। इसीलिये उपनिषदों में ब्रह्मस्वरूप के ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि जिस नामरूपात्मक 'काल' से सब कुछ ग्रसित है, उस 'काल' को भी ग्रसनेवाला या पचा जानेवाला जो तत्त्व है, वही परब्रह्म है (मै. ६. १५)। और 'न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः' – परमेश्वर को प्रकाशित करनेवाला सूर्य, चन्द्र, अग्नि इत्यादिकों के समान कोई प्रकाशक साधन नहीं है; किन्तु वह स्वयं प्रकाशित है – इत्यादि के जो वर्णन उपनिषदों में और गीता में हैं, उनका भी अर्थ यही है (गी. १५. ६; कठ ५. १५; श्वे. ६. १४)। सूर्य-चन्द्र-तारागण सभी नामरूपात्मक विनाशी पदार्थ हैं। जिसे 'ज्योतिषां ज्योतिः' (गी. १३. १७; बृह. ४. ४. १६) कहते हैं, वह स्वयंप्रकाश और ज्ञानमय ब्रह्म इन सब के परे अनन्त भरा हुआ है। उसे दूसरे प्रकाशक पदार्थों की अपेक्षा नहीं है; और उपनिषदों में तो स्पष्ट कहा है, कि सूर्य-चन्द्र आदि को जो प्रकाश प्राप्त है, वह भी उसी स्वयंप्रकाश ब्रह्म से ही मिलता है (मुं. २. २. १०)। आधिभौतिक शास्त्रों की युक्तियों से इन्द्रियगोचर होनेवाले अतिसूक्ष्म या अत्यन्त दूर का कोई पदार्थ लीजिये – ये सब पदार्थ दिक्काल आदि नियमों की क़ैद में बँधे हैं। अतएव उनका समावेश 'जगत्' ही में होता है। सच्चा परमेश्वर उन सब पदार्थों में रह कर भी उनसे निराला और उनसे कहीं अधिक व्यापक तथा नामरूपों के जाल से स्वतन्त्र है। अतएव केवल नामरूपों का ही विचार करनेवाले आधिभौतिक शास्त्रों की युक्तियाँ या साधन वर्तमान दशा से चाहे सौगुने अधिक सूक्ष्म और प्रगल्भ हो जावें; तथापि सृष्टि के मूल 'अमृत तत्त्व' का उनसे पता लगना सम्भव नहीं। उस अविनाशी, अविकार्य और अमृत तत्त्व को केवल अध्यात्मशास्त्र के ज्ञानमार्ग से ही ढूँढ़ना चाहिये।

यहाँ तक अध्यात्मशास्त्र के जो मुख्य मुख्य सिद्धान्त बतलाये गये और शास्त्रीय रीति से उनकी जो संक्षिप्त उपपत्ति बतलाई गई, उनसे इन बातों का स्पष्टीकरण हो जायगा, कि परमेश्वर के सारे नामरूपात्मक व्यक्त स्वरूप केवल मायिक और अनित्य हैं; तथा उनकी अपेक्षा उनका अव्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है। उसमें भी जो निर्गुण अर्थात् नामरूपरहित है, वही सब से श्रेष्ठ है। और गीता में बतलाया गया है, कि अज्ञान से निर्गुण ही सगुण-सा मालूम होता है। परन्तु इन सिद्धान्तों को केवल शब्दों में ग्रथित करने का कार्य कोई भी मनुष्य कर सकेगा, जिसे सुदैव से हमारे समान चार अक्षरों का कुछ ज्ञान हो गया है – इसमें कुछ विशेषता नहीं है। विशेषता तो इस बात में है, कि ये सारे सिद्धान्त बुद्धि में आ जावें, मन में प्रतिबिम्बित हो जावें, हृदय में जम जावें; और नस नस में समा जावें। इतना होने पर परमेश्वर के स्वरूप की इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे, कि एक ही

परब्रह्म सब प्राणियों में व्याप्त है; और उसी भाव से संकट के समय भी पूरी समता से बर्ताव करने का अचल स्वभाव हो जावे। परन्तु इसके लिये अनेक पीढ़ियों के संस्कारों की, इन्द्रियनिग्रह की, दीर्घोद्योग की, तथा ध्यान और उपासना की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। इन सब बातों की सहायता से 'सर्वत्र एक ही आत्मा' का भाव जब किसी मनुष्य के संकटसमय पर भी उसके प्रत्येक कार्य में स्वाभाविक रीति से स्पष्ट गोचर होने लगता है, तभी समझना चाहिये, कि उसका ब्रह्मज्ञान यथार्थ में परिपक्व हो गया है; और ऐसे ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है (गी. ५. १८–२०; ६. २१, २२) – यही अध्यात्मशास्त्र के उपर्युक्त सारे सिद्धान्तों का सारभूत और शिरोमणिभूत अन्तिम सिद्धान्त है। ऐसा आचरण जिस पुरुष में दिखाई न दे, उसे 'कच्चा' समझना चाहिये – अभी वह ब्रह्मज्ञानाग्नि में पूरा पक नहीं पाया है। सच्चे साधु और निरे वेदान्तशास्त्रियों में जो भेद है, वह यही है। और इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में ज्ञान का लक्षण बतलाते समय यह नहीं कहा, कि 'बाह्यसृष्टि के मूलतत्त्व को केवल बुद्धि से जान लेना' ज्ञान है। किन्तु यह कहा है, कि सच्चा ज्ञान वही है, जिससे 'अमानित्व, क्षान्ति, आत्मनिग्रह, समबुद्धि' इत्यादि उदात्त मनोवृत्तियाँ जागृत हो जावें; और जिससे चित्त की पूरी शुद्धता आचरण में सदैव व्यक्त हो जावे (गी. १३. ७–११)। जिसकी व्यवसायात्मक बुद्धि ज्ञान से आत्मनिष्ठ (अर्थात् आत्म-अनात्म-विचार में स्थिर) हो जाती है; और जिसके मन को सर्वभूतात्मैक्य का पूरा परिचय हो जाता है, उस पुरुष की वासनात्मक बुद्धि भी निस्संदेह शुद्ध ही होती है। परन्तु यह समझने के लिये, कि किसकी बुद्धि कैसी है, उसके आचरण के सिवा दूसरा बाहरी साधन नहीं है। अतएव केवल पुस्तकों से प्राप्त कोरे ज्ञानप्रसार के आधुनिक काल में इस बात पर विशेष ध्यान रहे, कि 'ज्ञान' या 'समबुद्धि' शब्द में ही शुद्ध (व्यवसायात्मक) बुद्धि, शुद्ध वासना (वासनात्मक बुद्धि), और शुद्ध आचरण, इन तीनों शुद्ध बातों का समावेश किया जाता है। ब्रह्म के विषय में कोरा वाक्पाण्डित्य दिखलानेवाले और उसे सुन कर 'वाह !' 'वाह !' कहते हुए सिर हिलानेवाले या किसी नाटक के दर्शकों के समान 'एक बार फिर से – वन्स मोर' कहनेवाले बहुतेरे होंगे (गी. २. २९; क. २. ७)। परन्तु जैसा कि ऊपर कह आये हैं – जो मनुष्य अन्तर्बाह्य शुद्ध अर्थात् साम्यशील हो गया हो – वही सच्चा आत्मनिष्ठ है; और उसी को मुक्ति मिलती है; न कि कोरे पंडित को – चाहे वह कैसा ही बहुश्रुत और बुद्धिमान् क्यों न हो ? उपनिषदों में स्पष्ट कहा है, कि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (क. २. २२; मुं. ३. २. ३)। और इसी प्रकार तुकाराम महाराज भी कहते हैं – 'यदि तू पंडित होगा, तो तू पुराण-कथा कहेगा; परन्तु तू यह नहीं जान सकता, कि 'मैं

कौन हूँ'। देखिये, हमारा ज्ञान कितना संकुचित है। 'मुक्ति मिलती है' – ये शब्द सहज ही हमारे मुख से निकल पड़ते हैं! मानो यह मुक्ति आत्मा से कोई भिन्न वस्तु है! ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने के पहले द्रष्टा और दृश्य जगत् में भेद था सही; परन्तु हमारे अध्यात्मशास्त्र ने निश्चित कर के रखा है, कि जब ब्रह्मात्मैक्य का पूरा ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है; ब्रह्मज्ञानी पुरुष आप ही ब्रह्मरूप हो जाता है। इस आध्यात्मिक अवस्था को ही 'ब्रह्मनिर्वाण' मोक्ष कहते हैं। यह ब्रह्मनिर्वाण किसी से किसी को दिया नहीं जाता। यह कहीं दूसरे स्थान से आता नहीं या इसकी प्राप्ति के लिये किसी अन्य लोक में जाने की भी आवश्यकता नहीं। पूर्ण आत्मज्ञान जब और जहाँ होगा, उसी क्षण में और उसी स्थान पर मोक्ष धरा हुआ है। क्योंकि मोक्ष तो आत्मा ही की मूल शुद्धावस्था है। वह कुछ निराली स्वतन्त्र वस्तु या स्थल नहीं। शिवगीता (१३. ३२) में यह श्लोक है :–

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

अर्थात् "मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं, कि जो किसी एक स्थान में रखी हो; अथवा यह भी नहीं, कि उसकी प्राप्ति के लिये किसी दूसरे गाँव या प्रदेश को जाना पड़े! वास्तव में हृदय की अज्ञानग्रन्थि के नाश हो जाने को ही मोक्ष कहते हैं"। इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र से निष्पन्न होनेवाला यही अर्थ भगवद्गीता के "अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्" (गी. ५. २६) – जिन्हें पूर्ण आत्मज्ञान हुआ है, उन्हें ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष आप-ही-आप प्राप्त हो जाता है; तथा 'यः सदा मुक्त एव सः' (गी. ५. २८) इस श्लोक में वर्णित है; और 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' – जिसने ब्रह्म को जाना, वह ब्रह्म ही हो जाता है (मुं. ३. २. ९) इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में भी वही अर्थ वर्णित है। मनुष्य के आत्मा की ज्ञानदृष्टि से जो यह पूर्णावस्था होती है, उसी को 'ब्रह्मभूत' (गी. १८. ५४) या 'ब्राह्मी स्थिति' कहते हैं (गी. २. ७२); और स्थितप्रज्ञ (गी. २. ५५–७२), भक्तिमान् (गी. १२. १३–२०), या त्रिगुणातीत (गी. १४. २२–२७) पुरुषों के विषय में भगवद्गीता में जो वर्णन हैं, वे भी इसी अवस्था के हैं। यह नहीं समझना चाहिये, कि जैसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' पद से प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतंत्र मान कर पुरुष के केवलपन या 'कैवल्य' को मोक्ष मानते हैं, वैसा ही मोक्ष गीता को भी सम्मत है। किन्तु गीता का अभिप्राय है, कि अध्यात्मशास्त्र में कही गई ब्राह्मी अवस्था – 'अहं ब्रह्मास्मि' – मैं ही ब्रह्म हूँ (बृ. १. ४. १०) – कभी तो भक्तिमार्ग से, कभी चित्तनिरोधरूप पातञ्जलयोगमार्ग से, और कभी गुणागुणविवेचनरूप सांख्यमार्ग से भी प्राप्त होती है। इन मार्गों में अध्यात्मविचार

केवल बुद्धिगम्य मार्ग है। इसलिये गीता में कहा है, कि सामान्य मनुष्यों को परमेश्वरस्वरूप का ज्ञान होने के लिये भक्ति ही सुगम साधन है। इस साधन का विस्तारपूर्वक विचार हमने आगे चल कर तेरहवे प्रकरण में किया है। साधन कुछ भी हो; इतनी बात निर्विवाद है, कि ब्रह्मात्मैक्य का अर्थात् सच्चे परमेश्वरस्वरूप का ज्ञान होना, सब प्राणियों में एक ही आत्मा पहचानना और उसी भाव के अनुसार बर्ताव करना ही अध्यात्मज्ञान की परमावधि है; तथा यह अवस्था जिसे प्राप्त हो जाय, वही पुरुष धन्य तथा कृतकृत्य होता है। यह पहले ही बतला चुके हैं, कि केवल इन्द्रियसुख पशुओं और मनुष्यों को एक ही समान होता है। इसलिये मनुष्यजन्म की सार्थकता अथवा मनुष्य की मनुष्यता ज्ञानप्राप्ति ही में है। सब प्राणियों के विषय में काया-वाचा-मन से सदैव ऐसी ही साम्यबुद्धि रख कर अपने सब कर्मों को करते रहना ही नित्यमुक्तावस्था, पूर्णयोग या सिद्धावस्था है। इस अवस्था के जो वर्णन गीता में हैं, उनमें से बारहवे अध्यायवाले भक्तिमान् पुरुष के वर्णनपर टीका करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज* ने अनेक दृष्टान्त दे कर ब्रह्मभूत पुरुष की साम्यावस्था का अत्यन्त मनोहर और चटकीला निरूपण किया है। और यह कहने में कोई हर्ज़ नहीं, कि इस निरूपण में गीता के चारों स्थानों में वर्णित ब्राह्मी अवस्था का सार आ गया है; यथा :– "हे पार्थ! जिसके हृदय में विषमता का नाम तक नहीं है, जो शत्रु और मित्र दोनों को समान ही मानता है; अथवा हे पाण्डव! दीपक के समान जो इस बात का भेदभाव नहीं जानता, कि यह मेरा घर है, इसलिये यहाँ प्रकाश करूँ; और वह पराया घर है, इसलिये वहाँ अँधेरा करूँ। बीज बोनेवाले पर और पेड़ को काटनेवाले पर भी वृक्ष जैसे सम-भाव से छाया करता है;" इत्यादि (ज्ञा. १२. १८)। इसी प्रकार "पृथ्वी के समान वह इस बात का भेद बिलकुल नहीं जानता, कि उत्तम का ग्रहण करना चाहिये और अधम का त्याग करना चाहिये। जैसे कृपालु प्राण इस बात को नहीं सोचता, कि राजा के शरीर को चलाऊँ और रङ्क के शरीर को गिराऊँ (जैसे जल यह भेद नहीं करता, कि गो की तृषा बुझाऊँ और व्याघ्र के लिये विष बन कर उसका नाश करूँ), वैसे ही सब प्राणियों के विषय में जिसकी एक-सी मित्रता है, जो स्वयं कृपा की मूर्ति है, और जो 'मैं' और 'मेरा' का व्यवहार नहीं जानता और जिसे सुखदुःख का भान भी नहीं होता" इत्यादि (ज्ञा. १२. १३)। अध्यात्मविद्या से जो कुछ अन्त में प्राप्त करना है, वह यही है।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होगा, कि सारे मोक्षधर्म के मूलभूत अध्यात्म-ज्ञान की परम्परा हमारे यहाँ उपनिषदों से लगा कर ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि आधुनिक साधुपुरुषों तक किस प्रकार

* ज्ञानेश्वर महाराज के 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद श्रीयुत रघुनाथ माधव भगाडे, बी. ए., सबजज्ज, नागपूर, ने किया है; और वह ग्रन्थ उन्हीं से मिल सकता है।

अव्याहत चली आ रही है। परन्तु उपनिषदों के भी पहले यानी अत्यन्त प्राचीन काल में ही हमारे देश में इस ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ था; और तब से क्रम क्रम से आगे उपनिषदों के विचारों की उन्नति होती चली गई है। यह बात पाठकों को भली भाँति समझा देने के लिये ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध सूक्त भाषान्तरसहित यहाँ अन्त में दिया गया है। जो उपनिषदान्तर्गत ब्रह्मविद्या का आधारस्तंभ है। सृष्टि के अगम्य मूलतत्त्व और उससे विविध दृश्यसृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जैसे विचार इस सूक्त में प्रदर्शित किये गये हैं, वैसे प्रगल्भ, स्वतन्त्र और मूल तक की खोज करनेवाले तत्त्वज्ञान के मार्मिक विचार अन्य किसी भी धर्म के मूल-ग्रन्थ में दिखाई नहीं देते। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे अध्यात्मविचारों से परिपूर्ण और इतना प्राचीन लेख भी अब तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिये अनेक पश्चिमी पंडितों ने धार्मिक इतिहास की दृष्टि से भी इस सूक्त को अत्यंत महत्त्वपूर्ण जान कर आश्चर्यचकित हो अपनी अपनी भाषाओं में इसका अनुवाद यह दिखलाने के लिये किया है, कि मनुष्य के मन की प्रवृत्ति इस नाशवान् और नामरूपात्मक सृष्टि के परे नित्य और अचिन्त्य ब्रह्मशक्ति की ओर सहज ही कैसे झुक जाया करती है। यह ऋग्वेद के दसवे मंडल का १२९ वाँ सूक्त है; और इसके प्रारम्भिक शब्दों से इसे 'नासदीय सूक्त' कहते हैं। यही सूक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ८. ९) में लिया गया है; और महाभारतान्तर्गत नारायणीय या भागवत-धर्म में इसी सूक्त के आधार पर यह बात बतलाई गई है, कि भगवान् की इच्छा से पहले पहल सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई (म. भा. शां. ३४२. ८)। सर्वानुक्रमणिका के अनुसार इस सूक्त का ऋषि परमेष्ठि प्रजापति है; और देवता परमात्मा है; तथा इसमें त्रिष्टुप् वृत्त के यानी ग्यारह अक्षरों के चार चरणों की सात ऋचाएँ हैं। 'सत्' और 'असत्' शब्दों के दो दो अर्थ होते हैं। अतएव सृष्टि के मूलद्रव्य को 'सत्' कहने के विषय में उपनिषत्कारों के जिस मतभेद का उल्लेख पहले हम इस प्रकरण में कर चुके हैं, वही मतभेद ऋग्वेद में भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, इस मूलकारण के विषय में कहीं तो यह कहा है, कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ. १. १६४. ४६) अथवा 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋ. १०. ११४. ५) – वह एक और सत् यानी सदैव स्थिर रहनेवाला है; परन्तु उसी को लोग अनेक नामों से पुकारते हैं। और कहीं कहीं इसके विरुद्ध यह भी कहा है, कि 'देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत' (ऋ. १०. ७२. ७) – देवताओं के भी पहले असत् से अर्थात् अव्यक्त से 'सत्' अर्थात् व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त, किसी-न-किसी एक दृश्य तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति होने के विषय में ऋग्वेद ही में भिन्न भिन्न अनेक वर्णन पाये जाते हैं। जैसे सृष्टि के आरम्भ में मूल हिरण्यगर्भ था। अमृत और मृत्यु दोनों उसकी ही छाया हैं; और आगे उसी से सारी सृष्टि निर्मित हुई है (ऋ. १०. १२१. १, २)। पहले

विराट्रूपी पुरुष थाः और उससे यज्ञ के द्वारा सारी सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ. १०. ९०)। पहले पानी (आप) था। उसमें प्रजापति उत्पन्न हुआ (ऋ. १०. ७२. ६; १०. ८२. ६)। ऋत और सत्य पहले उत्पन्न हुए, फिर रात्रि (अन्धकार), और उसके बाद समुद्र (पानी), संवत्सर इत्यादि उत्पन्न हुए (ऋ. १०. १९०. १)। ऋग्वेद में वर्णित इन्हीं मूलद्रव्यों का आगे अन्यान्य स्थानों में इस प्रकार उल्लेख किया गया है। जैसे :- (१) जल का, तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्' - यह सब पहले पतला पानी था (तै. ब्रा. १. १. ३. ५)। (२) असत् का, तैत्तिरीय उपनिषद् में 'असद्वा इदमग्र आसीत्' - यह पहले असत् था (तै. २. ७)। (३) सत् का, छांदोग्य में 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' - यह सब पहले सत् ही था (छां. ६. २)। अथवा (४) आकाश का, 'आकाशः परायणम्' - आकाश ही सब बातों का मूल है (छां. १. ९); मृत्यु का, बृहदारण्यक में 'नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' - पहले यह कुछ भी न था, मृत्यु से सब आच्छादित था (बृह. १. २. १); और (६) तम का, मैत्र्युपनिषद् में 'तमो वा इदमग्र आसीदेकम्' (मै. ५. २) - पहले यह सब अकेला तम (तमोगुणी, अन्धकार) था - आगे उससे रज और सत्त्व हुआ। अन्त में इन्हीं वेदवचनों का अनुसरण करके मनुस्मृति में सृष्टि के आरम्भ का वर्णन इस प्रकार किया गया है :-

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

अर्थात् "यह सब पहले तम से यानी अन्धकार से व्याप्त था। भेदाभेद नहीं जाना जाता था। अगम्य और निद्रित-सा था। फिर आगे इसमें अव्यक्त परमेश्वर ने प्रवेश करके पहले पानी उत्पन्न किया" (मनु. १. ५-८)। सृष्टि के आरम्भ के मूलद्रव्य के सम्बन्ध में उक्त वर्णन या ऐसे ही भिन्न भिन्न वर्णन नासदीय सूक्त के समय भी अवश्य प्रचलित रहे होंगे; और उस समय भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ होगा, कि इनमें कौन-सा मूलद्रव्य सत्य माना जावे ? अतएव उसके सत्यांश के विषय में इस सूक्त के ऋषि यह कहते हैं, कि :-

सूक्त	अनुवाद
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । किमावरीवः कुह कस्य शर्म- न्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥	१. तब अर्थात् मूलारंभ में असत् नहीं था और सत् भी नहीं था। अंतरिक्ष नहीं था और उसके परे का आकाश न था। (ऐसी अवस्था में) किस ने (किस पर) आवरण डाला ? कहाँ ? किस के

सुख के लिये ? अगाध और गहन जल (भी) कहाँ था ? *

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकम् ।
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस ॥२॥

२. तब मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नाशवान् दृश्य सृष्टि न थी, अतएव (दूसरा) अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ (यह भेद) भी न था। (इसी प्रकार) रात्रि और दिन का भेद समझने के लिये कोई साधन (= प्रकेत) न था। (जो कुछ था) वह अकेला एक ही अपनी शक्ति (स्वधा) से वायु के बिना श्वासोच्छ्वास लेता अर्थात् स्फूर्तिमान् होता रहा। इसके अतिरिक्त या इसके परे और कुछ भी न था।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽ
प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥ ३ ॥

३. जो (यत्) ऐसा कहा जाता है, कि अन्धकार था, आरम्भ में यह सब अन्धकार से व्याप्त (और) भेदाभेदरहित जल था (या) आभु अर्थात् सर्वव्यापी ब्रह्म (पहले ही) तुच्छ से अर्थात् झूठी माया से आच्छादित था, वह (तत्) मूल में एक (ब्रह्म ही) तप की महिमा से (आगे रूपान्तर से) प्रकट हुआ था। †

---

* ऋचा पहली – चौथे चरण में ' आसीत् किम् ' यह अन्वय करके हमने उक्त अर्थ दिया है; और उसका भावार्थ है, ' पानी तब नहीं था ' (तै. ब्रा. २. २, ९)।

† ऋचा तीसरी – कुछ लोग इसके प्रथम तीन चरणों को स्वतंत्र मानकर उनका ऐसा विधानात्मक अर्थ करते हैं, कि " अन्धकार से व्याप्त पानी, या तुच्छ से आच्छादित आभु (पोलापन) था। " परन्तु हमारे मत से यह भूल है। क्योंकि पहली दो ऋचाओं में जब कि ऐसी स्पष्ट उक्ति है, कि मूलारंभ में कुछ भी न था; तब उसके विपरीत इसी सूक्त में यह कहा जाना संभव नहीं, कि मूलारंभ में अन्धकार या पानी था। अच्छा; यदि वैसा अर्थ करें भी; तो तीसरे चरण के यत् शब्द को निरर्थक मानना होगा। अतएव तीसरे चरण के 'यत्' का चौथे चरण के 'तत्' से संबन्ध लगाकर, जैसा (कि हमने ऊपर किया है) अर्थ करना आवश्यक है। ' मूलारंभ में पानी वगैरह पदार्थ थे ' ऐसा कहनेवालों को उत्तर देने के लिये इस सूक्त में यह ऋचा आई है। और इसमें ऋषि का उद्देश यह बतलाने का है, कि तुम्हारे कथनानुसार मूल में तम, पानी इत्यादि पदार्थ न थे; किन्तु एक

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

४. इसके मन का, जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला, वही आरम्भ में काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करने की प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ। ज्ञाताओं ने अन्तःकरण में विचार करके बुद्धि से निश्चित किया, कि (यही) असत् में अर्थात् मूल परब्रह्म में सत् का यानी विनाशी दृश्यसृष्टि का (पहला) सम्बन्ध है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्
अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥५॥

५. (यह) रश्मि या किरण या धागा इनमें आड़ा फैल गया; और यदि कहें, कि यह नीचे था, तो यह ऊपर भी था। (इनमें से कुछ) रेतो धा अर्थात् बीजप्रद हुए; और (बढ़कर) बड़े भी हुए। उन्हीं की स्वशक्ति इस ओर रही; और प्रयति अर्थात् प्रभाव उस ओर (व्याप्त) हो रहा।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना-
थ को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥

६. (सत् का) यह विसर्ग यानी पसारा किससे या कहाँ से आया? यह (इससे अधिक) प्र यानी विस्तारपूर्वक यहाँ कौन कहेगा? इसे कौन निश्चयात्मक जानता है? देव भी इस (सत् सृष्टि के) विसर्ग के पश्चात् हुए हैं। फिर वह जहाँ से हुई, उसे कौन जानेगा?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न दधे ।

७. (सत् का) यह विसर्ग अर्थात् फैलाव जहाँ से हुआ अथवा निर्मित

ब्रह्म का ही आगे यह सब विस्तार हुआ है। 'तुच्छ' और 'आभु' ये शब्द एक दूसरे के प्रतियोगी हैं। अतएव तुच्छ के विपरीत 'आभु' शब्द का अर्थ बड़ा या समर्थ होता है; और ऋग्वेद में जहाँ अन्य दो स्थानों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ सायणाचार्य ने भी उसका यही अर्थ किया है (ऋ. १०, २७, १, ४)। पंचदशी (चित्र. १२९, १३०) में तुच्छ शब्द का उपयोग माया के लिये किया गया है (नृसिं. उत्त. ९ देखो)। अर्थात् 'आभु' का अर्थ पोलापन न हो कर 'परब्रह्म' ही होता है। 'सर्व आः इदम्' – यहाँ आः (अ + अस्) अस् धातु का भूतकाल है; और इसका अर्थ 'आसीत्' होता है।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद॥७॥

किया गया या नहीं किया गया – उसे परम आकाश में रहनेवाला इस सृष्टि का जो अध्यक्ष (हिरण्यगर्भ) है, वही जानता होगा; या न भी जानता हो! (कौन कह सके ?)

सारे वेदान्तशास्त्र का रहस्य यही है, कि नेत्रों को या सामान्यतः सब इंद्रियों को गोचर होनेवाले विकारी और विनाशी नामरूपात्मक अनेक दृश्यों के फंदे में फँसे न रह कर ज्ञानदृष्टि से यह जानना चाहिये, कि इस दृश्य के परे **कोई न कोई एक और अमृत तत्त्व है।** इस मक्खन के गोले को ही पाने के लिये उक्त सूक्त के ऋषि की बुद्धि एकदम दौड़ पड़ी है। इससे यह स्पष्ट दीख पड़ता है, कि उसका अन्तर्ज्ञान कितना तीव्र था! मूलारम्भ में अर्थात् सृष्टि के सारे पदार्थों के उत्पन्न होने के पहले जो कुछ था, वह सत् था या असत्; मृत्यु था या अमर; आकाश था या जल; प्रकाश था या अंधकार? – ऐसे अनेक प्रश्न करनेवालों के साथ वादविवाद न करते हुए उक्त ऋषि सब के आगे दौड़ कर यह कहता है, कि सत् और असत् मर्त्य और अमर, अन्धकार और प्रकाश, आच्छादन करनेवाला और आच्छादित, सुख देनेवाला और उसका अनुभव करनेवाला, ऐसे अद्वैत की परस्परसापेक्ष भाषा दृश्य सृष्टि की उत्पत्ति के अनन्तर की है। अतएव सृष्टि में इन द्वन्द्वों के उत्पन्न होने के पूर्व अर्थात् जब ' एक और दूसरा ' यह भेद ही न था, तब कौन किसे अच्छादित करता? इसलिये आरम्भ ही में इस सूक्त का ऋषि निर्भय हो कर यह कहता है, कि मूलारम्भ के एक द्रव्य को सत् या असत्, आकाश या जल, प्रकाश या अंधकार, अमृत या मृत्यु, इत्यादि कोई भी परस्पर-सापेक्ष नाम देना उचित नहीं। जो कुछ था, वह इन सब पदार्थों से विलक्षण था; और वह अकेला एक चारों ओर अपनी अपरंपार शक्ति से स्फूर्तिमान् था। उसकी जोड़ी में या उसे आच्छादित करनेवाला अन्य कुछ भी न था। दूसरी ऋचा में 'आनीत्' क्रियापद के 'अन्' धातु का अर्थ है श्वासोच्छ्वास लेना या स्फुरण होना; और 'प्राण' शब्द भी उसी धातु से बना है। परन्तु जो न सत् है और न असत्, उसके विषय में कौन कह सकता है, कि वह सजीव प्राणियों के समान श्वासोच्छ्वास लेता था? और श्वासोच्छ्वास के लिये वहाँ वायु ही कहाँ है? अतएव 'आनीत्' पद के साथ ही – 'अवातं' = विना वायु के और 'स्वधया' = स्वयं अपनी ही महिमा से, इन दोनों पदों को जोड़ कर ' सृष्टि का मूलतत्त्व जड़ नहीं था ' यह अद्वैतावस्था का अर्थ द्वैत की भाषा में बड़ी युक्ति से इस प्रकार कहा है, " वह एक बिना वायु के केवल अपनी ही शक्ति से श्वासोच्छ्वास लेता या स्फूर्तिमान् होता था! " इसमें बाह्यदृष्टि से जो विरोध दिखाई देता है, वह द्वैती भाषा की अपूर्णता से उत्पन्न हुआ है। ' नेति नेति ', ' एक-

मेवाद्वितीयम् ' या ' स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः ' (छां. ७. २४. १) – अपनी ही महिमा से अर्थात् अन्य किसी की अपेक्षा न करते हुए अकेलाहि रहनेवाला, इत्यादि जो परब्रह्म के वर्णन उपनिषदों में पाये जाते हैं, वे भी उपरोक्त अर्थ के ही द्योतक हैं। सारी सृष्टि के मूलारम्भ में चारों ओर जिस एक अनिर्वाच्य तत्त्व के स्फुरण होने की बात इस सूक्त में कही गई है, वही तत्त्व सृष्टि का प्रलय होने पर भी निःसन्देह शेष रहेगा। अतएव गीता में इसी परब्रह्म का कुछ पर्याय से इस प्रकार वर्णन है, कि ' सब पदार्थों का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता ' (गी. ८. २०)। और आगे इसी सूक्ति के अनुसार स्पष्ट कहा है, कि " वह सत् भी नहीं है; और असत् भी नहीं है " (गी. १३. १२)। परन्तु प्रश्न यह है, कि जब सृष्टि के मूलारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के सिवा और कुछ भी न था; तो फिर वेदों में जो ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, कि " आरंभ में पानी, अन्धकार या आभु और तुच्छ की जोड़ी थी " उनकी क्या व्यवस्था होगी ? अतएव तीसरी ऋचा में कवि ने कहा है, कि इस प्रकार के जितने वर्णन हैं [जैसे कि – सृष्टि के आरम्भ में अंधकार था या अंधकार से आच्छादित पानी था, या आभु (ब्रह्म) और उसको आच्छादित करनेवाली माया (तुच्छ) ये दोनों पहले से थे, इत्यादि] वे सब उस समय के हैं, कि जब अकेले एक मूल परब्रह्म के तप-माहात्म्य से उसका विविध रूप से फैलाव हो गया था। ये वर्णन मूलारंभ की स्थिति के नहीं हैं। इस ऋचा में 'तप' शब्द से मूलब्रह्म की ज्ञानमय विलक्षण शक्ति विवक्षित है; और उसी का वर्णन चौथी ऋचा में किया गया है (मुं. १. १. ९ देखो) " एतावान् अस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः " (ऋ. १०. ९०. ३)। इस न्याय से सारी सृष्टि ही जिसकी महिमा कहलाई, उस मूलद्रव्य के विषय में कहना पड़ेगा, कि वह इन सब के परे, सबसे श्रेष्ठ और भिन्न है। परन्तु दृश्य वस्तु और द्रष्टा, भोक्ता और भोग्य, आच्छादन करनेवाला और आच्छाद्य, अंधकार और प्रकाश, मर्त्य और अमर इत्यादि सारे द्वैतों को इस प्रकार अलग कर यद्यपि यह निश्चय किया गया, कि केवल एक निर्मल चिद्रूपी विलक्षण परब्रह्म ही मूलारम्भ में था; तथापि जब यह बतलाने का समय आया, कि इस अनिर्वाच्य, निर्गुण, अकेले एकतत्त्व से आकाश, जल इत्यादि द्वंद्वात्मक विनाशी सगुण नाम-रूपात्मक विविध सृष्टि या इस सृष्टि की मूलभूत त्रिगुणात्मक प्रकृति कैसे उत्पन्न हुई, तब तो हमारे प्रस्तुत ऋषि ने भी मन, काम, असत् और सत् जैसी द्वैती भाषा का ही उपयोग किया है। और अन्त में स्पष्ट कह दिया है, कि यह प्रश्न मानवी बुद्धि की पहुँच के बाहर है। चौथी ऋचा में मूलब्रह्म को ही 'असत्' कहा है; परन्तु उसका अर्थ ' कुछ नहीं ' यह नहीं मान सकते। क्योंकि दूसरी ऋचा में ही स्पष्ट कहा है, कि ' वह है '। न केवल इसी सूक्त में, किन्तु अन्यत्र भी व्यावहारिक भाषा को स्वीकार कर के ही ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता

में गहन विषयों का विचार ऐसे प्रश्नों के द्वारा किया गया है। (ऋ. १०. ३१. ७; १०. ८१. ४; वाज. सं. १७. २० देखो) – जैसे दृश्यसृष्टि को यज्ञ की उपमा दे कर प्रश्न किया है, कि इस यज्ञ के लिये आवश्यक घृत, समिधा इत्यादि सामग्री प्रथम कहाँ से आई (ऋ. १०. १३०. ३)? अथवा घर का दृष्टान्त ले कर प्रश्न किया है, कि मूल एक निर्गुण से नेत्रों को प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली आकाश-पृथ्वी की इस भव्य इमारत को बनाने के लिये लकड़ी (मूलप्रकृति) कैसे मिली? – ' किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः । ' इन प्रश्नों का उत्तर, उपर्युक्त सूक्त की चौथी और पाँचवीं ऋचा में जो कुछ कहा गया है, उससे अधिक दिया जाना सम्भव नहीं है (वाज. सं. ३३. ७४ देखो); और वह उत्तर यही है, कि उस अनिर्वाच्य, अकेले एक ब्रह्म ही के मन में सृष्टि निर्माण करने का 'काम'-रूपी तत्त्व किसी तरह उत्पन्न हुआ; और वस्त्र के धागों समान या सूर्यप्रकाश के समान उसी की शाखाएँ तुरन्त नीचे, ऊपर और चहुँ ओर फैल गई। तथा सत् का सारा फैलाव हो गया – अर्थात् आकाश-पृथ्वी की यह भव्य इमारत बन गई। उपनिषदों में इस सूक्त के अर्थ को फिर भी इस प्रकार प्रकट किया है, कि ' सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। ' (तै. २. ६; छां. ६. २. ३) – उस परब्रह्म को ही अनेक होने की इच्छा हुई (बृ. १. ४. देखो); और अथर्ववेद में भी ऐसा वर्णन है, कि इस सारी दृश्यसृष्टि के मूलभूत द्रव्य से ही पहले पहल 'काम' हुआ (अथर्व. ९. २. १९)। परन्तु इस सूक्त में विशेषता यह है, कि निर्गुण से सगुण की, असत् से सत् की, निर्द्वन्द्व से द्वन्द्व की, अथवा असङ्ग से सङ्ग की उत्पत्ति का प्रश्न मानवी बुद्धि के लिये अगम्य समझ कर सांख्यों के समान केवल तर्कवश हो मूलप्रकृति ही को या उसके सदृश किसी दूसरे तत्त्व को स्वयंभू और स्वतन्त्र नहीं माना है। किन्तु इस सूक्त का ऋषि कहता है, कि ' जो बात समझ में नहीं आती, उसके लिये साफ़ साफ़ कह दो, कि यह समझ में नहीं आती। परन्तु उसके लिये शुद्धबुद्धि से और आत्मप्रतीति से निश्चित किये गये अनिर्वाच्य ब्रह्म की योग्यता को दृश्यसृष्टिरूप माया की योग्यता के बराबर मत समझो; और न परब्रह्म के विषय में अपने अद्वैतभाव ही को छोड़ो। इसके सिवा यह सोचना चाहिये, कि यद्यपि प्रकृति को एक भिन्न त्रिगुणात्मक, स्वतन्त्र पदार्थ मान भी लिया जावे; तथापि इस प्रश्न का उत्तर तो दिया ही नहीं जा सकता, कि उसमें सृष्टि को निर्माण करने के लिये प्रथमतः बुद्धि (महान्) या अहंकार कैसे उत्पन्न हुआ? और, जब कि यह दोष कभी टल ही नहीं सकता है, तो फिर प्रकृति को स्वतन्त्र मान लेने में क्या लाभ है? सिर्फ़ इतना कहो, कि यह बात समझ में नहीं आती, कि मूलब्रह्म से सत् अर्थात् प्रकृति कैसे निर्मित हुई? इसके लिये प्रकृति को स्वतन्त्र मान लेने की ही कुछ आवश्यकता नहीं है। मनुष्य

की बुद्धि की कौन कहे, परन्तु देवताओं की दिव्यबुद्धि से भी सत् की उत्पत्ति का रहस्य समझ में आ जाना संभव नहीं। क्योंकि देवता भी दृश्यसृष्टि के आरम्भ होने पर उत्पन्न हुए हैं। उन्हें पिछला हाल क्या मालूम? (गी. १०. २ देखो)। परन्तु हिरण्यगर्भ देवताओं से भी बहुत प्राचीन और श्रेष्ठ है। और ऋग्वेद में ही कहा है, कि आरम्भ में वह अकेला ही 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ. १९. १२१. १.) – सारी सृष्टि का 'पति' अर्थात् राजा या अध्यक्ष था। फिर उसे यह बात क्योंकर मालूम न होगी? और यदि उसे मालूम होगी; तो फिर कोई पूछ सकता है, कि इस बात को दुर्बोध या अगम्य क्यों कहते हो? अतएव उस सूक्त के ऋषि ने पहले तो उक्त प्रश्न का यह औपचारिक उत्तर दिया है, कि 'हाँ; वह इस बात को जानता होगा।' परन्तु अपनी बुद्धि से ब्रह्मदेव के भी ज्ञानसागर की थाह लेनेवाले इस ऋषि ने आश्चर्य से साशंक हो अन्त में तुरन्त ही कह दिया है, कि "अथवा न भी जानता हो! कौन कह सकता है? क्योंकि वह भी सत् ही की श्रेणी में है। इसलिये 'परम' कहलाने पर भी 'आकाश' ही में रहनेवाले जगत् के इस अध्यक्ष को सत्, असत्, आकाश और जल के भी पूर्व की बातों का ज्ञान निश्चित रूप से कैसे हो सकता है?" परन्तु यद्यपि यह बात समझ में नहीं आती, कि एक 'असत्' अर्थात् अव्यक्त और निर्गुण द्रव्य ही के साथ विविध नामरूपात्मक सत् का अर्थात् मूलप्रकृति का संबंध कैसे हो गया? तथापि मूलब्रह्म के एकत्व के विषय में ऋषि ने अपने अद्वैत भाव को डिगने नहीं दिया है। यह इस बात का एक उत्तम उदाहरण है, कि सात्त्विक श्रद्धा और निर्मल प्रतिभा के बल पर मनुष्य की बुद्धि अचिन्त्य वस्तुओं के सघन बन में सिंह के समान निर्भय हो कर कैसे सञ्चार किया करती है? और वहाँ की अतर्क्य बातों का यथाशक्ति कैसे निश्चय किया करती है? यह सचमुच ही आश्चर्य तथा गौरव की बात है, कि ऐसा सूक्त ऋग्वेद में पाया जाता है। हमारे देश में इस सूक्त के ही विषय का आगे ब्राह्मणों (तैत्ति. ब्रा. २. ८. ९) में, उपनिषदों में और अनन्तर वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों में सूक्ष्म रीति से विवेचन किया गया है; और पश्चिमी देशों में भी अर्वाचीन काल के कान्ट इत्यादि तत्त्वज्ञानियों ने उसीका अत्यंत सूक्ष्म परीक्षण किया है। परन्तु स्मरण रहे, कि इस सूक्त के ऋषि की पवित्र बुद्धि में जिन परम सिद्धान्तों की स्फूर्ति हुई है, वही सिद्धान्त आगे प्रतिपक्षियों को विवर्तवाद के समान उचित उत्तर दे कर और भी दृढ, स्पष्ट या तर्कदृष्टि से निःसंदेह किये गये हैं। इसके आगे अभी तक न कोई बढ़ा है और न बढ़ने की विशेष आशा ही की जा सकती है।

अध्यात्म-प्रकरण समाप्त हुआ। अब आगे चलने के पहले 'केसरी' की चाल के अनुसार उस मार्ग का कुछ निरीक्षण हो जाना चाहिये, कि जो यहाँ तक चल आये हैं। कारण यह है, कि यदि इस प्रकार सिंहावलोकन न किया जावे, तो

विषयानुसंधान के चूक जाने से सम्भव है, कि और किसी अन्य मार्ग में सञ्चार होने लगे। ग्रन्थारम्भ में पाठकों का विषय में प्रवेश कराके कर्मजिज्ञासा का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया है; और तीसरे प्रकरण में यह दिखलाया है, कि **कर्मयोगशास्त्र** ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अनन्तर चौथे, पाँचवे और छठे प्रकरण में सुखदुःखविवेकपूर्वक यह बतलाया है, कि कर्मयोगशास्त्र की आधिभौतिक उपपत्ति एकदेशीय तथा अपूर्ण है; और आधिदैविक उपपत्ति लँगड़ी है। फिर कर्मयोग की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाने के पहले – यह जानने के लिये, कि आत्मा किसे कहते हैं – छठे प्रकरण में ही पहले – क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचार और आगे सातवे तथा आठवे प्रकरण में सांख्यशास्त्रान्तर्गत द्वैत के अनुसार क्षर-अक्षर-विचार किया गया है। और फिर इस प्रकरण में आकर इस विषय का निरूपण किया गया है, कि आत्मा का स्वरूप क्या है? तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में दोनों ओर एक ही अमृत और निर्गुण आत्मतत्त्व किस प्रकार ओतप्रोत और निरन्तर व्याप्त है। इसी प्रकार यहाँ यह भी निश्चित किया गया है, कि ऐसा समबुद्धियोग प्राप्त करके (कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है) उसे सदैव जागृत रखना ही आत्मज्ञान की और आत्मसुख की पराकाष्ठा है। और फिर यह बतलाया गया है, कि अपनी बुद्धि को इस प्रकार शुद्ध आत्मनिष्ठ अवस्था में पहुँचा देने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व अर्थात् नरदेह की सार्थकता या मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार मनुष्यजाति के आध्यात्मिक परमसाध्य का निर्णय हो जानेपर कर्मयोगशास्त्र के इस मुख्य प्रश्न का भी निर्णय आप-ही-आप हो जाता है, कि संसार में हमें प्रतिदिन जो व्यवहार करने पड़ते हैं, वे किस नीति से किये जावें? अथवा जिस शुद्धबुद्धि से उन सांसारिक व्यवहारों को करना चाहिये, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है? क्योंकि अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं, कि ये सारे व्यवहार उसी रीति से किये जान चाहिये, कि जिससे वे परिणाम में ब्रह्मात्मैक्यरूप समबुद्धि के पोषक या अविरोधी हों। भगवद्गीता में कर्मयोग के इसी आध्यात्मिक तत्त्व का उपदेश अर्जुन को किया गया है। परन्तु कर्मयोग का प्रतिपादन केवल इतने ही से पूरा नहीं होता। क्योंकि कुछ लोगों का कहना है, कि नामरूपात्मक सृष्टि के व्यवहार आत्मज्ञान के विरुद्ध हैं। अतएव ज्ञानी पुरुष उनको छोड़ दें। और यदि यही बात सत्य हो, तो संसार के सारे व्यवहार त्याज्य समझे जायेंगे; और फिर कर्म-अकर्मशास्त्र भी निरर्थक हो जावेगा। अतएव इस विषय का निर्णय करने के लिये कर्मयोगशास्त्र में ऐसे प्रश्नों का भी विचार अवश्य करना पड़ता है, कि कर्म के नियम कौन से हैं? और उनका परिणाम क्या होता है? अथवा बुद्धि की शुद्धता होने पर भी व्यवहार अर्थात् कर्म क्यों करना चाहिये? भगवद्गीता में ऐसा विचार किया भी गया है। संन्यासमार्गवाले लोगों को इन प्रश्नों का कुछ भी महत्त्व नहीं जान

पड़ता। अतएव ज्योंही भगवद्गीता का वेदान्त या भक्ति का निरूपण समाप्त हुआ, त्योंही प्रायः वे लोग अपनी पोथी समेटने लग जाते हैं। परन्तु ऐसा करना हमारे मत से गीता के मुख्य उद्देश की ओर ही दुर्लक्ष करना है। अतएव अब आगे क्रम से इस बात का विचार किया जायगा, कि भगवद्गीता में उपर्युक्त प्रश्नों के क्या उत्तर दिये गये हैं।

दसवाँ प्रकरण

कर्मविपाक और आत्मस्वातंत्र्य

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते। *

– महाभारत, शांति. २४०. ७

यद्यपि यह सिद्धान्त अन्त में सच है, कि इस संसार में जो कुछ है, वह परब्रह्म ही है; परब्रह्म को छोड़ कर अन्य कुछ नहीं है; तथापि मनुष्य की इन्द्रियों को गोचर होनेवाली दृश्य सृष्टि के पदार्थों का अध्यात्मशास्त्र की चलनी में जब हम संशोधन करते लगने हैं, तब उनके नित्य-अनित्यरूपी दो विभाग या समूह हो जाते हैं। एक तो उन पदार्थों का नामरूपात्मक दृश्य है, जो इन्द्रियों को प्रत्यक्ष दीख पड़ता है; परन्तु हमेशा बदलनेवाला होने के कारण अनित्य है। और दूसरा परमात्मतत्त्व है, जो नामरूपों से आच्छादित होने के कारण अदृश्य, परन्तु नित्य है। यह सच है, कि रसायनशास्त्र में जिस प्रकार सब पदार्थों का पृथक्करण करके उनके घटकद्रव्य अलग अलग निकाल लिये जाते हैं, उसी प्रकार ये दो विभाग आँखों के सामने पृथक् पृथक् नहीं रखे जा सकते। परन्तु ज्ञानदृष्टि से उन दोनों को अलग करके शास्त्रीय उपपादन के सुभीते के लिये उनको क्रमशः 'ब्रह्म' और 'माया' तथा कभी कभी **'ब्रह्मसृष्टि'** और **'मायासृष्टि'** नाम दिया जाता है। तथापि स्मरण रहे, कि ब्रह्म मूल से ही नित्य और सत्य है। इस कारण उसके साथ सृष्टि शब्द ऐसे अवसर पर अनुप्रासार्थ लगा रहता है; और 'ब्रह्मसृष्टि' शब्द से यह मतलब नहीं है, कि ब्रह्म को किसी ने उत्पन्न किया है। इन दो सृष्टियों में से दिक्काल आदि नामरूपों से अमर्यादित, अनादि, नित्य, अविनाशी, अमृत, स्वतन्त्र और सारी दृश्य सृष्टि के लिये आधारभूत हो कर उसके भीतर रहनेवाली ब्रह्मसृष्टि में ज्ञानचक्षु से सञ्चार करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप अथवा अपने परम साध्य का विचार पिछले प्रकरण में किया गया। और सच पूछिये तो शुद्ध अध्यात्मशास्त्र वहीं समाप्त हो गया। परन्तु, मनुष्य का आत्मा यद्यपि आदि में ब्रह्मसृष्टि का है, तथापि दृश्य सृष्टि की अन्य वस्तुओं की तरह वह भी नामरूपात्मक देहेन्द्रियों से आच्छादित है; और ये देहेन्द्रिय आदिक नामरूप विनाशी हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा होती है, कि इनसे छूट कर अमृतत्व कैसे प्राप्त करूँ? और, इस इच्छा की पूर्ति के लिये मनुष्य को व्यवहार में कैसे चलना चाहिये? – कर्मयोगशास्त्र के इस विषय का विचार करने के लिये कर्म के क़ायदों से बँधी हुई अनित्य **मायासृष्टि** के द्वैती प्रदेश में ही अब हमें आना चाहिये।

* "कर्म से प्राणी बाँधा जाता है; और विद्या से उसका छुटकारा हो जाता है।"

पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों मूल में यदि एक ही नित्य और स्वतन्त्र आत्मा है, तो अब सहज ही प्रश्न होता है, कि पिण्ड के आत्मा को ब्रह्माण्ड के आत्मा की पहचान हो जाने में कौन-सी अड़चन रहती है? और वह दूर कैसे हो? इस प्रश्न को हल करने के लिये नामरूपों का विवेचन करना आवश्यक होता है। क्योंकि वेदान्त की दृष्टि से सब पदार्थों के दो वर्ग होते हैं: एक आत्मा अथवा परमात्मा; और दूसरा उसके ऊपर का नामरूपों का आवरण। इसलिये नामरूपात्मक आवरण के सिवा अब अन्य कुछ भी शेष नहीं रहता। वेदान्तशास्त्र का मत है, कि नामरूप का यह आवरण किसी जगह घना, तो किसी जगह विरल होने के कारण दृश्य सृष्टि के पदार्थों में सचेतन और अचेतन; तथा सचेतन में भी पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, गन्धर्व और राक्षस इत्यादि भेद हो जाते हैं। यह नहीं, कि आत्मरूपी ब्रह्म किसी स्थान में न हो। वह सभी जगह है – वह पत्थर में है और मनुष्य में भी है। परन्तु जिस प्रकार दीपक एक होने पर भी किसी लोहे के बक्स में अथवा न्यूनाधिक स्वच्छ काँच की लालटेन में उसके रखने से अन्तर पड़ता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व सर्वत्र एक ही होने पर भी उसके ऊपर के कोश – अर्थात् नामरूपात्मक आवरण के तारतम्य भेद से अचेतन और सचेतन जैसे भेद हो जाया करते हैं। और तो क्या? इसका भी कारण वही है, कि सचेतन में मनुष्यों और पशुओं को ज्ञान सम्पादन करने का एक समान ही सामर्थ्य क्यों नहीं होता। आत्मा सर्वत्र एक ही है सही; परन्तु वह आदि से ही निर्गुण और उदासीन होने के कारण मन, बुद्धि इत्यादि नामरूपात्मक साधनों के बिना स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता; और वे साधन मनुष्ययोनि को छोड़ अन्य किसी भी योनि में उसे पूर्णतया प्राप्त नहीं होते। इसलिये मनुष्यजन्म सब में श्रेष्ठ कहा गया। इस श्रेष्ठ जन्म में आने पर आत्मा के नामरूपात्मक आवरण के स्थूल और सूक्ष्म, दो भेद होते हैं। इनमें से स्थूल आवरण मनुष्य की स्थूलदेह ही है, कि जो शुक्र, शोणित आदि से बनी है। शुक्र से आगे चल कर स्नायु, अस्थि और मज्जा; तथा शोणित अर्थात् रक्त से त्वचा, मांस और केश उत्पन्न होते हैं – ऐसा समझ कर इन सब को वेदान्ती 'अन्नमय कोश' कहते हैं। इस स्थूलकोश को छोड़ कर हम यह देखने लगते हैं, कि इसके अन्दर क्या है? तब क्रमशः वायुरूपी प्राण अर्थात् 'प्राणमय कोश', मन अर्थात् 'मनोमय कोश', बुद्धि अर्थात् 'ज्ञानमय कोश;' और अन्त में 'आनन्दमय कोश' मिलता है। आत्मा इससे भी परे है। इसलिये तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नमय कोश से आगे बढ़ते बढ़ते अन्त में आनन्दमय कोश बतला कर वरुण ने भृगु को आत्मस्वरूप की पहचान करा दी है (तै. २. १-५; ३. २-६)। इन सब कोशों में से स्थूलदेह का कोश छोड़ कर बाकी रहे हुए प्राणादि कोशों, सूक्ष्म इन्द्रियों और पञ्चतन्मात्राओं को वेदान्ती 'लिंग' अथवा सूक्ष्म शरीर कहते हैं। वे लोग, 'एक ही आत्मा को भिन्न भिन्न योनियों में जन्म कैसे प्राप्त होता है?' –

इसकी उपपत्ति, सांख्यशास्त्र की तरह बुद्धि के अनेक 'भाव' मान कर नहीं लगाते; किन्तु इस विषय में उनका यह सिद्धान्त है, कि यह सब कर्मविपाक का अथवा कर्म के फलों का परिणाम है। गीता में, वेदान्तसूत्रों में और उपनिषदों में स्पष्ट कहा है, कि यह कर्म लिंगशरीर के आश्रय से अर्थात् आधार से रहा करता है; और जब आत्मा स्थूलदेह छोड़कर जाने लगता है, तब यह कर्म भी लिंगशरीर द्वारा उसके साथ जा कर बार बार उसको भिन्न भिन्न जन्म लेने के लिये बाध्य करता है। इसलिये नामरूपात्मक जन्ममरण के चक्कर से छूट कर नित्य परब्रह्मस्वरूपी होने में अथवा मोक्ष की प्राप्ति में पिण्ड के आत्मा को जो अड़चन हुआ करती है, उसका विचार करते समय लिंगशरीर और कर्म दोनों का भी विचार करना पड़ता है। इनमें से लिंगशरीर का सांख्य और वेदान्त दोनों दृष्टियों से पहले ही विचार किया जा चुका है। इसलिये यहाँ फिर उसकी चर्चा नहीं की जाती। इस प्रकरण में सिर्फ़ इसी बात का विवेचन किया गया है, कि जिस कर्म के कारण आत्म को ब्रह्मज्ञान न होते हुए अनेक जन्मों के चक्कर में पड़ना होता है, उस कर्म का स्वरूप क्या है? और उससे छूट कर आत्मा को अमृतत्व प्राप्त होने के लिये मनुष्य को इस संसार में कैसे चलना चाहिये?

सृष्टि के आरम्भकाल में अव्यक्त और निर्गुण परब्रह्म जिस देशकाल आदि नामरूपात्मक सगुण शक्ति से व्यक्त, अर्थात् दृश्यसृष्टिरूप हुआ-सा दीख पड़ता है, उसी को वेदान्तशास्त्र में 'माया' कहते हैं (गी. ७. २४. २५); और उसी में कर्म का भी समावेश होता है (बृ. १. ६. १)। किंबहुना यह भी कहा जा सकता है, कि 'माया' और 'कर्म' दोनों समानार्थक हैं। क्योंकि पहले कुछ-न-कुछ कर्म अर्थात् व्यापार हुए बिना अव्यक्त का व्यक्त होना अथवा निर्गुण का सगुण होना सम्भव नहीं। इसीलिये पहले यह कह कर, कि मैं अपनी माया से प्रकृति में उत्पन्न होता हूँ (गी. ४. ६); फिर आगे आठवे अध्याय में गीता में ही कर्म का यह लक्षण दिया है, कि 'अक्षर परब्रह्म से पञ्चमहाभूतादि विविध सृष्टि निर्माण होने की जो क्रिया है, वही कर्म है' (गी. ८. ३)। कर्म कहते हैं व्यापार अथवा क्रिया को। फिर वह मनुष्यकृत हो, सृष्टि के अन्य पदार्थों की क्रिया हो अथवा मूल सृष्टि के उत्पन्न होने की ही हो। इतना व्यापक अर्थ इस जगह विवक्षित है। परन्तु कर्म कोई हो; उसका परिणाम सदैव केवल इतना ही होता है, कि एक प्रकार का नामरूप बदल कर उसकी जगह दूसरा नामरूप उत्पन्न किया जाय। क्योंकि इन नामरूपों से आच्छादित मूलद्रव्य कभी नहीं बदलता – वह सदा एक-सा ही रहता है। उदाहरणार्थ, बुनने की क्रिया से 'सूत' यह नाम बदल कर उसी द्रव्य को 'वस्त्र' नाम मिल जाता है; और कुम्हार के व्यापार से 'मिट्टी' नाम के स्थान में 'घट' नाम प्राप्त हो जाता है। इसलिये माया की व्याख्या देते समय कर्म को न ले कर नाम और रूप को ही कभी कभी माया कहते हैं। तथापि

कर्म का जब स्वतन्त्र विचार करना पड़ता है, तब यह कहने का समय आता है, कि कर्मस्वरूप और मायास्वरूप एक ही हैं। इसलिये आरम्भ ही में यह कह देना अधिक सुभीते की बात होगी, कि माया, नामरूप और कर्म ये तीनों मूल में एकस्वरूप ही हैं। हाँ; उसमें भी यह विशिष्टार्थक सूक्ष्म भेद किया जा सकता है, कि **माया** एक सामान्य शब्द है; और उसी के दिखावे को **नामरूप** तथा व्यापार को **कर्म** कहते हैं। पर साधारणतया यह भेद दिखलाने की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये तीनों शब्दों का बहुधा समान अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है। परब्रह्म के एक माया पर विनाशी माया का जो आच्छादन (अथवा उपाधि = ऊपर का उढौना) हमारी आँखों को दिखता है, उसी को सांख्यशास्त्र में 'त्रिगुणात्मक प्रकृति' कहा गया है। सांख्यवादी पुरुष और प्रकृति दोनों तत्त्वों को स्वयंभू, स्वतन्त्र और अनादि मानते हैं; परन्तु माया, नामरूप अथवा कर्म, क्षण क्षण में बदलते रहते हैं। इसलिये उनको नित्य और अविकारी परब्रह्म की योग्यता का – अर्थात् स्वयंभू और स्वतंत्र मानना न्यायदृष्टि से अनुचित है। क्योंकि नित्य और अनित्य ये दोनों कल्पनाएँ परस्परविरुद्ध हैं; और इसलिये दोनों का अस्तित्व एक ही काल में माना नहीं जा सकता। इसलिये वेदान्तियों ने यह किन्तु निश्चित किया है, कि विनाशी प्रकृति अथवा कर्मात्मक माया स्वतन्त्र नहीं है; एक, नित्य, सर्वव्यापी और निर्गुण परब्रह्म में ही मनुष्य की दुर्बल इन्द्रियों को सगुण माया का दिखावा दीख पड़ता है। परन्तु केवल इतना ही कह देने से काम नहीं चल जाता, कि माया परतन्त्र है; और परब्रह्म में ही यह दृश्य दिखाई देता है। गुणपरिणाम से न सही; तो विवर्तवाद से निर्गुण और नित्य ब्रह्म में विनाशी सगुण नामरूपों का – अर्थात् माया का दृश्य दिखाना चाहे संभव हो। तथापि यहाँ एक और प्रश्न उपस्थित होता है, कि मनुष्य की इन्द्रियों को दीखनेवाला यह सगुण दृश्य निर्गुण परब्रह्म में पहले पहल किस क्रम से, कब और क्यों दीखने लगा? अथवा यही अर्थ व्यावहारिक भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है, कि नित्य और चिद्रूपी परमेश्वर ने नामरूपात्मक, विनाशी और जड़सृष्टि कब और क्यों उत्पन्न की? परन्तु ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में जैसा कि वर्णन किया गया है, यह विषय मनुष्य के ही लिये नहीं; किन्तु देवताओं के लिये और वेदों के लिये भी अगम्य है (ऋ. १०. १२९; तै. ब्रा. २. ८. ९)। इसलिये उक्त प्रश्न का इससे अधिक और कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकता, कि "ज्ञानदृष्टि से निश्चित किये हुए निर्गुण परब्रह्म की ही यह एक अतर्क्य लीला है" (वे. सू. २. १. ३३)। अतएव इतना मान कर ही आगे चलना पड़ता है, कि जब से हम देखते आये, तब से निर्गुण ब्रह्म के साथ ही नामरूपात्मक विनाशी कर्म अथवा सगुण माया हमें दृग्गोचर होती आई है। इसीलिये वेदान्तसूत्र में कहा है, कि, मायात्मक कर्म अनादि है (वे. सू. २. १. ३५–३७); और भगवद्गीता में भी भगवान् ने

पहले यह वर्णन करके, कि प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है – 'मेरी ही माया है' (गी. ७. १४); – फिर आगे कहा है, कि प्रकृति अर्थात् माया, और पुरुष, दोनों 'अनादि' हैं (गी. १३. १९)। इसी तरह श्रीशंकराचार्य ने अपने भाष्य में माया का लक्षण देते हुए कहा है, कि "सर्वज्ञेश्वरस्याऽऽत्मभूते इवाऽविद्या-कल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य 'माया' 'शक्तिः' 'प्रकृति' रिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते' (वे. सू. शां. भा. २. १. १४)। इसका भावार्थ यह है – '(इन्द्रियों के) अज्ञान से मूलब्रह्म में कल्पित किये हुए नामरूप को ही श्रुति और स्मृतिग्रन्थों में सर्वज्ञ ईश्वर की 'माया', 'शक्ति' अथवा 'प्रकृति' कहते हैं। ये नामरूप सर्वज्ञ परमेश्वर के आत्म-भूत-से जान पड़ते हैं। परन्तु इनके जड होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि ये परब्रह्म से भिन्न हैं या अभिन्न (तत्त्वान्यत्व)? और यही जडसृष्टि (दृश्य) के विस्तार के मूल हैं;' और 'इस माया के योग से ही ये ही सृष्टि परमेश्वरनिर्मित दीख पड़ती है। इस कारण यह माया चाहे विनाशी हो; तथापि दृश्य सृष्टि की उत्पत्ति के लिये आवश्यक और अत्यन्त उपयुक्त है; तथा इसी को उपनिषदों में अव्यक्त, आकाश, अक्षर इत्यादि नाम दिये गये हैं' (वे. सू. शां. भा. १. ४. ३)। इससे दीख पड़ेगा, कि चिन्मय (पुरुष) और अचेतन माया (प्रकृति) इन दोनों तत्त्वों को सांख्यवादी स्वयंभू, स्वतन्त्र और अनादि मानते हैं। पर माया का अनादित्व यद्यपि वेदान्ती एक तरह से स्वीकार करते हैं, तथापि यह उन्हें मान्य नहीं, कि माया स्वयंभू और स्वतंत्र है। और इसी कारण संसारात्मक माया का वृक्षरूप से वर्णन करते समय गीता (१५. ३) में कहा गया है, कि 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' – इस संसार-वृक्ष का रूप अन्त, आदि, मूल अथवा ठौर नहीं मिलता। इसी प्रकार तीसरे अध्याय में जो ऐसे वर्णन हैं, कि 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (३. १५) – ब्रह्म से कर्म उत्पन्न हुआ। 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' (३. १४) – यज्ञ भी कर्म से ही उत्पन्न होता है। अथवा 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' (३. १०) – ब्रह्मदेव ने प्रजा (सृष्टि), यज्ञ (कर्म) दोनों को साथ ही निर्माण किया। इन सब का तात्पर्य भी यही है, कि "कर्म अथवा कर्मरूपी यज्ञ और सृष्टि अर्थात् प्रजा, ये सब साथ ही उत्पन्न हुई हैं।" फिर चाहे इस सृष्टि को प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव से निर्मित हुई कहो अथवा मीमांसकों की नाईं यह कहो, कि उस ब्रह्मदेव ने नित्य वेद-शब्दों से उसको बनाया – अर्थ दोनों का एक ही है (म. भा. शां. २३१; मनु. १. २१)। सारांश, दृश्य सृष्टि का निर्माण होने के समय मूल निर्गुण ब्रह्म में जो व्यापार दीख पड़ता है; वही कर्म है। इस व्यापार को ही नामरूपात्मक माया कहा गया है; और मूलकर्म से ही सूर्यचन्द्र आदि सृष्टि के सब पदार्थों के व्यापार आगे परम्परा से उत्पन्न हुए हैं (बृ. ३. ८. ९)। ज्ञानी पुरुषों ने

अपनी बुद्धि से निश्चित किया है, कि संसार के सारे व्यापार का मूलभूत जो यह सृष्ट्युत्पत्तिकाल का कर्म अथवा माया है, सो ब्रह्म की ही कोई न कोई अतर्क्य लीला है, स्वतंत्र वस्तु नहीं है।* परन्तु ज्ञानी पुरुषों की गति यहाँ पर कुंठित हो जाती है। इसलिये इस बात का पता नहीं लगता, कि यह लीला, नामरूप अथवा मायात्मक कर्म 'कब' उत्पन्न हुआ? अतः केवल कर्मसृष्टि का ही विचार जब करना होता है, तब इस परतन्त्र और विनाशी माया की तथा माया के साथ ही तदंगभूत कर्म को भी वेदान्तशास्त्र में अनादि कहा करते हैं (वे. सू. २. १. ३५)। स्मरण रहे, कि जैसा सांख्यवादी कहते हैं, उस प्रकार अनादि का यह मतलब नहीं है, कि माया मूल में ही परमेश्वर की बराबरी की, निरारम्भ और स्वतन्त्र है – परन्तु यहाँ अनादि शब्द का यह अर्थ विवक्षित है, कि वह दुर्ज्ञेयारम्भ है – अर्थात् उसका आदि (आरम्भ) मालूम नहीं होता।

परन्तु यद्यपि हमें इस बात का पता नहीं लगता, कि चिद्रूप ब्रह्म कर्मात्मक अर्थात् दृश्यसृष्टिरूप कब और क्यों होने लगा? तथापि इस मायात्मक कर्म के अगले सब व्यापारों के नियम निश्चित हैं; और उनमें से बहुतेरे नियमों को हम निश्चित रूप से जान भी सकते हैं। आठवे प्रकरण में सांख्यशास्त्र के अनुसार इस बात का विवेचन किया गया है, कि मूलप्रकृति से अर्थात् अनादि मायात्मक कर्म से ही आगे चल कर सृष्टि के नामरूपात्मक विविध पदार्थ किस क्रम से निर्मित हुए? और वहीं आधुनिक आधिभौतिक शास्त्र के सिद्धान्तः भी तुलना के लिये बतलाये गये हैं। यह सच है, कि वेदान्तशास्त्र प्रकृति को परब्रह्म की तरह स्वयम्भू नहीं मानता; परन्तु प्रकृति के अगले विस्तार का क्रम जो सांख्यशास्त्र में कहा गया है, वही वेदान्त को भी मान्य है। इसलिये यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं की जाती। कर्मात्मक मूलप्रकृति से विश्व की उत्पत्ति का जो क्रम पहले बतलाया गया है, उसमें उन सामान्य नियमों का कुछ भी विचार नहीं हुआ, कि जिनके अनुसार मनुष्य को कर्मफल भोगने पड़ते हैं। इसलिये अब उन नियमों का विवेचन करना आवश्यक है। इसी को 'कर्मविपाक' कहते हैं। इस कर्मविपाक का पहला नियम यह है, कि जहाँ एक बार कर्म का आरम्भ हुआ, कि फिर उसका व्यापार आगे बराबर अखण्ड जारी रहता है; और जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर सृष्टि का संहार होता है, तब भी यह कर्म बीजरूप से बना रहता है। एवं फिर जब सृष्टि का आरम्भ होने लगता है, तब उसी कर्मबीज से फिर पूर्ववत् अंकुर फूटने लगते हैं। महाभारत का कथन है, कि :–

* "What belongs to mere appearance is necessarily subordinated by reason to the nature of the thing in itself." Kant's *Metaphysic of Morals* (Abbot's trans. in Kant's *Theory of Ethics*, p. 81).

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

अर्थात् "पूर्व की सृष्टि में प्रत्येक प्राणी ने जो जो कर्म किये होंगे, ठीक वे ही कर्म उसे (चाहे उसकी इच्छा हो या न हो) फिर फिर यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं" (देखो म. भा. शां. २३१. ४८. ४९ और गी. ८. १८ तथा १९)। गीता (४. १७) में कहा है, कि 'कर्मणो गहना गतिः' – कर्म की गति कठिन है। इतना ही नहीं; किन्तु कर्म का बन्धन भी बड़ा कठिन है। कर्म किसी से भी नहीं छूट सकता। वायु कर्म से ही चलती है; सूर्यचन्द्रादिक कर्म से ही घुमा करते हैं; और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सगुण देवता भी कर्मों में ही बँधे हुए हैं। इन्द्र आदिकों का क्या पूछना है? सगुण का अर्थ है नामरूपात्मक; और नामरूपात्मक का अर्थ है कर्म या कर्म का परिणाम। जब कि यही बतलाया नहीं जा सकता, कि मायात्मक कर्म आरम्भ में कैसे उत्पन्न हुआ; तब यह कैसे बतलाया जावे, कि तदङ्गभूत मनुष्य इस कर्मचक्र में पहले पहल कैसे फँस गया? परन्तु किसी भी रीति से क्यों न हो; जब वह एक बार कर्मबन्धन में पड़ चुका, तब फिर आगे चल कर उसकी एक नामरूपात्मक देह का नाश होने पर कर्म के परिणाम के कारण उसे इस सृष्टि में भिन्न भिन्न रूपों का मिलना कभी नहीं छूटता। क्योंकि आधुनिक आधिभौतिकशास्त्रकारों ने भी अब यह निश्चित किया है*, कि कर्मशक्ति का कभी भी नाश नहीं होता। किन्तु जो शक्ति आज किसी एक नामरूप से दीख पड़ती है, वही शक्ति उस नामरूप के नाश होने पर दूसरे नामरूप से प्रकट हो जाती है। और जब कि किसी एक नामरूप के नाश होने पर उसको भिन्न भिन्न नामरूप प्राप्त हुआ ही करते हैं, तब यह भी नहीं माना जा सकता, कि ये भिन्न भिन्न नामरूप निर्जीव ही होंगे; अथवा ये भिन्न प्रकार के हो ही नहीं सकते।

---

* यह बात नहीं, कि पुनर्जन्म की इस कल्पना को केवल हिन्दुधर्म ने या केवल आस्तिकवादियों ने ही माना हो। यद्यपि बौद्ध लोग आत्मा को नहीं मानते, तथापि वैदिक धर्म में वर्णित पुनर्जन्म की कल्पना को उन्होंने अपने धर्म में पूर्ण रीति से स्थान दिया है; और बीसवी शताब्दी में 'परमेश्वर मर गया' कहनेवाले पक्के निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निट्शे ने भी पुनर्जन्मवाद को स्वीकार किया है। उसने लिखा है, कि कर्म-शक्ति के जो हमेशा रूपान्तर हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं तथा काल अनन्त है। इसलिये कहना पड़ता है, कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर आगे यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते ही हैं; और इसी से कर्म का चक्र अर्थात् बन्धन केवल आधिभौतिक दृष्टि से ही सिद्ध हो जाता है। उसने यह भी लिखा है, कि यह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है! Nietzsche's *Eternal Recurrence* (Complete Works, Engl. Trans., Vol. XVI. pp. 235–256).

अध्यात्मदृष्टि से इस नामरूपात्मक परम्परा को ही जन्ममरण का चक्र या संसार कहते हैं। और इन नामरूपों की आधारभूत शक्ति को समष्टिरूप से ब्रह्म और व्यष्टिरूप से जीवात्मा कहा करते हैं। वस्तुतः देखने से यह विदित होगा, कि यह आत्मा न तो जन्म धारण करता है; और न मरता ही है। अर्थात् यह नित्य और स्थायी है। परन्तु कर्मबन्धन में पड़ जाने के कारण एक नामरूप के नाश हो जाने पर उसी को दूसरे नामरूपों का प्राप्त होना टल नहीं सकता। आज का कर्म कल भोगना पड़ता है; और कल का परसों। इतना ही नहीं; किन्तु इस जन्म में जो कुछ किया जाय, उसे अगले जन्म में भोगना पड़ता है। इस तरह यह भवचक्र सदैव चलता रहता है। मनुस्मृति तथा महाभारत (मनु. ४. १७३; म. भा. आ. ८०. ३) में तो कहा गया है, कि इन कर्मफलों को न केवल हमें, किन्तु कभी कभी हमारी नामरूपात्मक देह से उत्पन्न हुए हमारे लड़कों और नातियों तक को भी भोगना पड़ता है। शांतिपर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं:—

पापं कर्म कृतं किंचिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु॥

अर्थात् "हे राजा! चाहे किसी आदमी को उसके पापकर्मों का फल उस समय मिलता हुआ न दीख पड़े, तथापि वह उसे ही नहीं, किन्तु उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है" (१२९. २१)। हम लोग प्रत्यक्ष देखा करते हैं, कि कोई कोई रोग वंशपरम्परा से प्रचलित रहते हैं। इसी तरह कोई जन्म से ही दरिद्री होता है; और कोई वैभवपूर्ण राजकुल में उत्पन्न होता है। इन सब बातों की उपपत्ति केवल कर्मवाद से ही लगाई जा सकती है। और बहुतों का मत है, कि यही कर्मवाद की सचाई का प्रमाण है। कर्म का यह चक्र जब एक बार आरम्भ हो जाता है, तब उसे फिर परमेश्वर भी नहीं रोक सकता। यदि इस दृष्टि से देखें, कि सारी सृष्टि परमेश्वर की इच्छा से ही चल रही है; तो कहना होगा, कि कर्मफल का देनेवाला परमेश्वर से भिन्न कोई दूसरा नहीं हो सकता (वे. सू. ३. २. ३८; कौ. ३. ८)। और इसीलिये भगवान् ने कहा है, कि "लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" (गी. ७. २२) – मैं जिसका निश्चय कर दिया करता हूँ, वही इच्छित फल मनुष्य को मिलता है। परन्तु कर्मफल को निश्चित कर देने का काम यद्यपि ईश्वर का है, तथापि वेदान्तशास्त्र का यह सिद्धान्त है, कि वे फल हर एक के खरेखोटे कर्मों की अर्थात् कर्म-अकर्म की योग्यता के अनुरूप ही निश्चित किये जाते हैं। इसीलिये परमेश्वर इस सम्बन्ध में वस्तुतः उदासीन ही है। अर्थात् यदि मनुष्यों में भले-बुरे का भेद हो जाता है, तो उसके लिये परमे-